IAS 100

A Civil Services Chronicle Initiative

पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण

Civil Services CHRONICLE

24yrs. of Guiding Success

Add : D-108, Sec-2, Noida (U.P.), Pin - 201 301
Email id : helpdesk@campus100.in
Call : 09582948810, 09953007628, 0120-2440265

अनुक्रमणिका

1. जैव विविधता 2
2. प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण 15
3. ऊर्जा एवं पर्यावरण 21
4. पर्यावरणीय संकट और प्रबन्धन 28
5. प्राकृतिक आपदाएं 34
6. जलवायु संबंधी परिवर्तन 46
7. वैश्विक ताप वृद्धि 52
8. वन एवं पर्यावरण 63
9. वन वानिकी और मानव 69
10. प्रदूषण 77
11. भूमि अपकर्ष 91
12. जल संसाधन 96

❖❖❖

CHRONICLE IAS ACADEMY

1 जैव विविधता

जैव विविधता के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के पौधे, प्राणी तथा सूक्ष्मजीव आते हैं। इसके अंतर्गत इनके जीन तथा इनके द्वारा निर्मित पारिस्थितिकी समाहित हैं। इसका संबंध नितांत रूप से गतिक प्रक्रियाओं से है। जीन विविधता से जैव विविधता में वृद्धि होती है तथा जीन विविधता में कमी होने से जैव विविधता कमजोर होती है। अत: इस अवधारणा में जैव जगत के अंत: संबंध तथा इसकी प्रक्रिया पर जोर दिया जाता है। जैव विविधता के कारण प्रकृति और जैविक स्रोतों से प्राणी को जीवन आधार मिलता है, जो कि धारणीय विकास के लिए आवश्यक है।

भारत विशेष रूप से जैव विविधता से परिपूर्ण देश है और यह विश्व के 12 बड़े जैव विविधता केंद्रों में से एक है। इसमें 10 जैव भौगोलिक क्षेत्र तथा 25 जैव प्रांत हैं। इसमें सभी प्रकार के पारिस्थितिकी हैं। पश्चिमी घाट, पूर्वी घाट तथा उत्तर-पूर्व की पहाड़ियां मुख्य रूप से जैव विविधता से परिपूर्ण क्षेत्र हैं। आकलन के अनुसार देश में 45000 पादप प्रजातियां तथा 81000 जंतु प्रजातियां हैं। यह विश्व की पादप प्रजाति का 7 प्रतिशत तथा जंतु प्रजाति का 6.5 प्रतिशत हैं। इनमें से 33 प्रतिशत पादप प्रजातियां तथा 62 प्रतिशत जंतु प्रजातियां लुप्तप्राय हैं।

जीव विज्ञानी ई.ओ. विल्सन के अनुसार वनों की कटाई से प्रतिवर्ष 50,000 अर्थात प्रतिदिन 140 बिना रीढ़ वाले जीवों की प्रजातियां विलुप्त हो रही है। पौध एवं जैव-विविधता के लिहाज से भूमध्य सागर क्षेत्र, चीन, भारत, म्यांमार, दक्षिण-पूर्व एशिया, पश्चिम एशिया, इथोपिया, मध्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका बहुत ही समृद्ध हैं।

'संयुक्त राष्ट्र खाद्य तथा कृषि संगठन' ने चेतावनी दी है कि जहां 20 वीं सदी के दौरान फसलों की करीब 50,000 किस्में लुप्त हुई, वहीं विश्व के कुल खाद्य तथा कृषि मूल्य में 30 प्रतिशत का योगदान करने वाले मवेशियों में से 25 प्रतिशत अर्थात् 4 हजार नस्लें हर साल समाप्त होती जा रही हैं।

जैव विविधता के प्रकार

प्रकृति के संरक्षण से तात्पर्य विकास के दुष्प्रभाव से प्रकृति की सुरक्षा है जबकि जैव विविधता संरक्षण से तात्पर्य कृषित/पालित पादप/जंतु के जीन विविधता का संरक्षण है। जैव विविधता के तीन स्तर हैं तथापि उनके बीच में संबंध हैं।

जीन विविधता: इसका संबंध एक प्रजाति के बीच विभिन्न प्रकार के जीन की उपस्थिति से है। यह विविधता एक प्रजाति के विभिन्न जनसंख्या वर्गों के बीच तथा एक जनसंख्या वर्ग के बीच होती है। यह अनुमान है कि विश्व की विभिन्न जैव समूह में 109 प्रकार के जीन हैं। जीन विविधता के कारण विभिन्न जीवों तथा परिस्थितिक तंत्रों को समायोजन एवं परिवर्तन की क्षमता प्राप्त होती है।

प्रजाति विविधता: जीव जगत की विविधता प्रजाति विविधता है। इस विविधता के सूचकांक का मापन किसी खास क्षेत्र में विभिन्न प्रजातियों की उपस्थिति, प्रजातियों की संख्या तथा प्रजातियों के बीच संबंध के आधार पर किया जाता है। विषुवतरेखीय प्रदेशों में प्रजातियों की विविधता अधिक है। प्रजातियों की विविधता से जीव समुदाय सही रूप से जीवन यापन करता है तथा विभिन्न डी.एन.ए. एनकोडेड एंजाइम से जीव सही प्रकार से कार्य करता है।

पारिस्थितिकी विविधता: इसके अंतर्गत निवास स्थल की विविधता और प्रत्येक पारिस्थितिकी में व्याप्त पारिस्थितिकी प्रक्रियाओं सहित कई प्रकार की विविधताओं का समावेश है। प्रत्येक तंत्र के अपने ऊर्जा प्रवाह और जल तंत्र हैं। सभी प्रकार की जैव विविधता के आकलन में ये तत्व परिलक्षित होते हैं।

संरक्षण की आवश्यकता

मानवीय गतिविधियों के कारण प्राकृतिक निवास स्थान खतरे में हैं। विलुप्तप्राय प्राणियों की वास्तविक संख्या का आकलन कठिन है क्योंकि वनों का सतत विनाश हो रहा है। अतएव शेष पारिस्थितिकी को अध्ययन एवं संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। जैव विविधता के महत्वपूर्ण अवयवों को उचित महत्व देने से संरक्षण संभव है। इसके कई अप्रत्यक्ष लाभ हैं। यथा पारिस्थितिकी सेवाएं, जैव संसाधनों का संरक्षण तथा सामाजिक लाभ।

जल संसाधन का संरक्षण: जल के अपवाह क्षेत्र में वनों की उपस्थिति से जलचक्र के अनुरक्षण के साथ-साथ जल-प्रवाह का नियंत्रण एवं नियमन होता रहता है। यह बाढ़ एवं सूखे के बीच संतुलन बनाये रखता हैं इससे भूमिगत जल स्तर बना रहता है और सूखे की स्थिति नहीं आती है। भूमिगत जल स्तर के कम होने का असर प्राकृतिक निवास-स्थल पर पड़ता है। विगत 25 वर्षों में पूर्वी तट में जल स्तर में 30 फुट की कमी हुई है, जिससे यह क्षेत्र सतत बाढ़ तथा सूखे की चपेट में आता रहा है।

मिट्टी-निर्माण तथा संरक्षण: जैव विविधता के कारण मिट्टी की संरचना सुरक्षित रहती है तथा मिट्टी में आर्द्रता और पोषक तत्व धारण करने की क्षमता बनी रहती है। पारिस्थितिकी संरक्षण के धारणीय प्रयास के अभाव में मिट्टी का अपरदन होता है। मिट्टी के खारेपन, पोषक तत्वों का क्षय तथा ऊपरी परत के नष्ट होने से मिट्टी की उत्पादकता प्रभावित होती है। मिट्टी के निर्माण में पेड़-पौधे सहायक होते हैं। पेड़ों की जड़ के माध्यम से पानी तथा पोषक तत्व मिट्टी में गहराई तक जाते हैं। जैव पदार्थों द्वारा तैयार उत्सर्जी पदार्थों से सूक्ष्म जैविक गतिविधियां बढ़ती हैं।

(पोषक तत्वों की उपलब्धता (प्रतिशत में)

पोषक तत्व	गोबर खाद	नेडेप खाद	गोबर गैस खाद	वर्मी खाद
नाइट्रोजन	0.4-1.0	0.5-1.5	1.8-2.5	2.0-3.0
फास्फोरस	0.4-0.8	0.5-0.9	1.0-1.2	1.5-2.9
पोटैशियम	0.8-1.2	1.2-1.4	0.6-1.8	1.4-2.0

पोषक तत्व भंडारण तथा चक्रण: पारिस्थितिकी के संरक्षण के लिए पोषक तत्वों का चक्रण आवश्यक है। जैव गतिविधि इसके लिए आवश्यक हैं। जैव पदार्थों के सड़ने से मिट्टी में पोषक तत्व बढ़ते हैं। नाइट्रेट बैक्टीरिया तथा नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया के कार्य अलग होने के कारण सूक्ष्म जीवों में विविधता भी आवश्यक है।

वर्मीकल्चर विधि से खाद बनाने के लिए केचुओं का प्रयोग किया जाता है। खाद बनाने में केचुओं का प्रयोग एक क्रांतिकारी कदम है, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम 1970 में कनाडा में किया गया। वर्तमान विश्व में केचुओं की लगभग 7000 प्रजातियां पायी जाती हैं जिनमें से भारत में 400 प्रजातियां पायी जाती है।

'फर्टिलाइजर एसोसिएशन ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट के अनुसार- केचुएं न केवल भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं बल्कि वे डी.डी.टी. एवं अन्य कीटनाशकों के प्रभाव को भी कम करते हैं। प्रयोगों में पाया गया है

CHRONICLE IAS ACADEMY

कि केंचुए के मल में सामान्य मिट्टी की अपेक्षा 3 गुना चूना, 3 गुना मैग्नीशियम, 5 गुना नाइट्रोजन, 11 गुना पोटैशियम और साढ़े सात गुना फास्फोरस पाया जाता है।

प्रदूषण, विनाश और अवशोषण: नालियां, कूड़े तथा तेल इत्यादि प्रदूषक पदार्थ पर्यावरण के संतुलन के लिए खतरनाक हैं। पारिस्थितिकी के विभिन्न घटक विघटित होकर इन प्रदूषक पदार्थों के साथ मिल जाते हैं। भूमि में प्रदूषक पदार्थ मिलने से जैव विविधता प्रभावित होती है। पर्यावरणीय प्रदूषक पदार्थ अपने स्रोत से दूर अवस्थित क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं। अम्ल वर्षा अपने उत्पति स्रोत से दूर-दराज के क्षेत्र को प्रभावित करता है। जल में डी.डी.टी. के विनाशकारी स्तर का दुष्प्रभाव आर्कटिक और अंटार्कटिक क्षेत्रों में भी देखा गया है।

जलवायु स्थिरता: वन सूक्ष्म तथा व्यापक स्तर पर जलवायु को प्रभावित करते हैं। वनों के कारण जल वाष्पित होकर वर्षा में परिणत होता है और जलचक्र चलता रहता है। वातावरण में CO_2 की मात्रा में वृद्धि होने से तापमान में वृद्धि होती है। बढ़ती जनसंख्या के कारण मानवीय गतिविधियों की वजह से वन विनाश हो रहा है। सिर्फ पेड़-पौधे ही CO_2 का अवशोषण कर सकते हैं तथा इससे CO_2- O_2 संतुलन कायम रह सकता है। भारतीय विज्ञान संस्थान के कई शोधार्थियों ने स्पष्ट किया है कि ग्रीन हाऊस गैसों के प्रभाव से होने वाली वैश्विक ताप वृद्धि के कारण पश्चिमी घाट की वनस्पतियों में परिवर्तन आ सकता है।

संसाधनों का संरक्षण: जंतु और वनस्पति जगत में संतुलन से जीवन अस्तित्व कायम रहता है तथा जीव जगत और उनकी आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाये रखा जा सकता है। अतएव वनस्पति के संरक्षण से जल-चक्र दुरुस्त रखने के साथ-साथ CO_2—O_2 संतुलन भी कायम रखा जा सकता है। जीवन-चक्र इतना जटिल है कि इसके एक पक्ष प्रभावित होने से अन्य अवयव भी प्रभावित होते हैं।

जैव संसाधन

खाद्य पदार्थ: मानव भोजन के लिए वनस्पति पर निर्भर रहता है। वन के संरक्षण के माध्यम से ही वैश्विक खाद्य सामग्री तथा पोषक तत्वों की आपूर्ति संभव है। खाद्य सामग्री के उत्पादन में विविधता से मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

औषधि: आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली पूर्णत: वनस्पति आधारित है। विविध प्रकार की वनस्पतियों का चिकित्सीय महत्व है। वनस्पति उत्पाद कुनैन, सिनकोना, टैलोरिबाइन से लेकर वाइन टैफ्लोराना (रक्त कैंसर की चिकित्सा के लिए) तक

हिरन प्रजाति की उप प्रजातियां और जातियां

हिरन

उपजाति कुरंग (**Antelope**)		उप प्रजाति मृग (**Deer**)	
जातियां	निवास	जातियां	निवास
नील गाय	सुदूर पूर्वी और दक्षिणी भारत के अतिरिक्त शेष भागों में हर जगह	सांभर	कुछ अभ्यारण्यों में सीमित
श्याम कुरंग	गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान	बारह सिंघा	हिमालयी पादगिरी तथा असम के दलदली जंगलों और मध्य प्रदेश के कान्हा अभयारण्य में
चिंकारा	राजस्थान, यू.पी. तथा दक्षिण पठार के निर्जल झाड़ी युक्त जंगलों में	हंगुल या कश्मीरी मृग	कश्मीर के डाचीगाम अभयारण्य में तथा निकटवर्ती घाटियों में
चौसिंघा	सुदूर दक्षिण के अतिरिक्त सभी पहाड़ी व घासीय जंगलों में	थामिन	केवल मणिपुर के लमजाओ दलदल के निकट
बकरी कुरंग	हिमालय की ढलानों पर	चीतल	घासीय जंगलों में
--	--	भौंकन मृग में	पादगिरि जंगलों
--	--	कस्तूरी मृग	हिमालय की उंची ढलानों पर, अब संकटग्रस्त

सोन चिरैया : लुप्त होने के कगार पर

मैदानी तथा पठारी इलाकों में पायी जानेवाली सोन चिरैया नामक पक्षी इस समय लुप्त होती जा रही है। शिकारियों ने इसका सबसे अधिक विनाश किया है, विशेष रूप से मांस, पंख तथा रोमांच के लिए। इसके मांस की तासीर गर्म होती है जिसके कारण मांसाहारी लोग इसे बेहद पसंद करते हैं।

ज्यादातर भूमि में खेती किए जाने से सोन चिरैया के आवास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और इसकी प्रजनन क्षमता प्रभावित हुई है। इसकी संख्या में लगातार कमी आती जा रही है और वर्तमान में लगभग एक हजार पांच सौ सोन चिरैया होने की बात सामने आई है। इसे देखते हुए पर्यावरण से संबंधित संगठनों ने उचित पहल करने का फैसला किया है।

सोन चिरैया मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश के जिन अभयारण्यों में संरक्षित है, कुल मिलाकर वह पूरा इलाका मैदानी एवं पठारी होने के साथ-साथ झरबेरियों से भरा है। यह चिड़िया झरबेरी में उथला-सा प्यालेनुमा गड्ढा बनाकर उसमें अंडा देती है। जहां तक आहार की बात है, तो सोन चिरैया को कीड़े-मकोड़े, छिपकली, अनाज के दाने, अंकुरित बीज आदि विशेष पसंद है।

हैं। अतएव चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी पदार्थों की खोज के लिए प्रकृति के कुछ क्षेत्रों के साथ छेड़-छाड़ नहीं करनी चाहिए। केरल के साइलेंट वैली का संरक्षण इसके चिकित्सीय महत्व के कारण किया गया है।

प्रदूषण नियंत्रण : प्रकृति कई जैव प्रणालियों को सहयोग देती है। कई में हैं। यदि कच्छ एवं दलदल वनस्पतियों को नष्ट कर दिया जायें तो इनमें रहने वाले कई प्राणियों का अस्तित्व ही विलुप्त हो जायेगा। भारत में सुंदरवन संरक्षित है। यह कई प्रकार की मछलियों, केंकड़ों, वनस्पतियों और जंतुओं का स्रोत हैं।

उद्यान कृषि और लकड़ी की आवश्यकता: नयी प्रजातियों तथा सजावट की प्रजातियों के विकास के लिए जैव विविधता का संरक्षण आवश्यक है। लकड़ी एक महत्वपूर्ण सामग्री है तथा इसे वन से प्राप्त किया जाता है। लकड़ी उद्योग हमारी आधुनिक अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण अंश है। इससे प्राप्त लकड़ी का उपयोग जलावन के अतिरिक्त कई कार्यों में किया जाता है। अतएव विभिन्न आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु जैव-विविधता का संरक्षण आवश्यक है।

सामाजिक लाभ

प्रकृति, अध्ययन के लिए सर्वोत्तम प्रयोगशाला है। प्राकृतिक पर्यावरण की नकल पर पर्यावरण तैयार करना असंभव है। प्रकृति और इसकी अभिन्न जैव विविधता के संसर्ग में ही व्यापक शोध कार्य किया जा सकता है। अविस्थापित प्राणियों की मदद से प्रबंधन कौशल जानने की कोशिश करते हैं।

ऑपरेशन कच्छप प्रोजेक्ट

उड़ीसा के समुद्री तट पर ऑपरेशन कच्छप प्रोजेक्ट चलाया जा रहा है। श्री विश्वजीत मोहंती इसके समन्वयक हैं। परंतु प्रतिकूल परिस्थिति के कारण यहां पर कछुओं का अंडा देना सुरक्षित नहीं रह गया है। इस समय उड़ीसा पर दो लाख से अधिक ओलिव रिडले कछुए आ चुके हैं। गहिरमाथा और रूसिकुल्या के बीच कछुओं की मौजूदगी पर्यटकों को लुभाती है। परंतु बालू के तट काफी सिकुड़ जाने पर कछुओं का अंडा देना मुश्किल हो गया है। इसके अलावा समुद्र तट पर घास की कमी भी कछुओं के लिए मुसीबत बन सकती है।

कछुए पहचानते हैं चुंबकीय क्षेत्र को

कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने कछुए पर शोध करने के बाद उसके कुछ खास गुणों का रहस्योद्घाटन किया है। कछुओं में पृथ्वी के चुंबकीय गुण को समझने और उनके बारीक अंतर को परखने की खास क्षमता होती है। इस गुण के सहारे ये न केवल अपनी सही स्थिति का पता लगा सकते हैं, बल्कि सटीक और सबसे सही रास्ता समझने में भी सफल रहते हैं।

प्रत्येक पशु-पक्षी में किसी न किसी तरह के विशेष गुण होते हैं। कछुआ समुद्र में 8000 मील से भी ज्यादा लंबा चक्कर लगाकर वापस उसी स्थान पर आसानी से पहुंच जाता है। इस यात्रा में तमाम चक्रवात, भंवर और उल्टे-सीधे रास्ते भी मिलते हैं। अध्ययन में पाया गया कि अमेरिका के फ्लोरिडा तट से चलने वाला कछुआ अटलांटिक महासागर की लंबी यात्रा करने के बाद वापस उसी तट पर आसानी से पहुंच जाता है।

अपनी यात्रा के क्रम में कछुआ अमेरिकी तट से घड़ी की सुई की दिशा में चलता हुआ अटलांटिक महासागर के उत्तर में पहुंचता है। इसके बाद दक्षिणी भाग में पहुंच कर स्पेन और अफ्रीका के तटों की यात्रा भी करता है। अंतिम पड़ाव में कछुआ पश्चिम की तरफ मुड़कर अपना सफर पूरा कर लेता है। अपनी यात्रा के दौरान यह सालों तक पानी में रहता है, पर बिल्कुल ही नहीं भूलता कि वह कहां से चला था।

मनोरंजन: जैव विविधता के कारण प्राकृतिक निवास स्थानों का सौन्दर्य सुरक्षित रहता है। वन के दो भाग सभी अर्थों में एक जैसे नहीं हो सकते। अनंतकाल से प्रकृति मानव की मनोरंजक गतिविधियों को पोषित करती रही है। प्रकृति देन तथा जैव विविधता के कारण आज भारत विश्व में पर्यटन को लिए आकर्षक स्थल बना हुआ है।

सांस्कृतिक महत्व: प्रकृति के संसर्ग में मानव संस्कृति के विकास के कई साक्ष्य मौजूद हैं। मानव की सांस्कृतिक पहचान के लिए जैव विविधता का संरक्षण आवश्यक है। प्रकृति ने हमेशा मानव को प्रेरित करने के साथ-साथ इसकी सौन्दर्यमूलक और शैक्षिक आवश्यकताओं की आपूर्ति की है। प्रकृति ने हमारा भावात्मक और बौद्धिक उत्थान किया है। लेकिन जैव विविधता के संरक्षण की दिशा में मुख्य बाधाएं निम्नलिखित हैं:

- जैव संसाधनों के महत्व का सही आकलन नहीं किया गया है।
- प्रभावशाली व्यापारी और उत्पादक, प्रकृति का अविवेकपूर्ण दोहन करते हैं तथा इसके संसर्ग में रहने वाले लोगों को विपन्न दशा में रहने को बाध्य करते हैं।
- कई प्रजातियों तथा पारिस्थितिकी के विषय में हमारी जानकारी सीमित है।
- संरक्षण गतिविधियों पर कम ध्यान दिया जाता है।

जैव विविधता को खतरे

जैसा कि गांधीजी ने एक बार कहा था- प्रकृति के पास हमारी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पर्याप्त साधन हैं किंतु हमें यह संतुष्ट करने में यह अक्षम है। इस पक्ष को ठीक तरह से न समझने के कारण जैव विविधता को खतरा पहुंचा है। पर्यावरण संरक्षण के समग्र दृष्टि का अभाव रहा है। जीन विविधता में कमी के कारण कृषि वन और पशुओं की उत्पादकता प्रभावित हुई है। जैव विविधता के क्षरण के मुख्य कारक निम्नलिखित हैं:

अतिदोहन: कई प्राणियों की अविवेकपूर्ण हत्या से उनका अस्तित्व संकट में पड़ गया है। केरल के पेरियार अभ्यारण्य में एक भी हाथी का न होना इस तथ्य की पुष्टि करता है। दांत, बाल, त्वचा तथा सींग के लिए प्रणियों की हत्या की जाती है।

प्राकृतिक निवास स्थल का विनाश: प्रजनन स्थल के नष्ट होने से कई प्राणियों का जीवन नष्ट हो सकता है। भरतपुर के केवलादेव राष्ट्रीय पक्षी अभ्यारण्य में सन् 1982 से भैंसों के चरने पर पाबंदी लगाने से जल क्षेत्र में घास बढ़ गए हैं। इससे जल प्राणियों का निवास स्थल नष्ट होने के कगार पर हैं। पैसपेलम डिस्टिकथम नामक घास के अत्यधिक बढ़ने से साइबेरियाई सारस, हैरोन तथा जल मुर्गी के विचरण में कमी आयी है। प्राकृतिक निवास स्थल के छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटने के कई कारण हो सकते हैं। इसमें वनों की कटाई और प्रदूषण प्रमुख हैं।

वनों की कटाई: विशाल क्षेत्र की विनिर्माण तथा कृषि कार्य के उद्देश्य से कटाई की गयी है, जिससे इसमें रहने वाले प्राणी आश्रयविहीन हो गये हैं। बांध के निर्माण के कारण नदी और उसकी पारिस्थितिकी का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। तटीय क्षेत्रों के विकास के कारण उसकी पारिस्थितिकी पर दुष्प्रभाव पड़ा है। झूम की खेती से उत्तर-पूर्व के वनों का व्यापक विनाश हुआ है। पहले झूम चक्र की जीवन अवधि 25 से 50 वर्ष की होती थी किंतु अब यह अवधि 5 से 8 वर्ष की हो गयी है। इससे वनों का विनाश होता है। सिर्फ नागालैंड में प्रति वर्ष 4.4 लाख उपजाऊ मिट्टी झूम कृषि से नष्ट होती है। उत्तर-पूर्व में 300 वर्ग किमी. वन क्षेत्र नष्ट हुआ है जबकि संपूर्ण भारत में 5482 वर्ग किमी. वन क्षेत्र नष्ट हो गया हैं।

भूमि प्रदूषण: प्रदूषण का पारिस्थितिकी पर दुष्प्रभाव पड़ता है और संवेदनशील प्रजातियां नष्ट हो जाती हैं। ब्रिटेन में कीटनाशक के अत्यधिक प्रयोग के कारण करैल (बार्न ऑल) की संख्या पर असर पड़ा है। जैव आवर्द्धन की

प्रक्रिया द्वारा विषैले कीटनाशक आर्कटिक और अंटार्कटिक प्राणियों के शरीर में भी पहुंच चुके हैं। सन् 1997 में विश्व दाय स्थल के रूप में घोषित 6017 वर्ग किमी. क्षेत्रफल वाला सुंदर वन भी प्रदूषण के संकट से जूझ रहा है। इसकी हजारों एकड़ भूमि बंजर हो गयी है। इसकी मिट्टी में अवस्थित सूक्ष्म वनस्पति और प्राणी भी प्रदूषण की चपेट में हैं, क्योंकि उद्योगों के द्वारा व्यापक मात्रा में विनाशकारी रसायन इसमें उढ़ेल दिए जाते हैं।

भारत में बाघों के लिये आरक्षित वन क्षेत्र

वन क्षेत्र	राज्य	आरक्षित वन का क्षेत्रफल (वर्ग कि.मी.)
मानस	असम	2840
काँजीरंगा	असम	859
नामेरी	असम	344
नागार्जुन सागर	आंध्र प्रदेश	3568
नामदफा	अरुणाचल प्रदेश	1985
पकुई	अरुणाचल प्रदेश	862
वाल्मीकी	बिहार	840
इन्द्रावती	छत्तीसगढ़	2799
उंदंती–सितनडडी	छत्तीसगढ़	1580
अचानकमार	छत्तीसगढ़	963
पलामू	झारखण्ड	1026
पेरियार	केरल	925
पैराम्बिकुलम	केरल	391
बाँदीपुर	कर्नाटक	866
भद्रा	कर्नाटक	492
दंदेली अंशी	कर्नाटक	875
नागरहोल	कर्नाटक	643
तादोबा–अंधेरी	महाराष्ट्र	620
पेंच	महाराष्ट्र	257
मेलघाट	महाराष्ट्र	1677
सह्याद्रि	महाराष्ट्र	569
बाँधवगढ़	मध्य प्रदेश	1162
कान्हा	मध्य प्रदेश	1945
सतपुड़ा	मध्य प्रदेश	1486
पन्ना	मध्य प्रदेश	542
संजय–दुबरी	मध्य प्रदेश	831
पेंच	मध्य प्रदेश	758
दंपा	मिजोरम	500
सतकोसिया	उड़ीसा	988
सिमलीपाल	उड़ीसा	2750
रणथम्भौर	राजस्थान	1334
सरिस्का	राजस्थान	866
कलाकड मुंडनथुरई	तमिलनाडु	800
मुदुमुलाई	तमिलनाडु	321
अन्नामलाई	तमिलनाडु	1019
कॉर्बेट	उत्तराखण्ड	1316
दुधवा	उत्तर प्रदेश	811
बुक्सा	पश्चिम बंगाल	759
सुन्दरबन	पश्चिम बंगाल	2585

वैश्विक जलवायु परिवर्तन: इस शताब्दी में वैश्विक तापवृद्धि के कारण समुद्र के जल स्तर में 1–2 मीटर वृद्धि होने की संभावना है। उस समय के भारत के मानचित्र का पूर्वानुमान लगाना कठिन है क्योंकि तटवर्तीय क्षेत्र और द्वीप तब तक जलमग्न हो जायेंगे। नयी प्रजातियों के आगमन से पुरानी प्रजातियां नष्ट हो सकती हैं। इसमें परभक्षी के अभाव में बढ़ोतरी हो सकती है और स्वाभाविक रूप से निवास करने वाले प्राणियों की संख्या में कमी आ जाती है। इसके फलस्वरूप मूल रूप से निवास करने वाले प्राणी लुप्तप्राय हो जाते हैं।

जैव विविधता नष्ट होने के परिणाम

प्राणियों के लुप्त होने की घटनाएं निर्बाध रूप से घटित हो रही हैं। प्रजातियां लुप्त हो जाती हैं और इसका पता भी नहीं चलता है। जब वर्षों तक किसी प्रजाति को नहीं देखा जाता है, तो उसे लुप्त मान लिया जाता है। भारतीय प्राणि विज्ञान सर्वेक्षण के अनुसार विगत दशक में चीता, गुलाबी सिर वाला बतख तथा पहाड़ी मोर लुप्तप्राय हो गए हैं और भूरा हिरण, दूढ़लोमी खरगोश इत्यादि संकटग्रस्त प्राणियों की श्रेणी में आ गये हैं। वनस्पति जगत का भी कुछ ऐसा ही हाल है।

जीन विविधता का नाश: इससे कृषि पर दुष्प्रभाव पड़ता है। उत्पादकों के बीच संकट प्रजाति की लोकप्रियता के कारण उसकी वैकल्पिक वन्य प्रजातियों की अनदेखी की जाती है। फलस्वरूप वे वन्य प्रजातियां अंततः नष्ट हो जाती हैं। धान की कुछ प्रजातियों को विषाणुओं से खतरा है। जब ये बीमारियां महामारी का रूप लेती हैं, तो प्रतिरोधक जीन वाली प्रजातियों की खोज की जाती हैं। सिर्फ उत्तर प्रदेश की वायजीनिवाश नामक प्रजाति में प्रतिरोधक जीन है। इससे जीन संसाधन के संरक्षण के महत्व पर प्रकाश पड़ता हैं। विश्व में ऐसी 492 वन्य प्रजातियां लुप्तप्राय हैं।

सांस्कृतिक वैविध्य का विनाश: जीन और परिस्थितिकी विविधता के नाश से सांस्कृतिक वैविध्य विनष्ट होता है। नयी प्रणाली अपनाने तथा तदजन्य तनाव के कारण धर्म, पुराण तथा लोक कथाओं में वर्णित कई वन्य प्रजातियां नष्ट हो जाती हैं। प्राकृतिक निवास-स्थल नष्ट होने के कारण उच्च अक्षांशों में दीर्घकालीन गर्भावस्था वाले वड़े प्राणियों के नष्ट होने के खतरे बढ़ जाते हैं। निवास स्थान में परिवर्तन होने से व्यापक स्तर पर लुप्तप्राय जन्तु विनष्ट हो जाते हैं। ग्रेट आर्क और स्टेलर समुद्री गाय इसके उदाहरण हैं। अल्प जनसंख्या वाले जन्तु चाहे उच्च अक्षांश में हों अथवा निम्न अक्षांश

झींगुर : 17 साल का इंतजार के बाद जिंदगी

झींगुर दुनिया का सबसे अधिक आयु वाला कीड़ा है, लेकिन इसका जीवन चक्र बड़ा ही अजीबोगरीब होता है। इसकी करीब एक हजार प्रजातियां पाई जाती हैं। पेड़ की शाखा पर अंडे से निकलने के बाद झींगुर जमीन पर गिर जाता है। इसके बाद वह जमीन खोदकर अंदर चला जाता है। बिना हिले-डुले वह वहां करीब 17 साल तक जड़ों को चूसता रहता है। इतने लंबे इंतजार के बाद वह प्रकाश की ओर खिंचा चला आता है।

जमीन से बाहर आने पर झींगुर पेड़ के तने पर चढ़ जाता है। तब उसकी त्वचा फट जाती है। उसमें से निकलता है एक वयस्क झींगुर। सूरज की रोशनी में यह झींगुर लगभग पांच हफ्ते की खुशहाल जिंदगी व्यतीत करता है। इस छोटी-सी जिंदगी को वह नये झींगुर पैदा करने के लिए मादा झींगुर के साथ प्रेमालाप में खर्च कर देता है।

नर झींगुर रात में अपनी प्रेयसी को आकर्षित कर उसे अपने पास बुलाने के लिए खनकती आवाज निकलने में माहिर होता है। यह आवाज उसके पेट के निचले भाग में बनी ड्रम जैसी प्लैट्स से निकलती है और उसकी मांसपेशियां उन्हें लगातार स्पंदित किए रहती हैं। इस काम को करने में वह कभी थकता नहीं है। पांच सप्ताह पूरे होने के बाद झींगुर अपने आप मर जाता है।

में, निवास स्थान में परिवर्तन होने से नष्ट हो जाते हैं। बड़े जंतु जिन्हें अधिक खाद्य सामग्री की आवश्यकता है तथा निवास के लिए अधिक जगह चाहिए और इसके साथ-साथ, जिनमें प्रजनन दर कम है उन सभी के लुप्त होने का खतरा बढ़ जाता है।

पारिस्थितिकी एक जटिल तंत्र है: पारिस्थितिकी तंत्र में एक प्राणी के लुप्त होने का असर अन्य प्राणियों पर भी पड़ता है। इसका व्यापक असर तब परिलक्षित होता है, जब स्थानीय स्तर पर एक प्रजाति के नष्ट हाने का प्रभाव दूसरी प्रजातियों की संख्या पर पड़ता है। जिस प्रजाति की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का असर दूसरी प्रजातियों पर पड़ता है, उसे मुख्य प्रजाति कहते हैं। एक प्रमुख परभक्षी अपने शिकार प्रजाति की संख्या को नियंत्रित करता है। अत: दोनों का सह अस्तित्व आवश्यक है। प्रमुख प्रजाति को सभी पारिस्थितिक तंत्रों में समान महत्व प्राप्त नहीं है। जो प्रजाति एक पारिस्थितिकी में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है वह दूसरी पारिस्थितिकी में शायद उतनी असरदार भूमिका न अदा कर सके। प्रमुख प्रजाति की पहचान किसी संरक्षण प्रयास से पूर्व की जानी आवश्यक है।

जैव-विविधता : खाद्य सुरक्षा के लिए आवश्यक

यदि वर्तमान में पादप जीन उन्मूलन की दर कायम रहती है।यह अनुमान किया जाता है कि वर्ष 2025 तक दुनिया की एक चौथाई वन्य प्रजातियां विनष्ट हो जायेंगीं। इन प्रजातियों का संरक्षण एकीकृत खाद्य सुरक्षा के लिए आवश्यक है। यह निर्विवाद सत्य है कि जैव विविधता का संरक्षण खाद्य सुरक्षा तथा उत्पादन के लिए आवश्यक है। केंद्रीकृत जीन प्रसंस्करण तथा उत्पाद चयन के कारण जीन विविधता पर असर पड़ा है। जीन विविधता नष्ट होने से कीटनाशकों का प्रयोग बढ़ जायेगा और इससे मिट्टी की उर्वरा-शक्ति नष्ट होने से फसल पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा।

भारत के प्रमुख हाथी संरक्षित क्षेत्र
1. पेरियार अभयारण्य, केरल
2. मानस अभयारण्य, असम
3. काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान, असम
4. टीरू देवमाली क्षेत्र, अरुणाचल प्रदेश व असम
5. कर्बी राष्ट्रीय उद्यान, नागालैण्ड
6. राजाजी राष्ट्रीय उद्यान, उत्तरांचल
7. कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान, उत्तरांचल
8. अन्नामलाई एवं पराम्बिकुलम तमिलनाडु एवं केरल अभयारण्य

किसान सिर्फ उन्हीं पौधों की खेती करना चाहते हैं, जिनका उपलब्ध वातावरण में सहजता से उत्पादन किया जा सके। कृषि पौध के 2000 उत्पादों में अब सिर्फ दर्जन भर उत्पाद से दुनिया की अधिकांश जनसंख्या का भरण-पोषण किया जाता है। इन प्रमुख खाद्यान्नों में अनाज में जौ, मक्का, मसूर, चावल, गेहूं इत्यादि जड़ वाले पौधों में कसावा, आलू, दलहन, केला और गन्ना इत्यादि हैं। वानिकी के अंतर्गत भी प्रजातियों की संख्या में कमी आयी है। 50000 वृक्ष प्रजातियों में यूकिलिप्टस प्रभृत थोड़ी प्रजातियां ही प्राय: उपयोग में हैं। मार्च 2002 में भारत सरकार ने पहली बार तीन बी.टी. कपास हाइब्रिड के आम इस्तेमाल की अनुमति दी है। इनमें सीआरवाई/3-सी जीन है।

पशुपालन की भी यही दशा है। दुनिया की 35000 स्तनधारियों तथा 9000 पक्षियों तथा कई प्रजातियों में सिर्फ गाय, भैंस, भेड़, सूअर, बकरी तथा मुर्गे ही अधिक उपयोग में हैं। किसान सिर्फ उसी पशु का चयन करते हैं, जिससे उसे अधिक लाभ प्राप्त होता है। मुर्गे सफेद कौरनिस तथा सफेद प्लेमाऊथ की संकर प्रजातियां हैं। भारत में उत्पादन किये जाने वाले अधिकांश की धान प्रजातियां डीज्यु वेगन के वंशज हैं।

विश्व में प्रमुख फसल नष्ट होने की घटनाओं में सन् 1943 में भारत के पूर्वांचल में गेहूं की फसल नष्ट हुई, जिसके कारण भयंकर अकाल पड़ा था। सन् 1973 में पहली बार जायरे में कसावा नामक कीट पाया गया और दस वर्ष के अंदर ही यह उप-प्रदेशों में फैल गया। सन् 1982 तक इसके कारण अफ्रीका देशों में 60 प्रतिशत फसल उत्पाद में कमी आयी। फलस्वरूप लाखों अफ्रीकी किसानों को जड़ से प्राप्त खाद्य उत्पाद वाली फसलों को त्यागना पड़ा। ये फसल अफ्रीकी खाद्य व्यवहार के अभिन्न अंग थे।

सर्वप्रथम सन् 1920 में फिजी में पाये गये काला सिगाटोका के कारण केले के उत्पादन और खेती आज खतरे में पड़ा हुआ है। केले के प्रकार ग्रॉस माइकल की लोकप्रियता के कारण लोग इसे इस कीट से बचाने के लिए चिंतित दिख रहे हैं।

यूकिलिप्टस का रोपण भारत में बिना किसी सुविचारित अध्ययन के शुरू कर दिया गया। यह पौधा भूमिगत जल के स्तर को कम कर देता है।

विश्व में रबड़ की अधिकांश मात्रा सिर्फ 8 प्रकार के संकर पौधों से प्राप्त होती है। दक्षिण अमरीका में लीफ ब्लाइट फंगस से इन पौधों को खतरा है। दृढ़ संगरोध उपाय के कारण इसका फैलाव एशिया में नहीं हो सका है। किंतु इस विधि से अधिक दिनों तक इसके फैलाव को नहीं रोका जा सकता है।

कृषि और वानिकी के कटु अनुभवों से शोधकर्ताओं को यह सीख मिली है कि जीन विविधता की अनदेखी करने से मानव जीवन खतरे में पड़ सकता है। जैव विविधता अपने आप में एक प्रतिरोधक क्षमता से युक्त रहती है। अतएव इसका संवर्द्धन आवश्यक है। विशिष्ट जीन से भविष्य में खाद्य पदार्थ की बढ़ती मांग पूरी की जायेगी। खेत में भी प्रतिरोधक क्षमता होती है। वैज्ञानिक इन खेतों की पहचान हेतु प्रयासरत हैं। जिससे फसलों को बचाया जा सके। आयरलैंड के पोटैटो ब्लाइट का प्रतिरोधक मैक्सिको के जंगली आलू में ढूंढ लिया गया है। भारत के जंगली धान में रक्त प्रतिरोधक क्षमता पाया जाती है। मध्य अमरीका के केला उद्योग को पनामा बीमारी से नष्ट होने से रक्षा करने के लिए सैगोन के वनस्पति उद्यान से प्रतिरोधक जीन युक्त केले की खोज की गयी। चीन की बड़ी पत्तियों वाले पालक में ब्लाइट और विल्ट जीन के प्रतिरोधक खोज लिये गये हैं। इस खोज से अमरीका के पालक उद्योग को नष्ट होने से बचाया गया।

भारत के प्रमुख गैंडा संरक्षित क्षेत्र
1. मानस अभयारण्य, बारपेट (असम)
2. काजीरंगा अभयारण्य, जोरहट (असम)
3. सुन्दरवन राष्ट्रीय उद्यान, चौबीस परगना (पश्चिम बंगाल) एवं वन्य जीव अभयारण्य
4. जलदापारा अभयारण्य, जलपाईगुड़ी (पश्चिम बंगाल)

इन उदाहरणों से पता चलता है कि जीन विविधता के मामले में कोई देश अलग-थलग नहीं रह सकता है। जीन हेतु परस्पर निर्भरता के द्वारा फसलों को बचाया जा सकता है।

सन् 1983 में खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा आयोजित संगोष्ठी में इस बात पर बल दिया गया कि जीन संसाधन सभी के लिए उपयोगी हैं। अत: इनका संरक्षण किया जाना चाहिए।

खाद्य एवं कृषि संगठन ने स्थानीय स्तर पर पारंपरिक प्रजातियों की खेती करने के लिए किसानों को प्रोत्साहित करने की दिशा में प्रगति की है। इसके अनुसार पारंपरिक प्रजातियों का संरक्षण किसानों का अधिकार है। इसमें उन किसानों की चिंता परिलक्षित होती है, जिनके उत्पादों को उतना महत्व नहीं दिया जाता है और उनके मौद्रिक महत्व को नकारा जाता है। दूसरी ओर उत्पादक तथा कंपनियां मूल खोजकर्ताओं की अनदेखी करते हुए 'पेटेंट एण्ड प्लांट ब्रीडर्स

राइट' (PBRs) के मानदंडों का अनुसरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप जैव विविधता सम्मेलन का अनुच्छेद 15 (1) अस्तित्व में आया। इसके तहत प्राकृतिक संसाधनों पर राज्य के सार्वभौम अधिकार को स्वीकार किया गया है। जीन संसाधनों के उपयोग के विषय में राष्ट्रीय सरकारें दिशा-निर्देश तय करेंगी और यह राष्ट्रीय अधिनियम का विषय होगा। बौद्धिक संपदा अधिनियम और संरक्षण के बीच संकल्पनागत संसर्ग स्थापित किया जा सकता है। इसका आम उपयोग यह हो सकता है कि उपयोग करने के बदले संरक्षणकर्ता को परिश्रमिक दिया जाये। किंतु इसके विपरीत जर्मप्लाज्म चोरी की घटनाएं प्रकाश में आयी हैं। जीन संसाधनों के संरक्षण हेतु बौद्धिक संपदा अधिनियम के प्रयोग पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। बौद्धिक संपदा अधिकार का प्रयोग व्यवसायिक उत्पादों को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है। अमरीकी पेटेंट कानून के तहत प्रयोग के लिए कम से कम एक खोज की पहचान आवश्यक है। खोज का उद्घाटन किया जाना आवश्यक है, जिससे उस विषय में पारंगत आदमी नये उत्पाद का सृजन कर सकता है। जीन संसाधन, जिनका संग्रह भविष्य की आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु किया जाता है। वह उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता है। पीबीआर का उपयोग कृषि क्षेत्र में किया जाना है न कि जीन संसाधन के लिए।

किंतु जैव तकनीकी के द्वारा जीन संसाधन के महत्व प्रतिपादित करने पर प्रश्न चिन्ह लगाने से सामग्री के आदान-प्रदान पर असर पड़ा है। अभी तो सहमति पत्र और बहुपक्षीय समझौते के तहत विनिमय होता है। किंतु इसमें एक प्रमुख समस्या यह है कि उत्पादक और शोधकर्त्ता प्रमुख संस्थानों से नहीं जुड़े रहते है। इस वजह से सामग्री का विनिमय दुष्कर हो जाता है।

बेहतर भविष्य के लिए संरक्षण

पृथ्वी की जैव संपदा, जिसे जैव विविधता के नाम से जाना जाता है, करीब 4 अरब वर्षों से जीवन का अनुपूरक रहा है। जैव संपदा के सतत क्षय से पृथ्वी पर जीवन संकटग्रस्त हो गया है। यदि जैव संपदा के ह्रास की वर्तमान गति अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी, तो वर्ष 2050 तक पृथ्वी की एक चौथाई प्रजातियों का समूल नष्ट हो जाएगा। वनों की कटाई, मछली उत्पादन में कमी, समशीतोष्ण क्षेत्रों में निर्वनीकरण इत्यादि से पृथ्वी की जैव विविधता संकट में पड़ गयी है। ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है कि जैव विविधता सिर्फ पांडा, बाघ और वनों से संबंधित है। हालांकि जैव विविधता इन सबसे संबंधित है किंतु इसका संबंध एक प्राणी अथवा पारिस्थितिकी विशेष तक सीमित नहीं है। इसका विस्तार रेंगने वाले सूक्ष्म प्राणी से लेकर हाथी जैसे विशालकाय जीव तक है। इसके अंतर्गत टुंड्रा, प्रेयरीज, दलदली और समशीतोष्ण वनस्पतियां समाहित हैं।

पृथ्वी सम्मेलन के दौरान सन् 1992 में संयुक्त राष्ट्रसंघ वन एवं विकास सम्मेलन के तहत जैव विविधता पर आयोजित संगोष्ठी के अनुच्छेद (2) में जैव विविधता को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-जल, थल तथा समुद्री परिस्थितिकी में विद्यमान प्राणियों के बीच विविधता, और पारिस्थितिकी जटिलता, जिसमें वे प्राणी निवास करते हैं, इसके अंतर्गत एक प्रजाति के बीच मौजूद विविधता, प्रजातियों के बीच की विविधता तथा विभिन्न पारिस्थितिकी के मध्य विविधता है, इस विस्तृत परिभाषा के अंतर्गत पृथ्वी पर जीवन का प्रत्येक पहलू समाहित है। एक क्षेत्र विशेष की पारिस्थितिकी में मौजूद जीन तथा प्रजातियों की समग्रता को जैव विविधता की संज्ञा दी गयी है।

भारत में प्राकृतिक संसाधनों तथा विभिन्न प्रकार के प्राणियों से युक्त जैव विविधता है। ऐसी संपन्न जैव विविधता हमारी पृथ्वी के लिए वरदान है। भारत का क्षेत्रफल 33 लाख वर्ग किमी. तथा जनसंख्या एक अरब बीस करोड़ से अधिक है। इसके समुद्र तट की लंबाई 7,616 किमी. है। इसमें 650000 वर्ग किमी. में फैले 14 प्रकार के वन क्षेत्र हैं। देश में 13000 फूलों की प्रजातियां, 20,000 कवक प्रजातियां, कीटों के 500000 प्रकार, 65000 प्राणी, 2000 प्रकार की मछलियां, 1200 प्रकार के पक्षी, 350 स्तनधारी तथा 420 प्रकार के सरिसृप हैं। देश में 70,000 जल क्षेत्र हैं तथा नदियों की कुल लंबाई 28,000 किमी. है।

प्रोजेक्ट टाईगर के अभ्यारण्यों में 3,500 बाघ हैं। प्रोजेक्ट एलिफेंट के अंतर्गत 80,000 वर्ग किमी. के क्षेत्रफल में 30000 हाथी हैं। करीब 422,300 वर्ग किमी. भारतीय क्षेत्र में फैले हिमालय भारत के 10 प्रतिशत भूभाग में हैं। इसमें 80,000 वर्ग किमी. हिम क्षेत्र है। भारत के पश्चिमी भाग में 300000 वर्ग किमी. में मरुभूमि है। जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक गतिविधियों में प्रसार तथा प्राकृतिक निवास स्थल में परिवर्तन के करण जैव विविधता का अधिकांश क्षेत्र विनष्ट हो जायेगा।

पृथ्वी पर जीवन के विकास में 40 लाख वर्ष समय लगा। मानव जनसंख्या 1930 में दो अरब हो गयी। वर्तमान में विश्व की जनसंख्या 7 बिलियन से अधिक है और इसमें 9 करोड़ 50 लाख की वार्षिक वृद्धि होती है। विगत 60 करोड़ वर्ष में प्रतिवर्ष एक प्रजाति नष्ट होती थी। किंतु प्रजातियों के प्रतिदिन नष्ट होने की यह दर दर्जनों में है। जैव विविधता संबंधी बहस में समशीतोष्ण वन चर्चा का बिन्दु रहा है क्योंकि इन वनों का कुल क्षेत्रफल पृथ्वी के क्षेत्रफल का 7 प्रतिशत है तथा दुनिया की ज्ञात प्रजातियों का आधा इनमें निवास करती हैं। इनमें 15 मानसूनी वनों तथा 3 जंगलों पर विशेष चर्चा की गई है। यद्यपि इसका क्षेत्रफल 0.64 प्रतिशत है किंतु इसमें पृथ्वी की 30 प्रतिशत से 40 प्रतिशत जैव विविधता निवास करती है। यदि विवेकपूर्ण संरक्षण प्रणाली नहीं अपनायी जायेगी, तो 90 प्रतिशत निवास स्थल शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।

समशीतोष्ण वनों की अंधाधुंध कटाई से 1990 से 2020 के बीच दुनिया की 5 से 15 प्रतिशत प्रजातियां नष्ट हो जायेगी। विश्व की एक करोड़ प्रजातियों में 15,000 से 50000 प्रजातियों के प्रति वर्ष नष्ट होने का खतरा है, अर्थात 50 से 150 प्रजाति प्रति दिन। आगामी अर्द्ध शताब्दी में वनों की कटाई के कारण कई प्रजातियां नष्ट हो जायेगी। प्राणियों के लुप्त होने के कारण विकास प्रक्रिया पर खतरे के बादल मंडरा रहे हैं।

जैव विविधता का संरक्षण प्राणि उद्यान में कुछ बड़े जंतुओं के पालन, हरित पट्टियों के संरक्षण तथा बड़े राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना के माध्यम से संभव नहीं हैं। बिना मानवीय प्रयास, प्राणि उद्यान रक्षापाल, उद्यान रेंजर, तथा जीन बैंक के जैव विविधता का संरक्षण स्वत: होगा। आवश्यक बात की है कि जैव विविधता में हस्तक्षेप न किया जाये। चूंकि विकास प्रक्रिया की गति धीमी है। अत: बढ़ती जनसंख्या, आर्थिक समस्याओं के दबाव इत्यादि के कारण जैव समस्या का निदान आसान नहीं है। दुनिया में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो प्राकृतिक और मानवीय प्रकोप से वंचित है।

संरक्षण के लिए दृष्टिकोण

आज सबसे बड़ी पर्यावरणीय समस्या जैव विविधता का संरक्षण है। जैव दाय को खतरा पहुंचाने वाले कई कारक हैं। राष्ट्र, सरकारी अभिकरण, संगठन और व्यक्ति के सम्मुख चुनौती है कि जैव विविधता का संरक्षण करते हुए लोगों के प्राकृतिक संसाधनों की आवश्यकता को पूरी की जाये। यह चुनौती स्थानीय से लेकर वैश्विक स्तर तक है। यदि इस चुनौती का ठीक से सामना नहीं किया जाता है, तो भविष्य की संतति जैव संसाधन की दृष्टि से विपन्न हो जायेगी तथा संसाधन के निर्माण में अक्षम हो जाएगी।

जैव विविधता संरक्षण के अंतर्गत जीवों की विविधता का नियमन और संरक्षण आता है, जिससे एक क्षेत्र विशेष में प्रजाति और समुदाय की विविधता को अक्षुण्ण रखा जा सके। फलस्वरूप सामान्य पारिस्थितिकी प्रक्रिया चलती रहे। आज जैवमंडल पर खतरा मंडरा रहा है। इसके कई कारण हैं। प्राकृतिक निवास स्थल वैकल्पिक उपयोग, अति दोहन तथा प्रदूषण के कारण नष्ट हो रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि आगामी 20 से 30 वर्षों के बीच दस लाख से अधिक वनस्पतियाँ और जंतु प्रजातियां नष्ट हो जायेंगी। इसका मुख्य कारण

मानवीय गतिविधियों की वजह से पर्यावरणीय परिवर्तन है। अत: जैवमंडल का संरक्षण अत्यावश्यक है। पृथ्वी पर अनुमानत: 3 करोड़ प्रजातियों में से सिर्फ छठे भाग की पहचान विगत 200 वर्षों में की गयी है। इसमें से 2,50,000 वृक्ष प्रजातियां हैं। वन्य प्रजातियां मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति, यथा-दवा, चारा, जलावन, रेशे, कृषि कार्य तथा उद्योग करते हैं। कृषि कार्य में जीन विविधता के बिना मुख्य फसलों की उत्पादकता बनाये रखना कठिन है। इनमें अधिकांश जीन विविधता आधुनिक पौधों के संगोत्रीय वन्य पौधों में मिलते हैं। सन 1970 के दशक की शुरुआत में ग्रासी स्टंट विषाणु के कारण एशिया में 1,60,000 हैक्टेयर धान्य क्षेत्र नष्ट हो गया। इसे मध्य एशिया के ऑरिजेनिवारा प्रजाति से नियंत्रित किया जा सका। इस प्रजाति से उक्त विषाणु से जूझाने की प्रतिरोधक क्षमता है। अत: मानव की आहार आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वन्य फसलों के दोहन की नितांत आवश्यकता है।

उत्पादक और स्थायी कृषि हेतु जीन विविधता की आवश्यकता है। जीन विविधता से युक्त फसलों को किसान विषम परिस्थिति में भी उगा सकते हैं। इससे खाद्य पदार्थ की मात्रा में अपेक्षित वृद्धि संभव हो सकेगी। चुनौती दोहरी है। जीन विविधता के संरक्षण के साथ-साथ लोगों की आवश्यकता की आपूर्ति भी आवश्यक है। दीर्घकालीन संरक्षण लक्ष्य के साथ-साथ तत्कालिक आवश्यकताओं की आपूर्ति भी आवश्यक है। जैव विविधता को संरक्षण की जिम्मेदारी जनता तथा सरकारी एवं निजी संस्थाओं पर भी है।

कच्छ वनस्पति

कीचड़ युक्त गंदे ज्वारीय जल में कच्छ वनस्पति पैदा होती है। ये झाड़ी तथा वृक्ष के रूप में ज्वारीय जल तथा तट के बीच पैदा होते हैं। नमक के प्रति इनमें प्रतिरोधक क्षमता होती है। अपनी गहरी जड़ के कारण ये तटबंध की रक्षा करते हैं। जब तक बीज पेड़ से गिरते हैं तब तक इसके विस्तृत तने कीचड़ में जड़ जमा लेते हैं। इस प्रक्रिया से बीज समुद्र के तरंगों द्वारा बहा कर नहीं ले जाये जाते हैं, जड़ पकड़ लेते हैं। कच्छ वनस्पति के इस लक्षण के कारण ही मिट्टी का कटाव रुकता है। कच्छ वनस्पति मिट्टी में जल्दी ही अपनी जड़ जमा लेती है और तेजी से बढ़ती है। नदियों के द्वारा जमा गाद के ऊपर ये पैदा होती हैं। नदियां इनकी वृद्धि के लिए पर्याप्त मात्रा में गाद जमा करती हैं।

भारत के प्रमुख घड़ियाल एवं मगरमच्छ संरक्षित क्षेत्र

1. गुंडी राष्ट्रीय उद्यान, तमिलनाडु
2. चम्बल वन्य जीव अभयारण्य, राजस्थान
3. भितरकनिका वन्य जीव अभयारण्य, उड़ीसा
4. नन्दनकानन वन्य जीव अभयारण्य, उड़ीसा
5. शतकोसिया जॉर्ज वन्य जीव अभयारण्य, उड़ीसा

कच्छ वनस्पतियों की गुच्छेदार जड़ें गाद को नीचे बैठने में मदद करती हैं और गाद को मजबूती से पकड़ लेती हैं। ज्यों ही कच्छ वनस्पति अपनी जड़ें जमा लेती हैं, तो साथ गाद जमा होने लगते हैं और मिट्टी का स्तर ऊपर उठने लगता है जलीय भूमि धीरे-धीरे ऊपर उठ कर ठोस जमीन का रूप लेती है। ऐसा बंगाल के दक्षिणी भाग तथा बांग्लादेश में हुआ है।

आज से 5000 वर्ष पूर्व बिहार के राजमहल पहाड़ी से लेकर बांग्लादेश के सिलहट जिला का यह भाग लैगून था। दक्षिण की ओर भूमि खिसकने, गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा गाद जमा करने तथा कच्छ वनस्पतियों के उगने से यह भू-भाग का स्तर उठ गया। आज से 1000 वर्ष पहले यह भू-भाग रहने लायक हो गया। अत: इस भू-भाग का इतिहास कुछ शताब्दी पुराना है।

वस्तुत: निकट भूतकाल में सुंदर वन कोलकाता तक फैला हुआ था। आज के साल्ट लेक सिटी को कुछ दिन पहले तक 'बफैलो स्वाम्प' के नाम से जाना जाता था। पुराने सर्वेक्षण मानचित्र से पता चलता है कि (1764-1772) मध्य 24 परगना का विस्तृत भाग जल मग्न था। और यह भाग हुगली जिला से सटा हुआ था। किंतु अब ऐसा परिदृश्य नहीं है। वैज्ञानिक इसकी व्याख्या करने में असमर्थ हैं। खुदाई के दौरान कोलकाता के कैनिंग, फोर्ट विलियम, सियालदह तथा बांग्लादेश के खुलना में 3-4 मीटर की गहराई में कच्छ वनस्पति के अवशेष पाए गये हैं।

कुछ शताब्दी पूर्व ब्रह्मपुत्र मधुपुर के पूर्व बहने लगी, किंतु 19वीं शताब्दी के मध्य से यह पुन: मधुपुर के पश्चिम की ओर बह रही है। इस नदी की प्रवाह दिशा में यह परिवर्तन गंगा से मिलने के लिए हुआ। इस बीच की नदी को यमुना के नाम से जाना जाता है। बांग्लादेश के इस हिस्से में भारी परिवर्तन हुआ और इसमें नयी भूमि तथा द्वीपों का उद्भव हुआ, किंतु भारत के कब्जे वाला पश्चिमी हिस्सा सन् 1770 से यथावत है।

तथापि फरक्का बांध के बनने से परिदृश्य बदल गया है। जहां समुद्र के जल-स्तर में विश्वव्यापी परिवर्तन हो रहा है वहीं फरक्का के द्वारा लायी गयी गाद से तटीय भूमि भी उठ रही है। पश्चिम बंगाल के तट के साथ सुंदरवन क्षेत्र में मानवीय गतिविधियों के कारण कच्छ वनस्पति को क्षति पहुंची है।

कच्छ वनस्पति पर व्यापक अध्ययन किया और यह पाया गया कि यह एक विशिष्ट प्रकार के पौधे हैं। इस क्षेत्र में रॉयल बंगाल बाघ तथा रिसस बंदर पाये जाते हैं। सन् 1989 में बांग्लादेश के कब्जे वाले सुंदरवन के हिस्से में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्ययन में पाया गया कि 42 स्तनधारी प्रजातियां, 350 पक्षी प्रजातियां 59 सरिसृप प्रजातियां, 8 उभयचर प्रजातियां तथा मछलियों की 120 प्रजातियां के अतिरिक्त कीट की कई प्रजातियां यहां विद्यमान हैं। मुख्य अपवाह क्षेत्र में एश्चुरियन घड़ियाल पाये जाते हैं।

महत्वपूर्ण संस्थाएं और उनके स्थान

संस्थान	स्थान
भारतीय प्राणी विज्ञान सर्वेक्षण केंद्र	कोलकाता
इन्डियन फॉरेस्ट कॉलेज	देहरादून
भारतीय वन सर्वेक्षण केंद्र	देहरादून
इन्डियन फॉरेस्ट रेंजर कॉलेज	देहरादून
भारतीय वन्य अनुसंधान संस्थान	देहरादून
भारतीय वन्य जीव संस्थान	देहरादून
भारतीय वनस्पति उद्यान	कोलकाता
सलीम अली पक्षी विज्ञान तथा प्राकृतिक इतिहास केंद्र	कोयम्बटूर
प्राकृतिक इतिहास का राष्ट्रीय संग्रहालय	नई दिल्ली
केंद्रीय पक्षी शोध संस्थान	इज्जत नगर, बरेली
भारत का सबसे विशाल संग्रहालय	चेन्नई
भारत का सबसे विशाल मछलीघर	मुम्बई
भारत का सबसे विशाल चिड़ियाघर	अलीपुर, कोलकाता
भारत का सबसे विशाल पक्षी उद्यान	भरतपुर

कच्छ वनस्पति क्षेत्र में व्यवसायिक रूप से मछली पालन किया जाता है। कम से कम 90 प्रतिशत समुद्री मछलियां एक बार कच्छ वनस्पति से होकर गुजरती हैं। इस भाग में घड़ियाल और प्रवासी पक्षियों के आने से मत्स्य उद्योग में बढ़ोतरी हुई है।

इस जल में घड़ियाल 8 मी. या इससे अधिक लंबाई के होते हैं। ये मरे हुए प्राणियों तथा बड़े परभक्षी मछलियों को खाते हैं। परभक्षी मछलियों को खाने से व्यवसायिक रूप से उपयुक्त छोटी मछलियां बच जाती हैं। शिकार पकड़ने

CHRONICLE IAS ACADEMY

के दौरान पूंछ से पानी हिलाने पर पानी में ऑक्सीजन मिलते रहता है, जो मछलियों के लिए आवश्यक है क्योंकि मछलियां विभिन्न स्तरों पर पायी जाती हैं। यहां तक आधुनिक मत्स्यपालन उद्यान में जल में हलचल पैदा करने वाले यांत्रिक उपकरण लगाये जाते हैं।

दूसरी ओर शिकार पकड़ने, उड़ने इत्यादि गतिविधियों के दौरान पक्षी भी जल में हलचल पैदा करने में सहयोग देते हैं। इससे जल में कार्बन, नाइट्रोजन और पोटाशियम मिलते रहते हैं। फलस्वरूप जल में जीवन-चक्र चलता रहता है। कीट पकड़ने तथा चोंच मारने से जल में पोषक तत्व मिलते रहते हैं। ये पोषक तत्व मत्स्य जीवन के लिए उपयोगी हैं। जल में मछली की उपस्थिति स्वस्थ पर्यावरण का प्रतीक है। वहीं पक्षी परजीवी तथा बीमारियों से सुरक्षित रहता है। जिससे इन जल स्रोतों में उनकी जीवन अवधि बढ़ जाती है। पक्षियों में इन घटनाओं को समझने की सहज शक्ति होती है। विशेषज्ञों की राय है कि मत्स्यपालन फार्म में हलचल पैदा करने के लिए यांत्रिक उपकरण लगाने से अच्छा है कि जल की गहराई बढ़ायी जाये और इसमें बत्तख का पालन किया जाए।

विगत वर्षों में कुछ अशोभनीय गतिविधियां घटित हुई हैं। विगत वर्षों में सुंदरवन क्षेत्र में कृत्रिम मत्स्य पालन और फरक्का बांध के निर्माण से पर्यावरण पर दुष्प्रभाव पड़ने के कारण हिलसा मछली पर बुरा असर पड़ा है। हिलसा और अन्य व्यवसायिक रूप से उपयुक्त मछलियां नदी के ताजे जल में पायी जाती हैं। जब ये मछलियां तैरने लायक हो जाती हैं, तो समुद्र के विपरीत नदी के स्रोत की ओर भागती हैं। इसके दौरान इनका विकास होता है। इस दौरान ये 1600 किमी. तक की दूरी तय करती हैं।

फरक्का बांध के निर्माण के कारण हिलसा मछली ऊपर की ओर अधिक दूरी तय नहीं कर पाती और पुन: समुद्र की ओर लौट जाती है। गंगा की मछलियां भी फरक्का बांध के कारण आगे की दूरी तय नहीं कर पातीं और हुगली नदी में पर्याप्त मात्रा में मछली नहीं पकड़ी जाती है। इसके कारण इलाहाबाद के नजदीक हिलसा मछलियां काफी कम मात्रा में पकड़ी जाती हैं। फरक्का बांध के निर्माण से पहले यहां 32.2 टन मछलियां पकड़ी जाती थीं 1990 के दशक में यह मात्रा घटकर 0.3 टन हो गयी।

विशेषज्ञों के अनुसार फरक्का बांध के कारण मछलियों ने अपनी अप्रवासन गतिविधियों में परिवर्तन किया हैं और अब ब्रह्मपुत्र की ओर जाती हैं। इसके कारण अब बांग्लादेश में हिलसा मछली अधिक मात्रा में मिलती है। फलस्वरुप अब हिलसा मछली तेजपुर तक मिलती है, जो फरक्का बांध के बनने से पहले ब्रह्मपुत्र में अपने अंतिम पड़ाव गुवाहटी में मिलती थी। मत्स्य विशेषज्ञ बांध निर्माता और अभियंता अब इस प्राकृतिक अप्रवासन प्रक्रिया को फिर से बहाल करने के लिए सीढ़ीदार पुल बनाने पर विचार कर रहे हैं। भारत सरकार विशेषज्ञों की सलाह से अब मत्स्य सीढ़ी बनाने और ऐसी व्यवस्था करने जा रही है, जिससे हिलसा और अन्य मछलियां ऊपर तथा नीचे जल में तैर सकें। इसकी सफलता वास्तविक रूप से तभी सामने आयेगी, जब ऐसी व्यवस्था बनायी जायेगी।

सुंदरवन के भारतीय क्षेत्र में करीब 32 लाख लोग निवास करते हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय मत्स्य आखेट है। तुंरत लाभ की आशा से किये गये मत्स्य पालन से कृषि पर असर पड़ता है। अधिकाधिक कृषि क्षेत्र को जल क्षेत्र में परिवर्तित किया जा रहा है। जिसमें सिर्फ टाइगर प्राउन पर जोर दिया जाता है। प्राउन पकड़ने के दौरान हिलसा, पारसे, भांगर और मछलियों के अंडे सहित जियरा जल से बाहर आ जाते हैं। उसके पश्चात प्राउन को ले लिया जाता है और अन्य को जल से बाहर बालू पर छोड़ दिया जाता है। एक बार जाल फेंकने से कम से कम पांच किलो ग्राम इस प्रकार की मछलियां नष्ट हो जाती हैं। सिर्फ सुंदर वन क्षेत्र में प्रतिदिन इस प्रकार 1. 25 टन मछलियां नष्ट होती हैं। इस प्रकार की प्रवृति से न सिर्फ व्यवसायिक रूप से उपयुक्त मछलियां नष्ट होती हैं अपितु समग्र जल आहार चक्र प्रभावित होता है।

कच्छ वनस्पति का पारिस्थितिकी अत्यंत ही उत्पादक है। यह तट के रक्षा में सहायक है। यह समुद्र में उर्वरता बढ़ाता है और झींगा तथा मछली उत्पादन के लिए उपयुक्त परिवेश प्रदान करता है। तथापि मानवीय गतिविधियों, औद्योगिक हस्तक्षेप तथा अवैज्ञानिक रूप दोहन के कारण भारत और बांग्लादेश में कच्छ वनस्पति को काफी क्षति पहुंची है। जिसके कारण इसके तटरक्षक की भूमिका में कमी आयी है। समय-समय पर आने वाले चक्रवात के कारण इस क्षेत्र में जान माल के साथ वनस्पति भी क्षतिग्रस्त होती रही है। बंगाल की खाड़ी क्षेत्र में वर्ष में 10-12 चक्रवात आते हैं, जबकि पश्चिमी तट अरब सागर में वर्ष में एक बार चक्रवात आते हैं।

29 अक्टूबर, 1999 को उड़ीसा तट को 10.30 बजे से 12.30 के बीच 260 किमी. प्रतिघंटा की रफ्तार वाला महाचक्रवात कहर ढाहा। इससे जान- माल की क्षति के साथ-साथ 10 तटीय जिलों में संचार व्यवस्था नष्ट हो गयी। चक्रवात की भयंकरता इस बात से सिद्ध होती है कि इतिहास में ऐसा तूफान सिर्फ भारत में सिर्फ दो बार आया है। इस चक्रवात के पश्चात कई दिनों तक भयंकर वर्षा होती रही। समुद्री तरंग ऊपर उठने से पारादीप बंदरगाह में 15-18 मीटर ऊंचा समुद्री जल प्रवेश किया। इस चक्रवात का दुष्प्रभाव करीब एक करोड़ लोगों पर पड़ा और इस क्षेत्र की 80% वनस्पति नष्ट हो गयी।

कच्छ वनस्पति के महत्व को देखते हुए भारत सरकार ने इसके संरक्षण और प्रबंधन का प्रयास 1950 के दशक के अंतिम वर्षों में प्रारंभ किया। पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 के तहत इसे संवेदनशील पर्यावरण क्षेत्र घोषित किया गया तथा तटीय क्षेत्र में निर्माण कार्य तथा प्रदूषित पदार्थ उड़ेलने पर पाबंदी लगायी गयी है।

भारत-बांग्लादेश सीमा पर अवस्थित सुंदर वन विश्व का सबसे बड़ा कच्छ वनस्पति क्षेत्र है, जहां विश्व के 60 प्रतिशत बाघ पाये जाते हैं। सन्

गलत नामधारी कुछ प्रजातियां

- **सिल्वर फिश :** यह कोई मछली नहीं बल्कि एक चांदी जैसा चमकीला कीड़ा है जिसको पुरानी हो चुकी किताबों में निर्वाध विचरण करते देखा जा सकता है।
- **तारा मछली :** यह इकीनोडर्मेटा वर्ग का जीव है, मछली नहीं। इसी प्रकार कटक फिश, क्रेफिश, डेविल फिश, जेली फिश आदि भी मछलियां नहीं हैं।
- **ब्रिटल स्टार :** यह किसी तारे का नाम नहीं बल्कि इकीनोडर्मेटा वर्ग के जीव का नाम है।
- **सन स्टार :** यद्यपि सूर्य स्वयं एक तारा है परन्तु सन स्टार इकीनोडर्मेटा वर्ग के एक जीव का नाम है। इसी प्रकार सी स्टार तथा बास्केट स्टार भी किसी तारों के नाम नहीं हैं बल्कि कुछ जीवों के नाम हैं।
- **सैण्ड डॉलर :** यह किसी देश की मुद्रा या किसी विशेष प्रकार की बालू की किस्म नहीं है बल्कि इकोनोडर्मेटा वर्ग के एक सूक्ष्म जन्तु का नाम है।
- **सी कुकम्बर :** यह समुद्री ककड़ी न होकर एक समुद्री इकीनोडर्मेटा वर्ग के एक जीव का नाम है।
- **सी लेमन :** सुनने व पढ़ने से किसी समुद्री नींबू का बोध होता है। परन्तु यह समुद्र में पाया जाने वाला मोलास्का वर्ग का जीव है।
- **समुद्री घोड़ा :** यह घोड़ा तो नहीं है, हां घोड़े की शक्ल इससे थोड़ी मिलती-जुलती जरूर है। यह समुद्र में पायी जाने वाली मछली है।
- **पीकाक वर्म :** यह न तो कोई भूमि है न मोर को बीमार करने वाला कोई कीड़ा बल्कि एनीलीडा वर्ग का एक जीव है।
- **सी फैन :** यह समुद्र जैसी ताजगी देने वाले पंखे का नाम नहीं है वरन सीलेन्ट्रेटा वर्ग के एक जीव का नाम है।
- **लेडी बर्ड :** लेडी बर्ड न तो किसी महिला का नाम है और नहीं किसी चिड़िया का बल्कि यह एक लाल-पीले धब्बों वाला आकर्षक कीड़ा है।

प्रसिद्ध उद्यान और अभयारण्य

उद्यान/अभयारण्य	स्थान	प्रसिद्धि का कारण
1. केवलादेव या घाना राष्ट्रीय उद्यान	भरतपुर, (राजस्थान)	सबसे बड़ा पक्षी उद्यान, जाड़े में साइबेरियन क्रेनों के लिए प्रसिद्ध।
2. सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान	अलवर, (राजस्थान)	पक्षियों के लिए प्रसिद्ध, जाड़ों में पेलिकन आकर्षण का प्रमुख कारण।
3. मरु राष्ट्रीय उद्यान	जैसलमेर, (राजस्थान)	भारत का एकमात्र मरु उद्यान, काले मृगों तथा ग्रेट इंडियन बस्टर्ड के लिए प्रसिद्ध।
4. दचीगाम राष्ट्रीय उद्यान	श्रीनगर, (जम्मू कश्मीर)	कश्मीरी हिरण (हंगुल) के लिए प्रसिद्ध।
5. विक्रमशिला उद्यान	बिहार	नदीय डालफिन के लिए प्रसिद्ध।
6. अन्नामलाई अभयारण्य	तमिलनाडु	सिंह पुच्छ बन्दर तथा जंगली सांड के लिए।
7. कान्हा राष्ट्रीय उद्यान	माण्डला और बालाघाट, मध्य प्रदेश	बाघ तथा जंगली कुत्तों के लिए प्रसिद्ध।
8. बांदीपुर राष्ट्रीय उद्यान	मैसूर, (कर्नाटक)	बाघ तथा हाथी के लिए प्रसिद्ध।
9. गिर राष्ट्रीय उद्यान	जूनागढ़, (गुजरात)	एशियाई सिंह तथा जंगली गधों के लिए प्रसिद्ध।
10. जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान	नैनीताल, (उत्तरांचल)	बाघ तथा हाथी के लिए प्रसिद्ध।
11. मानस अभयारण्य	बारपेटा, (असम)	हाथी, जंगली भैंसे तथा गैंडा के लिए।
12. काजीरंगा उद्यान	शिवसागर, जोरहाट, (असम)	गैंडा तथा हाथी के लिए।
13. भितरकानिका अभयारण्य	कटक, (उड़ीसा)	ओलिव रिडले टर्टल (कछुआ) तथा घड़ियाल के लिए।
14. चिल्का झील	उड़ीसा	खारे पानी की सबसे बड़ी झील, प्रवासी पक्षी फ्लैमिंगों के लिए।
15. कांचेंगडोंगा राष्ट्रीय उद्यान	गंगटोक, (सिक्किम)	बर्फीले तेंदुआ के लिए।
16. केलामेरु पक्षी अभयारण्य	आन्ध्र प्रदेश	पेलिकन और समुद्री पक्षियों के लिए।
17. रंगनायिट्टू पक्षी उद्यान	मैसूर, (कर्नाटक)	विविध प्रकार के पक्षियों के लिए।
18. सलीम अली राष्ट्रीय उद्यान	जम्मू कश्मीर	विविध प्रकार के जन्तुओं के लिए।
19. नामदफा राष्ट्रीय उद्यान	तिराप जिला, (अरुणाचल प्रदेश)	विविध प्रकार के जन्तुओं के लिए।
20. नन्दन कानन जुलोजिकल उद्यान	भुवनेश्वर, (उड़ीसा)	सफेद बाघ तथा पैडगोलिन के लिए।
21. जंगली गधा अभयारण्य आफ कच्छ,	लिटिल रन (गुजरात)	जंगली गधा, भेड़िया, नील गाय, चिंकारा।
22. हजारीबाग राष्ट्रीय उद्यान	हजारीबाग, (झारखंड)	बाघ, तेंदुआ, सांभर, चीतल।
23. दुधवा राष्ट्रीय उद्यान	लखीमपुर खीरी, (यू.पी.)	बाघ, तेंदुआ, सांभर, नील गाय।
24. परकल अभयारण्य	वारंगल, (आन्ध्र प्रदेश)	बाघ, तेंदुआ, चीतल, नीलगाय।
25. पेरियार अभयारण्य	इडुकी, (केरल)	हाथी, बाघ, जंगली सुअर, तेंदुआ, सांभर।
26. पलामू अभयारण्य	डालटनगंज,(झारखंड)	बाघ, हाथी, चीता, तेंदुआ।
27. चन्द्रप्रभा अभयारण्य	वाराणसी, (यू.पी.)	बाघ, तेंदुआ, हिरन, भालू।

1977 में यूनेस्को ने सुंदरवन को विश्व धरोहर घोषित किया गया। तदनतर सन् 1972 में भारत सरकार ने इसे बाघ अभ्यारण्य का दर्जा दिया तथा 1985 में इसे राष्ट्रीय पार्क घोषित किया गया ताकि बाघ का पूर्ण संरक्षण किया जा सके। विदित हो कि बाघ आहार श्रृंखला के शीर्ष पर अवस्थित है। इन प्रयासों के फलस्वरूप सुंदरवन के भारतीय भाग में अभी भी प्राकृतिक सुषमा विद्यमान हैं और इसके कारण पश्चिम बंगाल की चक्रवात से रक्षा हो पाती है। किंतु उड़ीसा, आंध्र प्रदेश तथा गुजरात में कच्छ वनस्पति को काफी नुकसान पहुंचा है, जिसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों की चक्रवात से रक्षा नहीं हो पाती है।

अतएव भारत में यह आवश्यक है कि तटीय क्षेत्रों में कच्छ वनस्पति के इर्द-गिर्द व्यापक स्तर पर कच्छ वनस्पति वृक्षारोपण किया जाए तथा इसके साथ-साथ चक्रवात अनुकूल निवास स्थान का भी निर्माण किया जाए।

जैव विविधता कार्य-योजना

जैव विविधता के संरक्षण हेतु एक राष्ट्रीय स्तर पर कार्यक्रम बनायी जा रही है। इसमें पर्यावरण और विकास हेतु रणनीति तैयार करने के लिए लाखों लोगों को जोड़ा जाएगा। इसे राष्ट्रीय जैव विविधता रणनीति और कार्य योजना (NBSAP) नाम दिया गया है।

भारतीय पर्यावरण (सुरक्षा) अधिनियम- 1986 और नियम-1989 के अनुसार पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रूवल कमेटी (जी.ई.ए.सी.) को भारतीय जैव-सुरक्षा कानूनों के अंतर्गत आनुवंशिक रूप से परिवर्तित जीवों और उनके उत्पादों को पर्यावरण एवं मानव स्वास्थ्य सुरक्षा

CHRONICLE IAS ACADEMY

के बारे में स्वीकृति देने का अधिकार है। भारतीय पर्यावरण में ट्रांसजेनिक फसलों की अनुकूलता का आकलन करने के लिए आर.सी.जी.एम. ने निगरानी-सह-आकलन समिति (एम.ई.सी.) का गठन किया गया है जो कि प्रयोगात्मक स्थलों पर जाकर आन-साइट निरीक्षण करती है।

जैव विविधता की क्षति स्थानीय तथा वैश्विक स्तर पर हो रही है। इस संबंध में कई अंतर्राष्ट्रीय समझौते हुए हैं, किंतु इनमें सबसे प्रमुख 'कनवेंशन ऑफ वॉयोलॉजिक डायवर्सिटी' (जैव विविधता सम्मेलन CBD) प्रमुख है। इसे रियो-डी-जेनेरियो में 1992 में पृथ्वी सम्मेलन के दौरान 155 देशों के हस्ताक्षर को कार्यरूप दिया गया तथा 1993 में यह अमल में आया। सदस्य देशों का यह कर्तव्य है कि वह अपनी जैव संपदा का संरक्षण करें तथा इस प्रकार धारणीय विकास की ओर उन्मुख हों, जिससे संसाधन का स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा वैश्विक स्तर पर समान वितरण किया जा सके। भारत ने इस संधि पर 1994 में हस्ताक्षर किया था। एक सदस्य देश के रूप में भारत संधि के प्रावधानों को लागू करने के लिए उपयुक्त कानूनी और प्रशासनिक कदम उठाने के लिए कटिबद्ध है। सन् 1994 में एक जैव विविधता विधेयक पर विचार किया गया तथा इसे वर्ष 2000 में संसद ने पारित कर दिया। सन् 1988 में भारत सरकार नें वैश्विक पर्यावरण सुविधा प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा वित्तपोषित समग्र जैव विविधता रणनीति तथा कार्य-योजना प्रारंभ किया। ऐसी रणनीति तथा कार्य-योजना में ध्यान देने लायक विशेष बात यह है कि इसे पर्यावरण, समाज, संस्कृति तथा आर्थिक विकास के अनुरूप होना चाहिए। सन् 1999 में जी ई एफ/ संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम ने 4.3 करोड़ रुपये का अनुदान दिया। उसके बाद पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा जनवरी 2000 में इस कार्य योजना को प्रारंभ किया गया।

प्रमुख राष्ट्रीय अनुसंधान संस्थान

1. राष्ट्रीय रोग प्रतिरक्षा संस्थान	नई दिल्ली
2. राष्ट्रीय कोशिका विज्ञान केंद्र	पुणे
3. सेंटर फार डी.एन.ए. फिंगर प्रिंटिंग एण्ड डायगनोस्टिक्स	हैदराबाद
4. राष्ट्रीय मस्तिष्क अनुसंधान केंद्र	गुड़गांव
5. जैव-संसाधन और सतत् विकास संस्थान	इम्फाल
6. भारत इम्यूनोलॉजिकल्स एंड बायो -लॉजिकल्स कारपोरेशन लिमिटेड	बुलंदशहर

गिद्धों का संरक्षण

विश्व संरक्षण संघ (IUCN) ने भारत में गिद्धों की तीन प्रजातियों को अस्तित्व संकट से जूझ रही प्राणियों की सूची में शामिल किया है। इनमें श्वेत पीठधारी गिद्ध, लंबी चोंच वाले गिद्ध एवं पतली चोंच वाले गिद्ध, शामिल हैं। किसी प्रजाति को विश्व संरक्षण सूची में उस समय शामिल किया जाता है, जब उसकी संख्या तीन पीढ़ियों में 90 फीसदी के कम हो जाती है।

भारत में गिद्धों की आठ प्रजातियां पायी जाती हैं। उपर्युक्त तीन प्रजातियों के अलावा अन्य चार प्रजातियां भी खतरे में आ गयी हैं। ये हैं- हिमालयन ग्रिफॉन, किंग वल्चर, सिरेनियस वल्चर तथा इजिप्शियन वल्चर। गिद्धों की संख्या में हो रही कमी के लिए मुख्य कारण कृषि में कीटनाशक रसायनों का छिड़काव बताया जा रहा है। इसके अलावा दूसरा कारण वायरस जनित संक्रमण है, जिसके चलते गिद्ध का सिर रोगग्रस्त हो जाता है।

यह कार्य-योजना भारत में सामान्य विकास योजना से ताल-मेल नहीं रखता है। दिल्ली और राज्य की राजधानियों में बैठे हुए विशेषज्ञ पूरे देश का भविष्य तय करते हैं। इसे कार्य रूप देने के लिए जन सहभागिता की आवश्यकता है। इसे प्राप्त करने के लिए संपूर्ण प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण होना आवश्यक है। इस कार्य-योजना में पांच स्तर हैं:

- इसमें करीब 20 क्षेत्रों को चुना गया है जिसमें उत्तरांचल के नाहीं कलान गांव, सिमलीपाल बाघ अभ्यारण्य तथा मेघालय के पश्चिमी गारो पहाड़ियां शामिल हैं।
- इसमें भारत के सभी राज्य और संघ शासित क्षेत्र सम्मिलित हैं।
- 10 अंतराज्यीय पर्यावरण क्षेत्र।
- 13 राष्ट्रीय मुख्य बिन्दु।
- यह कार्य योजना उपर्युक्त सभी पर लागू होती है।

इस पर विशेषज्ञों के 20 आयोग गठित किये गए हैं। इस राष्ट्रीय कार्य-योजना की प्रत्येक योजना की स्वंतत्रपूर्वक शुरुआत की गयी है। यदि नागालैंड के चेडमा गांव के निवासी यदि अपनी कार्य-योजना स्वतंत्र रूप से लागू करना चाहते हैं, तो बिना प्रतीक्षा किये हुए इसे लागू कर सकते हैं। इस कार्य-योजना का सबसे महत्वपूर्ण बिंदु यही है कि बिना किसी ऊपरी दबाव के यह लागू किया जा सकता है।

इस कार्य योजना के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं:

(1) क्षेत्र विशेष तथा देश का समग्ररूप से पर्यावरण संरक्षण और

(2) जैव विविधता पर निर्भर लोगों की आजीविका सुरक्षित रहे।

इस योजना के तहत प्रथम बार जैव विविधता से जुड़े सभी पक्षों पर ध्यान दिया गया। वन्य वनस्पति तथा प्राणी, सूक्ष्मजीव, सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष, बौद्धिक संपदा अधिकार एवं अन्य।

देश के कई भागों से इसकी सफलता के समाचार मिलने लगे हैं। असम में सरकार के सहयोग से संयुक्त वन प्रबंधन को फिर से लागू किया गया है। महाराष्ट्र के विदर्भ के गांववासी अपने क्षेत्र बगुला को बचाने के लिए कार्य प्रारंभ किया है। कई मंचों से इस दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं।

अंततः योजना की सफलता इस बात पर है कि लोग स्वतः योजना बनाकर इसे कार्यान्वित करें। पहले की योजनाओं के कर्ताधर्ता शहरी संभ्रात लोग हुआ करते थे, जिन्हें पर्यावरण का साहचर्य बहुत कम मिलता था। इस कार्य-योजना

जैव मंडलीय क्षेत्र

क्षेत्र	राज्य	स्थापना वर्ष
नीलगिरी	केरल, कर्नाटक तमिलनाडु	1986
नंदादेवी	उत्तरांचल	1988
नोकरेक	मेघालय	1988
ग्रेट निकोबार	अंडमान निकोबार	1989
मन्नार की खाड़ी	तमिलनाडु	1989
मानस	असम	1989
सुंदरवन	पश्चिम बंगाल	1989
सिमलीपाल	उड़ीसा	1994
डिब्रू सैखोवा	असम	1998
देहांग देबांग	अरूणाचल प्रदेश	1998
पंचमढ़ी	मध्य प्रदेश	1999
कंचनजंगा	सिक्किम	2000
अगस्तमलाई	केरल	2001
अचानकमार	छत्तीसगढ़	2005
कच्छ	गुजरात	2008
कोल्ड डेजर्ट	हिमाचल प्रदेश	2009
सेशाचलम	आंध्र प्रदेश	2010

CHRONICLE IAS ACADEMY

में समझ के प्रत्येक वर्ग की सहभागिता हो, जो इसे सिर्फ कागजी घोड़ा बनने से रोक सकेंगे। यदि इस प्रक्रिया से वृहत बातचीत और समझ पैदा होती है, तो कार्य योजना पर खर्च किये गये करोड़ो रुपए का प्रतिदान मिल जायेगा।

पक्षियों व कीट–पतंगों के बारे में कुछ रोचक तथ्य

- पक्षी अपने वजन के आनुपातिक दृष्टिकोण से मानव से 72 गुना अधिक शक्तिशाली होते हैं।
- पक्षियों में सबसे अधिक उम्र गिद्ध की होती है, यह सूर्य की तरफ काफी देर तक टकटकी लगाकर देख सकता है किन्तु अब यह लुप्त हो रहा है।
- पक्षियों में सिर्फ 'तोता' ही जम्हाई (Yawning) लेता है।
- एक मामूली चिड़िया प्रतिदिन अपने वजन के बराबर खाना खा जाती है, जबकि 50 किलो वजन वाला मनुष्य 50 किलो भोजन नहीं कर सकता।
- पक्षियों के कान उनके पंखों के पीछे छिपे रहते हैं।
- उल्लू अपना शिकार नोचकर नहीं खाता बल्कि पूरा का पूरा निगल जाता है।
- कठफोड़वा (Woodpeecker) नामक पक्षी अपनी चोंच की मार से आदमी को बेहोश कर सकता है।
- दुनिया का सबसे लम्बा कीट, इंडोनेशिया में पाया जाने वाला 'दीर्घकाय छड़ीनुमा कीट' है। इसकी लम्बाई 360 मि.मि. तथा इसकी मादा की लम्बाई 330 मि.मि. होती है।
- दुनिया का सबसे बड़ा पतंगा (Insect) उष्ण कटिबंधीय आस्ट्रेलिया व न्यूगिनी में पाया जाने वाला 'हरक्युलिस' पतंगा है। इसके पंखों का फैलाव 280 मि.मि. होता है तथा पंखों का क्षेत्रफल 2652 वर्ग से.मी. होता है।
- काली मैना प्रतिदिन 30 ग्राम कीड़े खा जाती है अर्थात् फसलों की रक्षक है।
- मधुमक्खियां एक दूसरे को नृत्य (Dancing) के द्वारा अपनी बात बताती है। अलग–अलग विचारों को व्यक्त करने के लिये उनकी नृत्य की भी अलग–अलग मुद्रा होती है।
- प्रेइंग मान्टिस (Praying Mentis) नामक कीट अपने हाथों को इस प्रकार जोड़कर रखता है जैसे प्रार्थना कर रहा हो।
- पिस्सू (Flea) विश्व का सबसे उंची कूद वाला (Highest Jumper) है। यह 25 से.मी. उंचा कूद सकता है जो कि उसकी स्वयं की उंचाई का 80 गुना है। इस प्रकार यदि मनुष्य इसकी बराबरी करना चाहे तो 5 फीट के आदमी को 400 फीट उंचा कूदना पड़ेगा जो कि असम्भव है।
- सिल्क का नर कीड़ा (Male Silkworm Moth) एक लम्बे ऐन्टेना (Antennae) द्वारा अपनी मादा साथी (Female Partner) को 11 कि. मी. दूर से भी ढूंढ लेता है। यह उसकी सुगंध से इसकी स्थिति का पता कर लेता है।
- मादा खटमल (Female Bug) अपने अण्डे अपने नर साथी (Male Partner) की पीठ पर देती है ओर वह तब तक उसे ढोता रहता है जब तक इसमें से बच्चे नहीं निकल जाते।
- चींटी विश्व की सबसे श्रेष्ठ भार उठाने वाली (Best Weight Lifter of the world) जीव है। यह अपने वजन का 50 गुना वजन उठा सकती है, इस प्रकार यदि 60 कि.ग्रा. का व्यक्ति वजन उठाने में चींटी की बराबरी करना चाहे तो उसे 3000 कि.ग्रा. वजन उठाना पड़ेगा।
- वयस्क नर मक्खी (Adult Male Fly) कुछ नहीं खाता फिर इसका जीवन मात्र उतनी देर के लिये होता है, जितनी देर वह मादा मक्खी के साथ सहवास (Mating) करता है। अर्थात् उसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है।
- गोवरैले (Beetles) जीव जगत (Animal Kingdom) में सबसे बड़ा दल है। कुल 2,78,000 प्रकार के गोवरैले अब तक विश्व में ज्ञात है।
- जल–मकड़ी (Water Spider) जब पानी में नीचे जाती है तो अपने साथ हवा का एक बुलबुला (Water Bubble) भी अपने साथ ले जाती है जिसके कारण वह जीवित रह पाती है।
- पश्चिमी घाट के जंगलों में उड़न छिपकली (Flying Lizard) पायी जाती है जिसे ड्रेको (Draco) या उड़ने वाली ड्रेगन (Flying Dragon) भी कहते है। यह पेड़ों की छालों (Barkcs) के रंग की होती है जो इसे छुपने का रंग (Comouflaging Colour) प्रदान करता है यह पेड़ों पर चींटी खाते हुए चढ़ती है दूसरे पेड़ पर जाने के लिये अपने सिकुड़े हुए (Closed) पंखों को खोलकर पीली तितली जैसी दिखती हुई उड़ जाती है।

कुछ विशिष्ट जानकारियां

- बब्बर शेर : इस भारतीय शेर के नाम तो कई हैं परन्तु निवास स्थान केवल गुजरात के गिर जंगल में सीमित है।
- कपि या गिब्बन : यह भारत का सबसे छोटा कपि है जबकि गोरिल्ला सबसे विशाल कपि है।
- डालफिन : मनुष्य के बाद सबसे बुद्धिमान जन्तु मानी जाती है। यद्यपि यह मछली की तरह दिखती है परन्तु स्तनधारी है। सबसे तीक्ष्ण यदाश्त वाला पशु हाथी है। कपियों में सबसे बुद्धिमान चिम्पैन्जी होता है, इसलिए इसे मनुष्य का नजदीकी पूर्वज माना जाता है।
- किंग कोबरा : यह भारत का सबसे जहरीला सांप है तथा मुख्यत: सांपों को ही अपना शिकार बनाता है। विश्व का जहरीला सांप ऑस्ट्रेलिया का पेनिन्सुलर टाइगर सांप है। सबसे विशाल सांप अजगर या पाइथन है।
- स्विफ्ट : स्विफ्ट का अर्थ तेज होता है अत: यह पक्षी विश्व की सबसे तेज रफ्तार की उड़ान भरने वाली है। जन्तुओं में सबसे अधिक तेज दौड़ने वाला चीता है।

प्रवालों की अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह में अनेक नई किस्मों की खोज

एक अन्तर्राष्ट्रीय दल, जिसमें भारतीय, ब्रिटिश तथा ऑस्ट्रेलियाई वैज्ञानिक शामिल थे, ने अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह में प्रवालों की 111 किस्मों को खोज निकाला है। इनमें एक प्रजाति तो वैज्ञानिकों के लिए बिल्कुल ही नयी है, जबकि दूसरी प्रजाति फिलिपीन्स में पाई जाती है।

यहां नये प्रजाति की संख्या 400 तक पहुंच सकती है। इसकी तुलना कोरल त्रिकोण (फिलीपीन्स, इन्डोनेशिया तथा पापुआ न्यूगिनी) की जा सकती है।

अन्डमान समूह में सिर्फ 10% क्षेत्र पर ही मनुष्य निवास करते हैं। यहां स्तनधारियों की 32 प्रजातियां तथा उपप्रजातियां हैं। पक्षियों की प्रजातियों की संख्या 95 है तथा सरीसृप की 23 प्रजातियां पाई जाती हैं।

- स्क्विड : मोलास्का वर्ग में इस जीव की सबसे बड़ी आंखें है। जन्तुओं में सबसे बड़ी आंखें घोड़े की है। सबसे बड़ा दिल हाथी का होता है तथा आश्चर्यजनक रूप से सबसे अधिक 13 दिल कॉकरोच (तिलचट्टा) के होते हैं।
- गोबी : यह सबसे छोटी मछली है। ह्वेल, शार्क सबसे विशाल मछली है। मछली के समान दिखने वाली स्तनधारी नीली ह्वेल विश्व का सबसे विशाल जीव है।
- शुतुरमुर्ग : अफ्रीका में पायी जाने वाली आस्ट्रिच सबसे विशाल चिड़िया है इसका अंडा सबसे बड़ा 1½ किलो ग्राम वजन का होता है।
- टिटिहरी : अपना पैर ऊपर करके सोती है।
- सालमण्डरा अटरा : इन जन्तु में गर्भधारण अवधि (1140 दिन) सर्वाधिक होती है। हाथी इस मामले में दूसरे स्थान पर (624 दिन) पर है।
- बौना पिग्मी : मध्य अफ्रीका के घने जंगलों में निवास करने वाली मनुष्यों में सबसे छोटे कद वाली प्रजाति हैं ये जंगल में जीव-जन्तुओं से बचने के लिए वृक्षों पर घर बनाकर रहते हैं।
- राजहंस : अन्य पक्षियों की तरह पेड़ों, झाड़ियों या भूमि पर रैन-बसेरा (रात्रि निवास) नहीं करते बल्कि पानी में ही रहते हैं।
- चमगादड़ : चमगादड़ चिड़िया नहीं है, वह बच्चे पैदा करके इन्हें दूध पिलाती है।
- युग्लीना : यह एक ऐसा जीव है जिसमें जन्तु तथा पादप दोनों के गुण पाये जाते हैं, अत: यह जन्तु और पादप के बीच की कड़ी माना जाता है। इसी प्रकार विषाणु सजीव व निर्जीव दोनों होते हैं। जब ये हवा में उड़ते रहते हैं तो निर्जीव हैं और जैसे ही किसी मेजबान के शरीर में पहुंचते हैं तो सजीव हो जाते हैं। आर्कियोप्टेरिस पक्षी व सरीसृप (यानी रेंग कर चलने वाला) दोनों है। प्रोटोथेरिया, सरीसृप व स्तनधारी के मध्य की कड़ी माने जाते है।
- एकीडना : एकीडना और फ्लैटीपस ऑस्ट्रेलिया में पाय जाने वाले दो ऐसे स्तनधारी है जो सामान्य स्तनधारियों के गुण बच्चा जनने के विपरीत अण्डा देते हैं। इन दोनों को सरीसृप के बीच की कड़ी माना जाता है।
- कंगारू रैट : यह उत्तरी अमेरिका के दक्षिणी पश्चिमी रेगिस्तान में पाया जाने वाला चूहे के समान स्तनधारी है। इसके नाम के आगे कंगारू शब्द इसलिए लगा है क्योंकि इसकी पिछली दो टांगे कंगारू के समान बढ़ी होती हैं और यह तेज छलांग लगा लेता है। इसकी विशेषता यह है कि यह अपना पूरा जीवन बिना पानी पिये काट देता है।
- स्लोथ : अमेरिका के जंगलों में पाया जाने वाला बंदर के समान स्तनधारी है। इसकी विशेषता यह है कि यह अपना पूरा जीवन वृक्षों पर उल्टा लटक कर बिताता है।
- रैकून : उत्तरी अमेरिका में पाया जाने वाला यह स्तनधारी मांसाहारी जीव बिल्ली के समान होता है। रैकून अपना भोजन मेंढ़क, मछली, छोटे जीव तथा अखरोट आदि धोकर खाता है।
- कैसोवरी : न्यूगिनी में पायी जाने वाली कैसोवरी संसार की सबसे क्रोधी और खतरनाक चिड़िया मानी जाती है। इसके सिर पर हड्डी का हेलमेट होता है और इसके पंजे चाकू के समान तेज धार वाले होते हैं।
- लेमिंग : यह चूहे के समान दांत से कुतरने वाला जीव है जो स्वीडन, नार्वे के आस-पास के क्षेत्रों में पाया जाता है। जब किसी स्थान पर इनकी जनसंख्या में अधिक वृद्धि हो जाती है तो ये उस स्थान को छोड़कर भोजन की तलाश में चल पड़ते हैं और लाखों की संख्या में आस-पास के समुद्र में कूद कर जान दे देते हैं।
- वैम्पायर चमगादड़ : मध्य और दक्षिणी अमेरिका में पाये जाने वाले वैम्पायर चमगादड़ का स्वभाव अन्य चमगादड़ों के स्वभाव से भिन्न होता है। यह खतरनाक माना जाता है, और मनुष्य सहित अन्य जन्तुओं का खून चूस लेने में माहिर होता है।
- ड्रैको : यह मलेशिया में पायी जाने वाली छिपकली है जो दीवारों व वृक्षों पर चल सकने के अतिरिक्त उड़ान भरने का आनन्द भी लेती है। इसी प्रकार एक्सोकीटस मछली भी अण्डा देने की जगह बच्चों को जन्म देती है।
- सचिव पक्षी : दक्षिण अमेरिका में पायी जाने वाली विशाल चिड़िया है जिसके कान के पास पंखे ऐसे लगते हैं जैसे क्लर्क पेन रखते हैं। यह चिड़िया जहरीले सांपों के शिकार की शौकीन है।
- एस्कीमो : ये उत्तरी ध्रुव के आस-पास के देशों कनाडा तथा ग्रीन लैण्ड में रहते हैं। सर्दी से बचने के लिये ये बर्फ के घरों (जिनको इग्लू कहते हैं) में निवास करते हैं।

कुछ विविध तथ्य

- आंवला को अमृत फल कहा जाता है क्योंकि इसमें विटामिन सी और आइरन के अतिरिक्त और भी बहुत सारे पोषक पदार्थ पाये जाते हैं।
- तिल में ढेर सारे विटामिनों व पोषक पदार्थों के अतिरिक्त दो अति महत्वपूर्ण अमिनो ऐसिड पाये जाते हैं जो कि अन्य शाकाहारी भोज्य पदार्थों में प्राय: नहीं होते। ये हैं-मेथियोनाइन, यह लीवर को स्वस्थ रखता है ट्रिप्टोफान-यह बालों व त्वचा को सुन्दर व आकर्षक बनाता है तथा अच्छी नींद लाता है।
- नारियल के वृक्ष को कल्पवृक्ष भी कहा जाता है। नारियल की गरी सबसे अधिक तैलीय होती है।
- आलू तथा अदरक जड़ नहीं बल्कि तना है।
- केले का तना, तना नहीं बल्कि पत्ती है।
- शकरकन्द जड़ है।
- विश्व का सबसे विशाल बरगद कोलकाता के शिवपुर वनस्पति उद्यान हैं जिसमें 1600 पेड़ के समान स्तम्भ जड़ें हैं जो पेड़ का ही रूप ले चुकी है पूरे वृक्ष की परिधि 404 मीटर है और यह वृक्ष करीब 500 साल पुराना है।
- लाइकेन, सल्फर डाई आक्साइड के प्रति संवेदनशील है। अधिक सल्फर डाई आक्साइड इसे समाप्त करने लगी है, अत: लाइकेन का समाप्त होना प्रदूषक का सूचक है।
- सबसे बड़ा पुष्प रिफ्लेशिया का होता है।
- सबसे छोटा पुष्प बोल्फिया का होता है।
- सबसे विशाल पत्ती विक्टोरिया रेजिया है।
- सबसे लम्बा वृक्ष युकेलिप्टस का होता है।
- सबसे विशाल वृक्ष शिकोया का होता है।
- क्रिकेट का बल्ला सेलिक्स की लकड़ी का सर्वोत्तम माना जाता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- सबसे बढ़िया हाकी शहतूत की लकड़ी की बनती है।
- सबसे हल्का जुआ लसोढ़ा की लकड़ी का होता है।
- पोप्लर वृक्ष की लकड़ी का उपयोग माचिस, पेंसिल व प्लाईवुड बनाने में किया जाता है क्योंकि इसकी लकड़ी बड़ी नरम होती है।
- लण्टाना जो अब उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के जंगलों को बरबाद कर रही है, एक सजावटी पौधे के रूप में लायी गयी थी।
- जलकुम्भी भी एक सजावटी पौधे के रूप में लायी गयी थी। इसे बंगाल का आतंक भी कहा जाता है।
- चन्दन एक अपूर्ण जड़ परजीवी है जबकि अमरबेल एक पूर्ण परजीवी है।
- कीट भक्षक पौधे जैसे ड्रेसेरा कीटों का भक्षण नाइट्रोजन की कमी को पूरा करने के लिये करते हैं।
- स्मूदर फसल सूरजमुखी जैसी फसलों को कहते हैं जो अपने साथ खरपतवार को बढ़ने नहीं देती।ै उववजीमत का अर्थ है किसी की स्वास बाधित कर देना जिससे उसकी मौत हो जाये।
- कस्तूरी, कस्तूरी मृग के पित्ताशय का एक हिस्सा होता है।
- विश्व की सबसे महंगी शाल-शहतूत की शाल, तिब्बती मृग चिरु के बाल से बनायी जाती है।
- सबसे पुराना अनाज जौ को माना जाता है।
- कोपलें एन्थोसाइनिन के कारण गुलाबी होती है बाद में क्लोराप्लास्ट के कारण हरी हो जाती है।
- फूलों का रंग क्रोमोप्लास्ट तथा एन्थोसाइनिन के संयोग पर निर्भर करता है।
- छुइमुई का शर्म किसी स्पर्श से होना, पत्ती व डंठल में परेनकाइमा कोशाओं से जल उतर जाता है तो ये ढीले होकर बेदम हो जाते हैं, फिर उनमें जल भराव हो जाता है तो ये उत्थित हो जाते हैं।

■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

2 प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण

संसाधन मानव के लिए प्रकृति की नि:शुल्क देन हैं। प्रकृति के पास हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समस्त संसाधन उपलब्ध हैं। जल, वायु, वनस्पति, मिट्टी, वन्य प्राणी, धातु, जीवाश्म ईंधन इत्यादि के रूप में प्रकृति ने हमें विपुल संसाधन दिये हैं। इन संसाधनों के उपयोग करने की तकनीकी क्षमता मानव के पास है। सभ्यता के प्रारंभ से ही वह इन संसाधनों का उपयोग किसी न किसी रूप में करता आया है।

संसाधन विकसित अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। किसी देश अथवा क्षेत्र का विकास संसाधन के उपयोग पर निर्भर करता है। संसाधन एक व्यापक शब्द है तथा इसके अर्थ निम्न हैं:

- जिसके ऊपर मदद तथा आपूर्ति के लिए निर्भर रहा जाये।
- निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने के साधन।

जिमरमान के अनुसार संसाधन एक वस्तु अथवा पदार्थ नहीं है, अपितु एक कार्य है जिसे एक वस्तु अथवा पदार्थ पूरा कर सकता है अथवा वैकल्पिक रूप से इसे पूरा करने में भाग ले सकता है। वस्तुत: संसाधन एक अमूर्त विचार है, जिसके तहत उपयोग तथा प्रबंधन आते हैं। प्राकृतिक संसाधन के परिचालन के तहत मानव ने इसका दुरुपयोग किया है। फलस्वरूप पारिस्थितिकी प्रभावित हुई है। पूर्व में मानव द्वारा इस पक्ष को नहीं समझा गया। अवैज्ञानिक तरीकों से संसाधन का अत्यधिक दोहन किया गया। इन स्रोतों के दुरुपयोग के पीछे मानव की इनके विषय में जानकारी का न होना है। वह यह मान बैठा था कि ये संसाधन अक्षय हैं। यदि संसाधन का विवेकपूर्ण उपयोग न किया जाये, तो वह दिन दूर नहीं जब पृथ्वी कई संसाधनों से विहीन हो जायेगी। तब उन्हें इसके परिणाम भुगतने होंगे। इस भय के कारण शब्द संरक्षण प्रयोग में आया।

संसाधन क्या हैं?

प्राकृतिक संसाधन वे संसाधन हैं, जो हमें प्रकृति से प्राप्त हैं। हमारे पर्यावरण के जिन संसाधनों वायु, मिट्टी, जल, वन, वन्य जीवन, खनिज इत्यादि का उपयोग मानव अपनी आर्थिक अभ्युन्नति के लिए करता है। इस आधार पर संसाधनों को कई वर्गों में बांटा जा सकता है।

वायु, सौर तथा ज्वारीय ऊर्जा अक्षय संसाधन हैं। जल, वन, खनिज इत्यादि क्षयशील संसाधन हैं।

संरक्षण का तात्पर्य

संरक्षण का अंग्रेजी में तात्पर्य conserve होता हैं 'con' का अर्थ होता है एक साथ तथा serve का अर्थ होता है 'रक्षा करना'। अर्थात संरक्षण का अर्थ होता है एक साथ रक्षा करना। सन् 1908 में व्हाइट हाऊस सम्मेलन के पश्चात गिफोर्ड पिनचौट के द्वारा इस शब्द का प्रयोग किया गया। सामान्य अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पारंपरिक ऊर्जा के लिए किया गया किंतु गैर-परंपरागत ऊर्जा का भी प्रबंधन आवश्यक है, अत: वह भी संरक्षण के अंतर्गत आता है।

संसाधन संरक्षण की विभिन्न पर्यावरणविदों ने विभिन्न परिभाषाएं दी हैं। हैरोल्ड एम. रोज के अनुसार राष्ट्रीय विकास में अत्यधिक मानवीय तथा सांस्कृतिक संसाधनों का आबंटन करते हुए अत्यधिक आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है। पी. हैगेट के अनुसार दीर्घतम अवधि तक अधिकतम लोगों को अधिकतम वस्तु उपलब्ध कराना संरक्षण है। सभी प्रकार की व्याख्याओं का एक ही उद्देश्य है कि संसाधन का इस प्रकार उपयोग हो कि वे भविष्य के लिए सुरक्षित रह सकें।

संरक्षण एक अवधारणा है जिसके तहत मनुष्य की आवश्यकता तथा संसाधन की उपलब्धता के मध्य विवेकपूर्ण संतुलन बनाये रखना है। जहां परंपरागत ऊर्जा स्रोतों का प्रबंधन आवश्यक है, वहीं गैर-परंपरागत ऊर्जा की आवश्यकता है। इससे दीर्घकाल तक संसाधन के उपयोग ही नहीं पारिस्थितिकी का संरक्षण भी सुनिश्चित होता है। आज प्रत्येक देश के पास संसाधन है और वह खुले मन से संरक्षण की नीति को अपनाना चाहते हैं। उपनिवेश काल में एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों के प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर दोहन किया गया।

प्रारंभ में संरक्षण नीति अमरीका तक सीमित थी किंतु तदन्तर इसे यूरोप सहित दुनिया के प्राय: सभी देशों ने अपने यहां लागू किया। सभी देशों द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अभिकरण इसे अंतराष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर लोगों के सहयोग से संरक्षण आंदोलन को बल मिला है। किंतु अभी भी बहुत से सार्थक प्रयास किये जाने शेष हैं।

वन संरक्षण

वन प्राकृतिक परिदृश्य का अभिन्न अंग है। वन प्राकृतिक पारिस्थितिकी का महत्वपूर्ण अन्य संसाधनों के लिए भी आवश्यक है। आधुनिककाल में इसका आर्थिक महत्व है। वन्य जीवन वहीं सुरक्षित है, जहां वन सुरक्षित हैं। वन से कच्चा माल प्राप्त होता है। इससे करीब 5000 उत्पाद प्राप्त होते हैं। रोजगार के लिए प्राय: वनवासी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वन पर निर्भर हैं। इससे उद्योग को सहयोग मिलता है। उद्योग हजारों लोगों को रोजगार प्रदान करता है। वस्तुत: वन विविध प्रकार के जंतु तथा पादप प्रजातियों से साथ-साथ वनवासियों का आश्रय स्थल भी हैं।

वन के अंधाधुंध व्यवसायिक दोहन से वन का विनाश हुआ है। पहले विश्व के भू-भाग का 2/5 भाग वनाच्छादित था किंतु अब वन क्षेत्र के एक तिहाई से अधिक भाग मानव के द्वारा नष्ट कर दिये गये हैं। इससे हरित क्षेत्र बंजर हो गया है।

वनों के दोहन का इतिहास प्राचीन है। पहले वनों के कटाई की भरपाई सामान्य उगने की प्रक्रिया द्वारा पूरी कर ली जाती थी। किंतु कृषि के विस्तार के साथ वन क्षेत्र की व्यापक स्तर पर कटाई हुईं। वन का विनाश व्यवसायिक तथा औद्योगिक उद्देश्य के लिए भी किया गया। वनों का इतना अधिक व्यवसायिक उपयोग हो रहा है कि इससे पर्यावरण को खतरा उत्पन्न हो गया है। जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से है। इससे व्यापक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं। यथा- वैश्विक ताप वृद्धि, वर्षा का अभाव, कई अनिवार्य वन उत्पाद का लुप्त होना तथा पर्यावरण में असंतुलन। वन के कटाई से होने वाली क्षति को विशेषज्ञ तथा आम लोग सभी ने पहचान की है तथा इसके संरक्षण पर बल दिया है।

वन एक राष्ट्रीय संसाधन तथा सामाजिक संपदा है। इससे घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार में लाभ प्राप्त होते हैं। किंतु वर्तमान में विश्व के प्रत्येक देशों में वन का इतना अविवेकपूर्ण दोहन नहीं हो रहा है। विशेषज्ञों की राय में यदि इसे नहीं रोका गया, तो निकट भविष्य में गंभीर परिणाम हो सकते हैं। यदि इसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जायेगा तो, यह मानव के लिए वरदान सिद्ध होगा। इसका एक मात्र निदान संरक्षण है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

झूम से वन विनाश

प्रथम बार सरकार द्वारा प्रायोजित अध्ययन में अंतरिक्ष तकनीकी के प्रयोग करते हुए दूर-संवेदी उपग्रह से जैव संवर्द्धन तथा संरक्षण के भौगोलिक आंकड़े इक्ट्ठे किये गये। अध्ययन में स्पष्ट किया गया कि उत्तर-पूर्व भारत में 4.5 लाख परिवार प्रतिवर्ष 10000 वर्ग किमी. क्षेत्रफल में खेती करते हैं। पहले जो झूम खेती 20-30 वर्ष में होती थी। अब जनसंख्या बढ़ने से 3-5 वर्ष में हो जाती है। इस प्रकार की खेती द्वारा 44,000 वर्ग किमी. क्षेत्र प्रभावित हुआ है। इसके दुष्प्रभाव का अध्ययन 1997 में संयुक्त रूप से अंतरिक्ष विभाग तथा जैव तकनीकी विभाग द्वारा किया गया।

अध्ययन में इस बात का ध्यान रखा गया कि भूमि के उपयोग, वन क्षेत्र, जैव संपन्नता तथा दीर्घ कालीन जैव विविधता के संरक्षण हेतु मानचित्र प्राप्त कर संरक्षण कार्य को बढ़ावा दिया जाये। जैव विविधता का तात्पर्य जीन, प्रजाति तथा पारिस्थितिकी एवं निवास स्थल की विविधता और उनके बीच अंत: संबंध है। उदाहरणार्थ जिस बीज को हाथी खाता है वह यदि उसके पाचन-तंत्र द्वारा उत्सर्जित किया गया है, तो अच्छी तरह से उगता है। अत: हाथी अपनी ओर से जैव विविधता के लिए उपाय करता है। अध्ययन में भारत के संपन्न वन क्षेत्र-पूर्वी घाट, पश्चिमी घाट, हिमालयी क्षेत्र तथा अंडमान- निकोबार द्वीप समूह का विशेष उल्लेख किया गया। ये देश के कुल वन क्षेत्र के 8.73 प्रतिशत हैं। इसमें उत्तर-पूर्व का कुल वन क्षेत्र का 5 प्रतिशत है। अद्यतन प्रकाशित रिपोर्ट उत्तर-पूर्व के वन का उल्लेख किया गया है।

वन रिपोर्ट–2009

केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा वनों के क्षेत्र में किए जा रहे प्रयास वनों ने संरक्षण में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। भारतीय वन सर्वेक्षण द्वारा प्रकाशित भारत वन रिपोर्ट 2009 के अनुसार देश के वनावरण के अंतर्गत वनों का राष्ट्रीय औसत 6,90,89,90,0 हेक्टेयर है, जो भौगोलिक क्षेत्र का 21.02 प्रतिशत है। सर्वाधिक वनों का क्षेत्रफल मध्य प्रदेश में पाया जाता है। मिज़ोरम राज्य में वनों का प्रतिशत सर्वाधिक है। पंजाब तथा हरियाणा उन राज्यों में शामिल हैं जहाँ वनावरण नहीं के बराबर है। हाल ही में प्रधानमंत्रे जलवायु परिवर्तन परिषद् द्वारा वनावरण को विस्तारित करने के लिए एक नए प्रयास के रूप में 'राष्ट्रीय हरित भारत मिशन' को अनुमोदित किया गया है। यह मिशन देश में वन तथा वृक्ष आवरण को विस्तारित करने के राष्ट्रीय मिशन के अनुरूप अवक्रमित भूमि पर वनीवरण के माध्यम से परितंत्र सेवाओं तथा कार्बन सिंध में अभिवृद्धि पर संकेंद्रित है। 2011-12 के बजट में हरित भारत मिशन हेतु 200 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया है।

जैव विविधता के प्रांगण के रूप में विख्यात उत्तर-पूर्व में असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड तथा त्रिपुरा आते हैं। इस क्षेत्र घास के मैदान से घने वन तक तथा सभी प्रकार के वन में 13 प्रकार के वन यहां पाये जाते हैं। हिमालय के 8000 वृक्ष प्रजातियों में से 5000 वृक्ष प्रजातियां यहां उपलब्ध हैं। देश के 227 पारिस्थितिकी इकाइयों में 54 यहां मौजूद हैं।

दुर्भाग्यवश यहां के वनों का भी अंधाधुंध विनाश हुआ है। 900 मीटर की ऊंचाई तक अवस्थित सदाबहार अर्द्ध सदाबहार तथा पर्णपाती वनों को मानवीय गतिविधियों के कारण सर्वाधिक खतरा है। असम घाटी के सदाबहार वन, नागा पहाड़ियों के निचले भाग, मेघालय, मिजोरम तथा मणिपुर जहां वार्षिक वर्षा 2300 मिमी. से भी अधिक होती है। वहां भी वनों की सघनता में कमी आयी है।

वनों को टुकड़ों में बांटने से जैव विविधता नष्ट होती है। वहां पौधों के लिए भूमि का अभाव हो जाता है तथा वृक्षों की अवैध कटाई होती है। वैज्ञानिक प्रबंधन रणनीति का अभाव तथा सरकारी लापरवाही के कारण वनों का व्यापक स्तर पर विनाश हुआ है। इससे जैव विविधता, प्राकृतिक निवास स्थल का नाश, मिट्टी अपरदन तथा जल छाया क्षेत्र भी विनष्ट हुए हैं।

वन संरक्षण के उपाय

वन संरक्षण के विविध उपाय हैं:

योजनावद्ध ढंग से वृक्षों की कटाई: संरक्षण के लिए आवश्यक है कि वृक्षों की कटाई योजनाबद्ध ढंग से हो। वन विनाश का एक प्रमुख कारण व्यवसायिक दृष्टि से वृक्षों की कटाई है। विश्व में प्रत्येक वर्ष विभिन्न कार्यों के लिए 16000 लाख घन मीटर लकड़ी की आवश्यकता होती है। वृक्ष सदा लाभ प्रदान करने वाले संसाधन हैं, जब व्यापक स्तर पर इनकी कटाई होती है, तो फिर से नहीं उगते हैं। अत: कटाई स्पष्ट रूप से अथवा चयनित होना चाहिए।

स्पष्ट रूप से कटाई उन्हीं क्षेत्रों में हो सकती है, जहां एक ही प्रकार के वृक्ष अधिक क्षेत्र में अवस्थित रहते हैं। यदि एक ही उम्र के वृक्ष काटे जाते हैं, तो पुन: वृक्षारोपण करना चाहिए। यदि चयनित कटाई होती है, मध्यम उपयोगिता, पुन: उत्तम उपयोगिता वाले पेड़ों की कटाई होनी चाहिए। इनके बीच के समय में अन्य पेड़ भी उग सकते हैं। नियंत्रित कटाई में सिर्फ 1/10 भाग की कटाई की जाती है तथा चयनित कटाई में पहले सुरक्षा उपाय किये जाते हैं। वन का इस प्रकार प्रबंधन किया जाना चाहिए, ताकि लकड़ी की कटाई वर्ष दर वर्ष की जाये और स्रोत भी समाप्त न हों। इसे उत्पाद प्रदान करने वाली धारणीय पद्धति कहते हैं, जिसे दुनिया के कई देशों ने अपनाया है।

वनों में आग पर काबू : आग से वनों का विनाश आम बात है। वनों में आग लगने के कई कारण हैं। प्राकृतिक रूप से भी वन में आग लगती है। तेज वायु के दौरान पेड़ों के आपस में घर्षण से भी आग लगती है। किंतु प्राय: मामलों में चाह कर अथवा अनचाहे में आग मानव द्वारा लगायी जाती है।

वनों को आग से बचाने के लिए अद्यतन तकनीकी को उपयोग में लाया जाना चाहिए। आग को बुझाने के लिए 3 मी. चौड़ी फायर लेन से छिड़काव करना चाहिए तथा यदि संभव हो, तो होलीकॉप्टर से आग बुझाना चाहिए। अग्नि पर नियंत्रण के लिए प्रशिक्षित कर्मचारी होना चाहिए।

वृक्षारोपण : धारणीय उत्पाद प्रदान प्रणाली के अंतर्गत जब भी पेड़ काटे जाते हैं, तो उनके स्थान पर नये पेड़ लगाने चाहिए। यह प्राकृतिक अथवा कृत्रिम दोनों रूप से हो सकता है। इसी प्रकार जिस वन क्षेत्र में आग लग गयी हो अथवा खनन कार्य हुआ हो, वहां वृक्षारोपण होना चाहिए। विषम क्षेत्र में वायुयान द्वारा बीज का छिड़काव किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त नये सिरे से वृक्षारोपण कार्यक्रम अपनाना चाहिए। इससे वन क्षेत्र में विस्तार होने से पर्यावरण संरक्षण होगा। वृक्षों का चयन स्थानीय भौगोलिक स्थिति के अनुरूप होना चाहिए। शुरू में पौधों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

कृषि एवं अन्य कार्यों हेतु वन की कटाई पर नियंत्रण : आज का अधिकांश कृषि क्षेत्र कभी वन क्षेत्र था जिनका उपयोग कृषि के लिए किया गया। विगत 50 वर्षों में जनसंख्या कई गुना बढ़ गयी है जिससे खाद्यान्न की मांग बढ़ी है। फलस्वरूप दुर्गम वन क्षेत्रों की भी कृषि कार्य के लिए कटाई हुई है। अब स्थिति विस्फोटक हो गयी है। विश्व के कई जनजातीय क्षेत्रों में अभी भी स्थानांतरित कृषि होती है। एक अनुमान के आधार पर इन जनजातियों के द्वारा 4 करोड़ वर्ग किमी. भूमि का उपयोग किया जाता है। वन संरक्षण के लिए इस पद्धति को निरस्त कर देना चाहिए तथा इसके स्थान पर वैकल्पिक पद्धति अपनाना चाहिए। गांव, शहर और नगर के विकास के लिए वन क्षेत्रों की कटाई हुई है। इस पर रोक लगाना चाहिए और शहर के चारों ओर हरित पट्टी का विकास किया जाना चाहिए।

CHRONICLE IAS ACADEMY

वर्तमान वन की सुरक्षा : वर्तमान वन की पूर्ण सुरक्षा होनी चाहिए। अनियंत्रित चराई तथा व्यवसायिक उपयोग के लिए वनों की कटाई से वन विनाश तेजी से होता है। वन में कीट, परजीवी इत्यादि से कई प्रकार की बीमारियां फैलती हैं, जिससे वन नष्ट होते हैं। वनों में रासायनिक पदार्थों का छिड़काव तथा एंटीबायोटिक का उपयोग नहीं होना चाहिए। सामान्यतया वृक्षों की कटाई लकड़ी प्राप्त करने के लिए की जाती है। तने को ले लिया जाता है तथा वृक्ष के अन्य भागों के भी उपयोग के तरीके ढूंढे गये हैं। तकनीकी विकास के इस युग में यह संभव है। सिर्फ इसे बात की आवश्यकता है कि पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने के लिए वनों का संरक्षण आवश्यक है।

वन प्रबंधन

वन प्रबंधन वन संरक्षण का सबसे महत्वपूर्ण अवयव है। वनों के सर्वेक्षण, वर्गीकरण, आर्थिक उपयोग, प्रबंधन के लिए प्रशासनिक ढांचा, संरक्षण से जुड़े लोगों के लिए प्रशिक्षण इत्यादि पर वन प्रबंधन के तहत विचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामाजिक और कृषि वानिकी की शुरुआत, संरक्षण हेतु नयी तकनीक का विकास, नीतिगत निर्णय तथा उचित कार्यान्वयन होने चाहिए।

सरकार की भूमिका

यद्यपि प्रत्येक देश की सरकार वन के संरक्षण के लिए नियम, कानून और प्रावधान बनाये हैं, तथापि इनको अमल में लाना अनिवार्य है। केंद्र तथा राज्य सरकार संरक्षण के लिए ठोस कदम उठा सकते हैं। इसके तहत संरक्षण, सामाजिक वानिकी एवं कृषि वानिकी को बढ़ावा देना, वृक्षारोपण के लिए क्षेत्र की पहचान, व्यवसायिक उपयोग पर नियंत्रण, राष्ट्रीय पार्क का विकास तथा संरक्षण तथा अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लाभ के लिए मास्टर प्लान तैयार किया जा सकता है।

वन-समवर्ती सूची का विषय

सन् 1976 में पहले वन संविधान की राज्य सूची का विषय था, अर्थात् इसका प्रबंधन व प्रशासन राज्यों के हाथ में था किन्तु अनियंत्रित निर्वनीकरण को देखते हुये संसद ने 42 वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा वनों का समवर्ती सूची में डाल दिया, जिससे कि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें दोनों मिलकर वनों के संरक्षण व संवर्द्धन का कार्य कर सके।

मृदा संरक्षण

मृदा पृथ्वी का सबसे ऊपरी अंश है, जो सभी प्रकार के जीवन को सहयोग देती है। सभी पेड़ की जड़ मिट्टी से पौधों के लिए जीवन दायी नमी तथा पोषक तत्व प्राप्त होते हैं। वस्तुत: सभी प्रकार के पार्थिव जीवन का आदि- अंत मिट्टी से ही होता है। यदि देश की मिट्टी उपजाऊ है, तो देश मजबूत तथा संपन्न बना रहेगा। यदि यह संसाधन जनसंख्या के दबाव अथवा कुप्रबंधन से कमजोर होगा, तो राष्ट्र का अस्तित्व भी खतरे में रहेगा।

मिट्टी का अपक्षय चाहे वह प्राकृतिक कारण अथवा कुप्रबंधन से होता है, तो वह समस्त पर्यावरण के लिए खतरनाक है। अतएव संरक्षण के प्रति लोग सचेष्ट हो गये हैं। किंतु अवैज्ञानिक रूप से संसाधनों के दोहन के कारण समस्या गंभीर हो गयी हैं।

सामान्य रूप से होने वाले अपरदन से उतना खतरा नहीं है जितना कि जल द्वारा मिट्टी अपरदन की घटना व्यापक है और इससे मिट्टी की उर्वराशक्ति नष्ट होती है। जल द्वारा मृदा अपरदन के चार प्रकार हैं: परत अपरदन, रिल अपरदन, नाली अपरदन तथा रिपेरियन अपरदन। मृदा अपरदन का दूसरा कारक वायु है। वायु शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में अपरदन में सहायक है। इसमें मानवीय गतिविधियों के द्वारा वृद्धि होती है। ये हैं: वनों की कटाई, चराई, खनन, अवैज्ञानिक कृषि पद्धति इत्यादि। मृदा अपरदन की घटना अब वैश्विक घटना हो गयी है। अत: संरक्षण आवश्यक है।

रासायनिक उर्वरक : रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग पर पर्यावरणीय अड़चनों के बावजूद इनका बेतहाशा प्रयोग हो रहा है। शताब्दी के अंत तक औसतन प्रति हैक्टेयर 91 किग्रा. रासायनिक उर्वरक प्रयोग में लाये जाते थे, जो कि 1970 के दशक में किये जाने वाले प्रयोग से एक तिहाई अधिक है। स्विटजरलैंड में प्रति हैक्टेयर 700 किग्रा. तक उपयोग किया जाता है। विकासशील देशों में 1980 तथा 1990 के बीच उर्वरक के प्रयोग में 42 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उर्वरक का उपयोग और उत्पादन एशिया में सबसे अधिक होता है। खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुमान के अनुसार दक्षिण के देशों में प्रतिवर्ष इसके प्रयोग में 2.8 प्रतिशत की वृद्धि होगी। वर्तमान में प्रति हैक्टेयर 99 किग्रा का प्रयोग होता है।

मृदा संरक्षण के उपाय

मृदा अपरदन एक प्राकृतिक घटना है किंतु जब इस प्रक्रिया में मानवीय गतिविधियों के कारण बढ़ोत्तरी होती है, तो वह समस्या का रूप ले लेती है। भूमि प्रबंधन तथा मानवीय गतिविधियों में परिवर्तन के द्वारा संरक्षण संभव है। मृदा अपरदन को कम करने के तरीके निम्नलिखित हैं:

कन्टूर कृषि : ढलान के आर-पार जुताई, बुआई तथा कटाई की जानी चाहिए न कि ढलान के अनुरूप। पहाड़ी के मोड़ के अनुरूप जुताई से मृदा संरक्षण संभव है।

धारीदार फसल : धारीदार फसल लगाने से मृदा संरक्षण संभव है। इसके लिए ढाल की चौड़ाई उसकी लंबाई के व्युत्क्रमानुपाती होना चाहिए। फसल चक्र के द्वारा मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ा कर संरक्षण किया जा सकता है।

सीढ़ीनुमा खेती : ढाल के आर-पार सीढ़ी बनाकर जल प्रवाह की गति को कम किया जा सकता है, जिससे मिट्टी का अपरदन रुक सकता है। सीढ़ी को टूटने से पहले उसे इतना मजबूत होना चाहिए कि वह पानी के बहाव को कम कर सके।

छाया पट्टी बनाना : यह वृक्षों की हरित पट्टी है, जो वायु की गति को कम करती है। इससे मिट्टी के अपरदन पर अंकुश लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष के कारण हरियाली बनी रहती है तथा मरुभूमि के विस्तार को रोका जा सकता है। यदि स्थानीय झाड़ी और पौधों को ढंग से लगाया जाये, तो मिट्टी के अपरदन को रोका जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मृदा संरक्षण के लिए वनों का विकास, चरने पर नियंत्रण, स्थानांतरित कृषि पर रोक तथा मिट्टी की उर्वरकता बनाये रखना आवश्यक है।

जल संरक्षण

जल परिस्थितिकी का अभिन्न अंग है। जल ही जीवन है। एक व्यक्ति प्रति दिन औसतन 40-50 लीटर जल खर्च करता है। पीने के अतिरिक्त जल का उपयोग कृषि एवं औद्योगिक कार्यों में होता है। एक हेक्टेयर में कृषि के लिए वर्ष में 12,000 घन मी. से 14000 घन मी. पानी लगता है। मानसून हमारे देश में जल का मुख्य स्रोत है। समुद्र में जल का विपुल भंडार है किंतु लवणीयता के कारण इस विपुल राशि का उपयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार अन्य खारे जल क्षेत्रों का उपयोग नहीं हो पाता। जल का अभाव है। जल की उपलब्धता होने पर उपभोक्ता इसका सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। अत: संरक्षण दुनिया के सभी देशों के लिए आवश्यक है, ताकि जल की आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।

कैसे हो जल समस्या का निदान

- जल वितरण प्रणाली: सर्वप्रथम उचित जल वितरण प्रणाली का होना आवश्यक है। जल वितरण प्रणाली प्रदूषण मुक्त तथा जल नष्ट न

होने देने वाली होनी चाहिए। क्षेत्रीय परिस्थिति के अनुरूप वितरण प्रणाली होनी चाहिए। इसके लिए कुछ सामान्य उपाय हैं:

(क) जहां तक हो, जल वितरण पाईप के द्वारा होना चाहिए, जिससे कम से कम की क्षति हो तथा जल प्रदूषण मुक्त रहे।

(ख) यदि जल भंडार क्षेत्र छोटा है, तो उसे सीमेंटेड रहना चाहिए। यदि वह बड़ा है, तो उसमें अवशोषी चट्टानें नहीं होनी चाहिए।

(ग) सीमेंटेड नाला होना चाहिए। खुले मैदान में भी पाईप अथवा नाला होना चाहिए।

(घ) फब्बारा से सिंचाई कार्य करना चाहिए।

- गंदे जल का सदुपयोग : गंदे जल का सदुपयोग स्वच्छ जल के भविष्य में उपयोग की दृष्टि से करना चाहिए। जल परिशोधन पद्धति का उपयोग करना चाहिए, ताकि गंदे जल का उपयोग कृषि कार्य में किया जा सके। गंदे जल के शोधन के लिए कई उपकरण हैं। इनमें से कई खर्चीले भी हैं। किंतु सरकारी अभिकरणों तथा औद्योगिक इकाइयों को शोधन संयंत्र लगना चाहिए। गंदे जल का उपयोग औद्योगिक कार्यों में किया जा सकता है। इस प्रकार स्वच्छ जल का अन्य उपयोग किया जा सकता है।
- भूमिगत जल का विवेकपूर्ण उपयोग : भूमिगत जल शुष्क प्रदेशों में जल का मुख्य स्रोत है। लोगों में यह गलत धारणा व्याप्त है कि हमारी सुरसा के मुंह की भांति फैल रही लिप्सा को भूमिगत जल तृप्त कर पायेगा। इस प्रकार भूमिगत जल का अत्यधिक दोहन हुआ है। भूमिगत जल के बेतहाशा दोहन के परिणामस्वरूप जल स्तर नीचे चला गया और खारा जल उसका स्थान ले लिया। इससे भूमि के अपनानी चाहिए।

इस्तांबुल में संपन्न हुआ पांचवा जल महाधिवेशन

21वीं सदी को जल शताब्दी के रूप में मनाने की घोषणा की गयी है। इस सदी की सबसे बड़ी पर्यावरणीय चिन्ता का कारण है जल संसाधन की सुरक्षा। इस उद्देश्य तुर्की के इस्तांबुल शहर मे 16 से 22 मार्च 2009 तक वर्ल्ड वॉटर फोरम का पाँचवा अधिवेशन आयोजित किया गया। इसमें 192 देशों के 33000 प्रतिनिधियों में भाग लिया।

वर्ल्ड वाटर फोरम का पहला महाधिवेशन सन् 1997 में मोरक्को में आयोजित किया गया था। इसके तत्वाधान में प्रत्येक तीसरे वर्ष वर्ल्ड वाटर फोरम का महाधिवेशन बुलाया जाता है। इस्तांबुल में संपन्न पाँचवें वर्ल्ड वाटर फोरम में निम्नलिखित बातों पर महत्व दिया गया:

- दुनिया भर में जल संपदा के संरक्षण हेतु सामूहिक कार्यवाही करने के उद्देश्य से एक नेटवर्क तैयार किया जाय,
- प्राणिमात्र के लिए जल सुनिश्चित करने के लिए एकीकृत कदम उठाए जाएं,
- इस समय संसार में जल-संकट उत्पन्न होता जा रहा है, जिसका सही समाधान ढूंढ़ना प्रत्येक मनुष्य का दायित्व है,
- एक देश से दूसरे देश में प्रवाहित होनेवाली नदियों के जल प्रबंधन की समस्या का अविलंब निदान ढूंढ़ा जाना चाहिए,
- भूमिगत जल का संरक्षण करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि अन्य जल,
- जल-संरक्षण हेतु नयी साझेदारी विकसित करने की आवश्यकता है ताकि जल से जुड़ी सेवाओं का सही ढंग से निष्पादन कर पाना संभव हो सके।

- प्रदूषण मुक्त जल : जल की उपलब्धता के साथ-साथ इसे प्रदूषण मुक्त भी होना चाहिए। इसके लिए कई तकनीकें उपलब्ध हैं। यथा-जल विच्छेद, विद्युत विच्छेद, आयन विनिमय, अवशोषण, क्लोरीकरण, ओजोनीकरण इत्यादि। इसके अतिरिक्त समुद्री जल के खारेपन को दूर करके उसे पेय बनाया जा सकता है। जल संरक्षण के साथ-साथ इसके विवेकपूर्ण उपयोग को ध्यान में रखना चाहिए।
- वन विनाश पर रोक : सघन वन से जलवायु अनुकूल रहती है। वनस्पति का नाश सूखा, अनावृष्टि तथा जल स्तर में कमी के कारण होता है। वायुमंडल में आर्द्रता बनाये रखने के साथ-साथ वर्षा में मदद तथा वाष्पीकरण की गति को कम करने में वन सहायक है।

वन्य जीव संरक्षण

वन्य जीवन भी पारिस्थितिकी संतुलन के लिए महत्वपूर्ण हैं। इसके आर्थिक एवं सौन्दर्य मूलक उपयोग हैं। एक समय था, जब वन में मानवीय हस्तक्षेप कम था तथा वन्य प्राणियों की अधिकता थी। उस समय संरक्षण की कोई समस्या नहीं थी। कृषि, उद्योग, निवास क्षेत्र में विकास के साथ वन्य जीवन पर प्रतिकूल असर पड़ा। मानव की लिप्सा के कारण प्राणियों की संख्या में कमी आयी। इसके अतिरिक्त वन्य जीवन विनष्ट होने के कई कारण हैं। पशुओं के मांस, हड्डी, त्वचा, दांत तथा बाल के लिए व्यापक स्तर पर उनकी हत्या होती है। अत: इनके संरक्षण की आवश्यकता है।

कृषि के विस्तार, पशुपालन, शहरों के निर्माण, सड़क निर्माण, प्रदूषण, जंगली आग तथा जनसंख्या वृद्धि का प्रतिकूल असर वन्य जीवन पर पड़ा। संरक्षण का तात्पर्य यह नहीं है कि आंख मूंद कर सभी प्रकार के वन्य प्रजातियों की सुरक्षा की जाये। इसका तात्पर्य यह है कि उनका विवेकपूर्ण उपयोग हो।

प्राकृतिक एवं जैव संपदाओं का अविवेकपूर्ण दोहन से अधिकांश वन्य प्रजातियां लुप्त हो गयीं। उनकी संख्या में दिनानुदिन कमी आती जा रही है। इस प्रवृति को रोकने के लिए कई प्रयास किये गये हैं। वन्य जीवन के संवर्द्धन के लिए विश्व वन्य जीवन निधि की स्थापना की गयी है। इस कार्य हेतु राष्ट्रीय अभिकरण भी हैं। इस दिशा में किये जाने वाले प्रयास निम्नलिखित हैं:

- वन्य प्राणियों के आयात-निर्यात पर प्रतिबंध लगा हुआ है। इस कार्य में संलग्न लोगों को दंडित करने का प्रावधान है।
- विशिष्ट प्राणियों अथवा सभी के लिए खेल अभ्यारण्य की स्थापना की जानी चाहिए।
- जिन प्राणियों की संख्या में कमी आ रही है, उनके संरक्षण के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता है।
- वन्य जीवन के संरक्षण हेतु राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय स्तर पर जागृत की आवश्यकता है।
- वन्य प्राणियों की संख्या एवं वृद्धि संबंधी सभी प्रकार की सूचनाएं उपलब्ध होनी चाहिए।
- वनों की सुरक्षा के माध्यम से प्राणियों के प्राकृतिक निवास स्थल की सुरक्षा होनी चाहिए।
- वन क्षेत्र का परिसीमन होना चाहिए।
- वन्य जीवन को प्रदूषण तथा वाह्य खतरों से बचाना चाहिए।
- वन्य प्राणियों के शिकार पर पूर्ण प्रतिबंध होना चाहिए।

भारत में वन्य प्राणियों के संरक्षण हेतु विभिन्न उपाय किए गये हैं। यहां 500 से अधिक प्रकार के वन्य पशु, 200 प्रकार के पक्षी, 20000 प्रकार के सरिसृप तथा अनेक प्रकार के मत्स्य पाये जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत में 200 प्रकार के वन्य पशु तथा पक्षी नष्ट हो चुके हैं। 2500 प्रजातियां नष्ट होने के कगार पर हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं-कृष्ण मृग, चिंकारा,

CHRONICLE IAS ACADEMY

भेड़िया, कस्तूरी मृग, नीलगाय, भारतीय हिरण, तेंदुआ, बाघ, गैंडा, गिर वन के सिंह, घड़ियाल, बाज, श्वेत सारस, पहाड़ी मोर इत्यादि। भारत में गैर-सरकारी संगठन तथा सरकार ने अधिनियम 1972 में वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए कई प्रावधान किये हैं। कई खेल अभ्यारण्य तथा राष्ट्रीय पार्को की स्थापना की गयी है। प्रत्येक वर्ष 7 अक्टूबर से वन्य जीवन संरक्षण सप्ताह मनाया जाता है। फिर भी अभी बहुत कुछ प्रयास करना शेष है।

वन्य जीवन संरक्षण रणनीति, 2002

प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में वन्य जीवन विशेषज्ञों से गठित भारतीय वन्य जीवन बोर्ड (IBWL) की जनवरी 2002 में नयी दिल्ली में आयोजित बैठक में निम्नलिखित संस्तुतियां प्रस्तुत की गयीं:

- एक वन आयोग की स्थापना।
- वन्य जीवन को प्राथमिक सैक्टर का दर्जा।
- राष्ट्रीय वन्य जीवन कार्य योजना: 2002-2016 का उद्घाटन।
- संरक्षित क्षेत्र के बाहर सिर्फ छोटे वन्य जीवन उत्पाद की पहुंच।
- संरक्षित क्षेत्र के अतिक्रमण पर रोक।
- वन कर्मचारियों के 2000 से अधिक रिक्त स्थानों की आपूर्ति।
- राष्ट्रीय पार्क तथा अभ्यारण्य से दस किलोमीटर की सीमा को अधिसूचित करना।
- बोर्ड की समय-समय पर बैठक।

ऊर्जा संसाधन संरक्षण

विश्व के 90 प्रतिशत प्रतिशत ऊर्जा आपूर्ति जीवाश्म संसाधन, तेल, कोयला, गैस तथा यूरेनियम से होती है। सिर्फ गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोतों से 10 प्रतिशत की आपूर्ति होती है। जिसमें सौर एवं पवन ऊर्जा का योगदान 1 प्रतिशत से कम है।

यदि खपत पर अंकुश नहीं लगाया, तो परंपरागत ऊर्जा स्रोत नष्ट हो जायेगा। इससे जल प्रदूषित होता है। इसके अतिरिक्त इस पर खर्च भी काफी होता है। इन तीनों बिंदुओं को ध्यान में रखकर गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोत के उपयोग पर विचार करना चाहिए।

ऊर्जा का उपयोग दिनानुदिन बढ़ते जा रहा है। ऐसी दशा में कुछ वर्षों के बाद तेल का भंडार नष्ट हो जायेगा और सन् 2200 के बाद कोयले का भंडार भी नष्ट हो जायेगा।

संरक्षण फार्मूला का उपयोग, कोयला, पैट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैसों के संरक्षण के लिए किया जाना चाहिए। ताकि इनका अधिक दिनों तक उपयोग होता रहे। आधुनिक तकनीक के जरिये खदान में कोयले की बरबादी को रोकना चाहिए। गैसीकरण विधि से गहरी खुदाई हो सकती है। कोयले को वर्गीकृत करना चाहिए। इसके लिए बेहतर परिवहन तथा विपणन की व्यवस्था होनी चाहिए।

पैट्रोलियम तथा खनिज तेलों का संरक्षण समय की मांग है क्योंकि इनके भंडार सीमित हैं तथा इनके उपयोग में दिनानुदिन बढ़ोतरी हो रही है। पट्रोलियम के संरक्षण के लिए निम्नलिखित उपाय हैं:

(i) ऐसे इंजनों के विकास करना जिससे तेल की खपत कम हो।

(ii) नये संसाधनों की खोज के लिए गहन सर्वेक्षण।

(iii) नये क्षेत्रों के दोहन।

(iv) पैट्रो उत्पादन के उपयोग में कमी के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग।

(अ) इस क्षेत्र में कार्यरत शोध संस्थाओं को नये क्षेत्रों में अपने कार्य में बढ़ोतरी करनी चाहिए।

जैव ईंधन पर भारत में राष्ट्रीय नीति का निर्माण

जैव ईंधन को बढ़ावा देने के लिए एक राष्ट्रीय नीति बनाई गयी है। ईंधन के लिए प्रयुक्त डीजल के बदले जैव ईंधन प्रयुक्त किया जाएगा। जिस तरह पेट्रोल में इथनॉल मिलाया गया, उसी आधार पर डीजल में अगले तीन वर्षों तक 5 प्रतिशत तथा वर्ष 2070 तक 20 प्रतिशत जैव ईंधन प्रयोग करने पर जोर दिया गया है।

जैव ईंधन भारत के लिए अनिवार्य है, क्योंकि तेल आयात में 90,000 करोड़ खर्च करना पड़ता है। वर्ष 2000 में 90 मिलियन टन (कुल खपत का 64%) आयात किया गया। भारत में तेल उत्पादन मात्र 32 मिलियन टन है। जैव ईंधन से तेल सुरक्षा के साथ ग्रामीण आय तथा रोजगार में वृद्धि हो सकेगी और उसके साथ वातावरण भी प्रदूषित नहीं होगा। आशा है इस नीति से पर्यावरण सरंक्षण के साथ-साथ बेरोजगारी भी दूर होगी।

ऊर्जा संकट का समाधान गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोत के उपयोग द्वारा कुछ हद तक संभव है। इसके अंतर्गत सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, ज्वारीय ऊर्जा, जल विद्युत, समुद्र ऊर्जा तथा भू-ताप ऊर्जा के स्रोत हैं। गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोतों को 'भविष्य का ऊर्जा स्रोत' कहते हैं क्योंकि ये अक्षय हैं तथा CO_2 का उत्सर्जन नहीं करते हैं।

भारत और एल नीनो

एल नीनो शीतोष्ण प्रशांत समुद्र क्षेत्र के वायुमंडल में हलचल को कहते हैं। हाल ही में अमरीका के राष्ट्रीय समुद्र एवं वायुमंडल प्रशासन (NPAA) की रिपोर्ट के अनुसार फरवरी 2002 में दक्षिणी अमरीका के समुद्र तट के निकट तापमान 2^0c बढ़ गया। इससे प्रशांत में अल नीनो के संकेत मिलते हैं।

एल नीनो होने पर, वर्तमान व्यापारिक पवन कमजोर हो जाती है तथा विषुवत रेखीय तरंग मजबूत हो जाती है, जिससे इंडोनेशिया से लेकर पेरु तक समुद्र के जल का तापमान बढ़ जाता है। इसका व्यापक असर वायु, समुद्री तापमान तथा प्रशांत के शीतोष्ण रुझान पर पड़ता है। इसके कारण सूखे बाढ़

एल नीनो के कारण भारत में सूखे की स्थिति

वर्ष	मानक मानसूनी वर्षा में कमी (प्रतिशत में)
1877	3.0
1899	2.7
1905	1.6
1911	1.4
1918	2.4
1928	1.0
1941	1.5
1951	1.4
1965	1.7
1972	1.3
1982	1.4
1987	1.3

CHRONICLE IAS ACADEMY

के संकट बढ़ जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से प्रत्येक 2 से 7 वर्ष पर एल नीनो की घटना देखी गयी है। 1997-98 में होने वाले एल नीनो से विश्व 24000 लोगों की मौत हुई तथा 340 लाख अमरीकी डालर की क्षति हुई। इसके तीन वर्ष पश्चात ला नीनो की घटना हुई जिसमें प्रशांत की पूर्वी भागों में तापमान में कमी आई।

क्या है एल-नीनो

एल-नीनो उष्ण कटिबंधीय प्रशान्त महासागर के तापमान तथा वायुमण्डलीय दशा में आने वाला एक परिवर्तन है जो वैश्विक मौसमी घटना को प्रभावित करता है। प्रत्येक पाँच से सात वर्ष पश्चात घटित होने वाली इस मौसमी परिघटना से उष्णकटिबंधीय पूर्वी प्रशांत महासागर के जलस्तर के तापमान में वृद्धि होती है। इससे पेरु एंव इक्वेडोर के तट के समानान्तर प्रशान्त महासागर में दक्षिण से उत्तर की ओर एक गर्म जलधारा प्रवाहित होने लगती है। इससे आस्ट्रेलिया तथा इण्डोनेशिया के आसपास हिन्द महासागर में सतही दबाव में वृद्धि होने लगती है तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर में व्यापारिक पवनें कमजोर पड़ने लगती है और यह पूरब की ओर मुड़ने लगती है। इसके कारण हिन्द महासागर तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर क्षेत्र से गर्म जलधारा पूर्वी प्रशान्त महासागर की ओर गतिशील हो जाती है। इससे भारत, इण्डोनेशिया, दक्षिणी पूर्वी चीन तथा पश्चिमी प्रशांत के परम्परागत वर्षा वाले क्षेत्र में मानसून कमजोर हो जाता है तथा यहाँ भंयकर सूखे का प्रकोप छा जाता है। इसके विपरीत शुष्क क्षेत्र वाले पूर्वी प्रशांत क्षेत्र मे बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इसके बाद इस संबंध में भविष्यवाणी 2000 ई. में की गयी। उस समय समुद्री जल गर्म होने लगा, आसमान में बादल छाने लगे और छिट पुट वर्षा की घटनाएं हुई। पेरू के किनारे एनकोवाइव्स मछलियां शीतोष्ण प्रजातियों द्वारा भगा दी गयी। यह एल नीनो का एक लक्षण है।

नासा के अनुमान के अनुसार व्यापारिक पवन की विपरीत दिशा में गति के कारण उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम प्रशांत महासागर में चक्रवात की घटनाएं घटित हो रही हैं। जिससे एल नीनो के पुनर्आगमन की संभावना है। इनका भारत पर व्यापक असर पड़ता है। देश में बाढ़ तथा सूखा की स्थितियां पैदा होती हैं। भारत में लगभग 60 प्रतिशत एल नीनो की घटनाओं से मानसून प्रभावित हुआ है। वर्षा के अतिरिक्त एल नीनो के अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं। सन् 1988 में उड़ीसा में लू लगने से 2000 लोगों की मौत हुई।

यद्यपि यह संकट शैशावास्था में है तथापि भारत को इससे मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। सरकार को गैर-सरकारी संगठनों तथा जन सहयोग से एक 'आपदा निवारण कार्यक्रम' बनाना चाहिए।

■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

3 ऊर्जा एवं पर्यावरण

आधुनिक समाज ऊर्जा के उत्पादन तथा उसके प्रयोग के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। हर महीने लोगों को अपने घरों में बिजली, तेल तथा गैस के प्रयोग के लिए मूल्य चुकाना पड़ता है। साथ ही जिनके पास गाड़ियां हैं, उन्हें पेट्रोल के लिए पैसा देना पड़ता है। इन खर्चों के अलावा हमें ऊर्जा के उत्पादन एवं इसके विभिन्न प्रयोगों के कारण वातावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव, अर्थात् पर्यावरण प्रदूषण के लिए भी कुछ मूल्य चुकाना पड़ता है। वायु, जल तथा भूमि पर प्रतिकूल प्रभाव ही पर्यावरण प्रदूषण है।

जीवाश्म ईंधन तथा पर्यावरण

इस समय विश्व में जितना भी ऊर्जा का उत्पादन होता है, वह मुख्यतः जीवाश्म ईंधन अर्थात कोयला, प्राकृतिक गैस तथा पेट्रोलियम उत्पादों के जलाने से प्राप्त होता है। जीवाश्म ईंधन को निकालने, उसे ढ़ोने तथा उपयोग से बहुत सी पर्यावरण संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

कोयला एक ऐसा ईंधन है, जो प्रकृति में बहुतायत में पाया जाता है। ऐंथेसाईट सबसे अच्छी किस्म का कोयला होता है। सामान्यतया इसमें सल्फर की मात्रा अधिक होती है। और इसे तब तक प्रयोग में नही लाया जा सकता, जब तक इसमें से सल्फर अलग न कर दिया जाय, किन्तु यह प्रक्रिया खर्चीली होती है। इसलिए हाल के वर्षों में निम्न गुणवत्ता वाले, किन्तु अपेक्षाकृत सल्फर रहित कोयला, जो कि भूमि के सतह के आस-पास पाया जाता है, के प्रति खनन का रुझान बढ़ा है। इस कोयले को निकालने के लिए स्ट्रिप माईनिंग तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। कोयले के स्ट्रिप माईनिंग प्रक्रिया से पर्यावरण संबंधी गंभीर समस्यायें उत्पन्न होती हैं। स्ट्रिप माईनिंग से जुड़ी एक गंभीर समस्या यह है कि इस प्रक्रिया में बहुत अधिक मात्रा में भूमि की खुदाई करने की जरूरत पड़ती है।

कोयले के विपरीत तेल निकालने के लिए स्ट्रिप माइनिंग की तरह भूमि की ज्यादा खुदाई करने की जरूरत नहीं पड़ती है। परन्तु तेल के कुएं की खुदाई से उत्पन्न होने वाली पर्यावरण सम्बन्धी गंभीर समस्याओं का प्रभाव समुद्र तटीय स्थलों पर दिखाई पड़ता है। तेल कुएं से पेट्रोलियम निकालने के दौरान समुद्र के जल में बड़ी मात्रा में तेल फैल जाता है। यह समुद्री जीव-जन्तुओं के लिए खतरनाक हो सकता है। जब तेल जल के ऊपरी सतह पर फैलता है, तो पानी में ऑक्सीजन की मात्रा समाप्त होने लगती है। फलस्वरूप मछलियों तथा अन्य जलचर जीवों को श्वास प्रक्रिया में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

विश्व का अधिकांश तेल समुद्री मार्गों से रिफाईनरियों तक पहुंचाया जाता है। जमीन पर भी तेल को पाइप द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। तेल को इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने में कभी-कभी गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस बात का डर रहता है कि यदि पाइप लाइन खाली पड़ी जमीन वाले बड़े क्षेत्र से गुजरती है, तो इस क्षेत्र का पारिस्थितिकीय सन्तुलन बिगड़ सकता है।

जीवाश्म ईंधन के जलाने से वायुमण्डल में अनेक प्रकार की जहरीली गैसें और धूल के कण फैलते हैं। इस वायुमण्डलीय प्रदूषण को फैलाने में सबसे अधिक योगदान कोयले और तेल का है। कोयले और तेल के साथ एक प्रमुख पदार्थ सल्फर की मौजूदगी है। जब सल्फर डाइऑक्साईड वायुमण्डल में छोड़ी जाती है, तो यह जलवाष्प के साथ मिलकर सल्फ्यूरिक एसिड बनाती है। सल्फ्यूरिक एसिड पौधों और प्राणी जगत के लिए अत्यंत हानिकारक है। ऐसा देखा गया है कि वायुमण्डल में मौजूद, इस अम्ल से शहरी क्षेत्रों में अनेक स्मारकों और सार्वजनिक भवनों की अत्यधिक मात्रा श्वास सम्बन्धी अनेक प्रकार की बीमारियों के उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है।

इंटरनल कंबस्टन इंजनों के पेट्रोल के जलने से कार्बन मोनोऑक्साइड, नाईट्रोजन ऑक्साईड और हाइड्रो कार्बन बड़ी मात्रा में निकलते हैं। इसके अलावा कारों में ओम्टेन पेट्रोल के इस्तेमाल से वायुमण्डल में व्यापक मात्रा में छोड़ जाता है।

कार्बन डाईऑक्साइड और कार्बन मोनोऑक्साइड के प्रभाव

प्रत्येक ईंधन के जलने की प्रक्रिया में ऑक्सीजन की खपत होती है। परिणामतः कार्बन डाईऑक्साईड गैस उत्पन्न होती है। इससे पृथ्वी पर ऑक्सीजन की कमी हो सकती है और इस प्रकार ऑक्सीजन और कार्बन डाईऑक्साईड का संतुलन बिगड़ सकता है। जबकि ऑक्सीजन पौधों और प्राणि जगत के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

कार्बन डाईऑक्साईड के अणु सूर्य की गर्मी से तपती घरती से उठने वाली ऊष्मा को एकदम से आत्मसात कर लेते हैं। कार्बन डाईऑक्साईड इस ऊर्जा को पृथ्वी के वायुमण्डल में ही रोक कर पृथ्वी से अंतरिक्ष में वापस जाने वाली ऊष्मा को कम कर देती है। यह 'ग्रीन हाऊस प्रभाव' के नाम से जानी जाती है। इस प्रभाव के कारण यह तर्क दिया जाता है कि जीवाश्म ईंधन के लगातार जलने से पृथ्वी के सतह के तापमान में काफी वृद्धि होगी। लेकिन पृथ्वी की सतह तथा निचले वायुमण्डल का तापमान बढ़ने से उत्पन्न उष्णता पर्याप्त वाष्पीकरण और बादलों के बनने से कम या संतुलित होती है।

जीवाश्म ईंधन के जलने के कारण कार्बन मोनोआक्साईड नामक एक अन्य तत्व उत्पन्न होता है। आम तौर पर, यह तब उत्पन्न होता है, जब जलने के लिए ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में न हो। यह मुख्य रूप से वाहनों में निकलने वाली गैसों के द्वारा वायुमण्डल में मिल जाती है। लेकिन इससे अभी तक कोई गम्भीर पर्यावरणीय समस्या उत्पन्न नहीं हुई है।

तापीय प्रदूषण

'थर्मल प्रदूषण' शब्द मूल रूप से पर्यावरण में छोड़ी जाने वाली अवांछित ऊष्मा के दुष्परिणामों से संबंधित है। सभी विद्युत उत्पन्न करने वाले संयंत्र (हाईड्रो इलेक्ट्रिक संयंत्रों को छोड़कर) वाष्प वाले विशाल टर्बाइन जेनरेटरों की मदद से बिजली पैदा करते हैं। वाष्प को 'प्रशीतन प्रणाली' में संघनित किया जाता है। 'प्रशीतन प्रणाली' में किसी पास के जलाशय (नदी, झील अथवा खाड़ी) में पम्प किया जाता है। और इसे पुनः वापस भेजा जाता है। यदि गर्म किये गए पानी को किसी स्थिर जलाशय जैसी फीस में छोड़ा जाता है, तो इसका परिणाम और भयंकर हो सकता है।

जलीय पर्यावरण के लिए पानी का तापमान महत्वपूर्ण घटक माना जाता है, क्योंकि यह घुलनशील ऑक्सीजन की व्यापकता, जैव रासायनिक प्रतिक्रिया की दर और जलचरों की भौतिक गतिविधियों को प्रभावित करता है। सर्वविदित है कि ऑक्सीजन पानी में नाममात्र को घुलती है। तापमान को बढ़ाने के साथ-साथ घुलनशील ऑक्सीजन की व्यापकता कम हो जाती है।

ऊर्जा उत्पादनकर्त्ता और उपभोक्ता दोनों ही थर्मल प्रदूषण पैदा करते हैं। लगभग सभी तरह की इस्तेमाल मे लायी गयी ऊर्जा अंततः ऊष्मा में

परिवर्तित हो जाती है। इसकी अधिकांश गंदगी वायु में फैल जाती है। जहां यह सामान्य वायुमण्डल की ऊष्मा को बढ़ाने में सहायक होता है।

परमाणु विकिरण और पर्यावरण

बिजली के अन्य श्रोतों के विपरीत परमाणु रिएक्टरों के कई लाभ हैं। परमाणु रिएक्टर बिना किसी धुएं और वाष्प के बिजली पैदा करते हैं, जबकि जीवश्म ईंधनों को जलाने वाले संयंत्रों से धुआं निकलना उनकी विशेषता है। इसके अलावा यूरेनियम के खनन के गांवों का बहुत कम अतिक्रमण होता है जबकि जीवश्म ईंधन विशेषकर कोयले के खान से होता है। परमाणु रिएक्टर से दीर्घावधि में साफ सुथरी बिजली मिलने की संभावना है। लेकिन परमाणु रिएक्टरों के अपने अलग तरह के नुकसान हैं, जो मुख्य रूप से रेडियोधर्मी पदार्थों के उत्पादन से जुड़े होते हैं। कुछ रेडियोधर्मी अपशिष्ट गैसों के रूप में तथा कुछ कम क्रियाशील अपशिष्ट, जैसे ठण्डे पानी में ट्रिटियम के रूप में वायु में मिल जाते हैं।

सभी रेडियोधर्मी पदार्थ हानिकारक विकिरण छोड़ते हैं, जिनमें से कुछ से मनुष्यों और पशुओं को कैंसर हो सकता है। यह जीवों में दीर्घावधि में हानिकारक प्रभाव डालकर उनकी आनुवंशिक कोशिकाओं को क्षति पहुंचा सकते हैं। किन्तु आधुनिक परमाणु रिएक्टर काफी सुरक्षित हैं। किसी परमाणु बिजली संयंत्र के पास रहने वाले व्यक्ति पर इसका उतना असर नहीं पड़ता, जितना एक्सरे और प्राकृतिक स्रोतों से निकलने वाली विकिरण से उस व्यक्ति पर जो इनके समीप रहते हैं।

भारत का सबसे भीषण परमाणु रिसाव

कलपक्कम के पुनर्ससाधन सयंत्र (कार्प) के 6 कर्मचारी जनवरी 2003 को हुए रिसाव के कारण विकिरण से पूरी तरह प्रभावित हुए। भाभा परमाणु अनुसंधान के निदेशक डा.वी. भट्टाचार्य के अनुसार यह अतीत के 40 वर्षों का सबसे भीषण विकिरण था।

ईंधनों के युक्ति संगत प्रयोग की आवश्यकता

कार, बस, ट्रक, वायुयान, ट्रेन जैसे यातायात के आधुनिक साधनों के इस्तेमाल से तथा सम्पूर्ण औद्योगिकीकरण में तेजी से वृद्धि होने से विश्व स्तर पर ऊर्जा की मांग काफी बढ़ गयी है। चूंकि यह ऊर्जा जीवाश्म ईंधन के जरिये प्राप्त होती है, अतः मौजूदा ऊर्जा का स्रोत 100 वर्षों से ज्यादा नही चल पायेगा। इसलिए विश्व को ऊर्जा स्रोतों के उपयोग के लिए एक व्याहारिक प्रस्ताव अपनाना होगा ताकि भविष्य के लिए उसके स्रोत सुरक्षित रह सकें। इस दृष्टिकोण को ऊर्जा के हमारे प्राकृतिक स्रोतों के अधिकतम इस्तेमाल के नजरिये से देखे जाने की आवश्यकता है। चूंकि भारत को अपने ऊर्जा की जरूरतों को पूरा करने के लिए आयतित तेल पर आश्रित रहना पड़ता है, अतः विवेकसम्मत होगा कि हम पेट्रोलियम उत्पादों का कम उपयोग करें। उद्योगों द्वारा कच्चे माल तथा ईंधन दोनों के रूप में पेट्रोलियम उत्पादों का बड़ी मात्रा में इस्तेमाल किया जाता है। कारों, ट्रकों और दुपहिया वाहनों में और अधिक कार्य क्षमता वाले इंजन लगाकर तथा उनका बेहतर रख-रखाव करके डीजल और पेट्रोल के उपभोग में कटौती करने की काफी गुंजाईश है।

भारत में प्राकृतिक गैस का विशाल भण्डार हैं, जो ऊर्जा का काफी साफ-सुथरा स्रोत है। मुंबई हाई तेल क्षेत्र में काफी मात्रा में गैस मौजूद है जिसे जला दिया जाता है। हाल में प्राकृतिक गैस का वाणिज्यिक तौर पर इस्तेमाल करने, विद्युत उत्पन्न करने तथा विशेषकर उत्तर-पूर्व में खाद का उत्पादन करने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं।

ऊर्जा का एक अन्य स्रोत, जिसका अधिक इस्तेमाल नहीं किया जाता है, वह हाइड्रो इलेक्ट्रिक के नाम से जाना जाता है। हाइड्रो इलेक्ट्रिक सिटी के क्षेत्र में भारत की क्षमता का उपयोग या तो नहीं किया गया है अथवा कम किया गया है। साफ-सुथरी पुनः संभरण और सस्ती ऊर्जा प्राप्त करने में इनका इस्तेमाल किया जा सकता है। देश में नदियों के किनारे बड़ी मात्रा में छोटी-छोटी जल विद्युत परियोजनाएं लगाकर काफी मात्रा में ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है।

एक वैकल्पिक ऊजा स्रोत के रूप में पवन ऊर्जा में व्यापक संभावनाएं हैं। भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड ने अनुमान लगाया है कि अकेले भारत में लगभग 20-25,000 मेगावाट तक पवन ऊर्जा को इस्तेमाल में लाए जाने की संभावना है।

विश्व बैंक और अमेरिका के ऊर्जा विभाग द्वारा किये गये अध्ययन से पता चलता है कि उन विकासशील देशों में भारत का स्थान काफी ऊंचा है, जहां वायु ऊर्जा उत्पादन के क्षेत्र में अधिक आशावान भूमिका निभा सकती है। भारत के अनेक भागों में वायु चलित विद्युत जेनरेटरों का सफलता पूर्वक उपयोग किया जा रहा है। पवन ऊर्जा प्रदूषण रहित एवं सस्ती अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत है।

देश में ऊर्जा की अधिकांश जरूरत को ईंधन लकड़ी द्वारा पूरा किया जाता है। इसके लिए वृक्षों को काटना पड़ता है, जिसके कारण वनों की कटाई, मृदा अपरदन और बाढ़ आती है। इसे रोकने तथा वनों को बचाने के लिए एक व्यापक वृक्षारोपण कार्यक्रम की आवश्यकता है। जहां तक संभव हो ऊर्जा के अन्य अपारंपरिक स्रोतों के इस्तेमाल को अवश्य रोका जाना चाहिए।

लोगों को न केवल हमारे ऊर्जा स्रोतों को समझदारी पूर्वक इस्तेमाल करना होगा, बल्कि अपव्यय को रोकने पर भी व्यापक जोर देना होगा। हमारी रोजमर्रा की गतिविधियों पर एक नजर डालने से पता चलता है कि ऊर्जा का कई रूपों में अपव्यय होता है। असावधानीपूर्वक आदतें, जैसे, लाईट, पंखे और अन्य इलेक्ट्रानिक्स इत्यादि को बन्द न करना, जबकि कमरे मे कोई मौजूद न हो। सड़क पर किसी मित्र से बात करते समय कार अथवा स्कूटरों के इंजन को बंद न करने के कारण ऊर्जा का अपव्यय होता है। हमें उन अनेक तरीकों के बारे में जानना होगा, जिनके कारण घरों और वाणिज्यिक स्थलों पर ऊर्जा का अपव्यय होता है।

इस बात को देखते हुए कि ऊर्जा का संकट हमारे समक्ष खड़ा है, ऊर्जा के थोड़े से अंश की बचत भी महत्वपूर्ण है। इस बचाई हुई ऊर्जा का उपयोग भविष्य में अच्छे कार्य में किया जा सकता है। यह याद रखना होगा कि ऊर्जा की बचत ही ऊर्जा का उत्पादन है।

अपारंपरिक ऊर्जा

ऊर्जा के पारंपरिक स्वरूपों तथा ऊर्जा के आपारंपरिक स्रोतों में प्रायः भेद किया जाता है। पारंपरिक स्रोत मुख्य रुप से बायोगैस ईंधन के इस्तेमाल से संबंधित हैं, जिनका उपयोग खाना पकाने और जगह को गर्म करने के प्रयोग में किया जाता है। इनमें परिवर्तन की कम गुंजाइश होती है। जबकि नये अपारंपरिक ऊर्जा स्रोतों को प्रौद्योगिकीय के माध्यम से हाल में तैयार किया जाता है और इनको जीवाश्म ईंधनों पर आधारित पारंपरिक ऊर्जा स्रोत के विकल्प के रूप में माना जा रहा है।

प्रौद्योगिकीय विकास के पूर्व विश्व के अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जा चुका है। वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय विकास ने कोयले और हाइड्रोकार्बन के व्यापक इस्तेमाल को बढ़ावा दिया है। समय के साथ-साथ ईंधन ऊर्जा प्रयोग में वृद्धि हुई है। वाणिज्यिक ऊर्जा के विकास के शुरुआती चरण में, इसके प्रयोग की दर काफी कम थी। किन्तु औद्योगीकरण की प्रक्रिया, जो 19वीं सदी के मध्य में प्रारंभ हुई थी, उसके चलते जीवाश्म ईंधनों के उपयोग में काफी तेजी से वृद्धि हुई है।

जीवाश्म ईंधन के प्रयोग का पर्यावरण पर दुष्प्रभाव, वैश्विक एवं स्थानीय दोनों, स्तरों पर पड़ता है। सन 1992 में रियो सम्मेलन में ग्रीन

हाऊस गैस उत्सर्जन में कमी का संकल्प लिया गया था। जीवाश्म ईंधन के प्रयोग में कमी के द्वारा कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन में कमी जायी जा सकती है। कार्बन- डाईऑक्साइड का ग्रीन हाऊस प्रभाव में सर्वाधिक योगदान है।

जीवाश्म ईंधन के प्रयोग में बढ़ोतरी से वैश्विक तेल बाजार पर असर पड़ा है। तेल की मांग में बढ़ोत्तरी से तेल उत्पादक देशों का विश्व बाजार में प्रभाव बढ़ा है। कई विषम राजनैतिक क्रिया- कलापों के फलस्वरुप भी तेल के मूल्य का असर 1973-74 ई. तथा 1979-80 ई. में विश्व बाजार पर व्यापक रूप से पड़ा।

भारत अभी भी पारंपरिक ईंधन का अधिक प्रयोग कर रहा है। जनसंख्या बढ़ने तथा तदनुरूप पारंपरिक ईंधन की आपूर्ति में कमी के कारण भारत में समस्या विकराल होती जा रही है। इसका निदान न तो खोजा गया और न ही निकट भविष्य में मिलने की संभावना है।

गैर-अपारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के विकास के लिए गंभीर प्रयास किये जा रहे हैं। कार्यक्रम सर्वप्रथम भारत सरकार के विज्ञान एवं तकनीकी विभाग द्वारा प्रारंभ किया गया। तदन्तर इसे सन् 1990 में गठित अलग मंत्रालय, गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय के द्वारा आगे बढ़ाया गया।

इस क्षेत्र में संभावनाओं के विकास के प्रयास किये जा रहे हैं। आने वाले वर्षों में इस दिशा में गहन प्रयास की आवश्यकता है क्योंकि व्यवासायिक ऊर्जा की समस्या गंभीर होते जा रही है। इस हेतु उपकरणों की व्यापक खरीदारी, प्रतियोगी निविदाओं के आमंत्रण तथा निष्पादन मानदंडों के पालन द्वारा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

इस ऊर्जा का उपयोग एवं विकास के समय देश में ऊर्जा उपयोग के समग्र दृष्टि को ध्यान में रख कर किया जायेगा। इस संदर्भ में मूल्य तथा संस्थागत मुद्दों को ध्यान में रखना आवश्यक है। भारत में अब-पुनरोपयोगी/गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोतों के उपयोग के लिए प्रोद्यौगिकियों के इस्तेमाल का बहुत बढ़िया अनुसंधान एवं विकास आधार तैयार कर लिया गया है। जिसमें उन्नत चूल्हें, बायोगैस संयंत्र, जल्दी उगने वाली ईंधन वृक्ष प्रजातियां, बायोमास गैसीफायर्स, सौर ताप एवं फोटोवोल्टेइक प्रणालियां, पवन ऊर्जा फार्म, बायोमास सहित सह-उत्पादन, छोटी लघु पनबिजली प्रणालियां, शहरी, नगरी एवं औद्योगिक कचरे से ऊर्जा प्राप्ति, हाइड्रोजन ऊर्जा, समुद्री ऊर्जा, ईंधन-सैल, इलेक्ट्रावेनस तथा गैसोहाल शामिल हैं। भारत फोटोवोल्टेइक (पी.वी.) माड्यूल्स और सोलर सैल के उत्पादन में विश्व का चौथा सबसे बड़ा देश है।

कचरे से विद्युत निर्माण

शहरी एंव औद्योगिक कचरे के ऊर्जा प्राप्त करने के राष्ट्रीय कार्यक्रम के अतंर्गत गैर परंपरागत ऊर्जा स्रोत मंत्रालय द्वारा ऐसी तकनीकों एवं प्रणालियों को बढ़ावा दिया जाता हैं जिनसे ऊर्जा हासिल करने के साथ-साथ कचरे में कमी, पर्यावरण प्रदूषण से मुक्ति तथा उपयोगी ऊर्जा, बिजली प्राप्त होती हैं। भारत के शहरी क्षेत्र प्रतिवर्ष लगभग पाँच करोड़ टन ठोस कचरे तथा छह हजार मिलियन टन तरल कचरा निकालते हैं। इसमें 2900 मेगावाट विद्युत उत्पादन की क्षमता है, जिसे 2017 तक 5600 मेगावाट तक पहुँचाने का लक्ष्य है।

देश में औद्योगिक कचरे से 1300 मेगावाट विघुत उत्पादन की क्षमता है। देश में इस समय लगभग 200 शराब के कारखाने हैं जिनमें प्रदूषित जल उपचार संयंत्र लगे हैं। ये बड़े पैमाने पर बायोगैस पैदा करते हैं, जिसमें 200 मेगावाट विघुत प्रसँस्करण, मुर्गीपालन, चर्मशोधन,पल्प तथा, तेल मिलों तथा भेजज उद्योग आदि में बायोगैस/विद्युत उत्पादन परियोजनायें स्थापित की जा रही हैं।

जैव ऊर्जा

जैव ऊर्जा संसाधन का उपयोग मूलत: विकासशील देशों के ग्रामीण क्षेत्रों में खासकर घरेलू कार्यों ऊर्जा की आवश्यकता की पूर्ति करने में किया जाता है। जैव ऊर्जा से विश्व की 14 प्रतिशत ऊर्जा की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। विकासशील देशों में खाना पकाने के लिए जलावन का उपयोग किया जाता है। जलावन से विश्व की ऊर्जा की 35 प्रतिशत प्राथमिक आवश्यकता भविष्य में भी बनी रहेगी।

भारत एक समशीतोष्ण देश है। इसमें सूर्य की खुली रोशनी, उच्च तापमान, कृषि कार्य हेतु जल उपलब्ध हैं। इन सुविधाओं का अत्यधिक उपयोग प्रदूषित पदार्थों के प्रबंधन में किया जा सकता है। सूर्य की पृथ्वी पर पड़ने वाली कुल ऊर्जा का (3×10^{24}) का 0.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष पौधों द्वारा उपयोग में लाया जाता है। जिससे प्रतिवर्ष 2×10^{11} टन जैव पदार्थों का निर्माण होता है। इनके ऊर्जा का मान 2×10^{12} है। कुल ऊर्जा (3×20^{12}) का उपयोग होता है। देश में सूर्य का प्रकाश स्पष्ट रूप से पड़ता है। देश में 250-300 दिन स्पष्ट सूर्य की रोशनी पड़ती है जिससे 60×10^{13} MWH सौर्य विकिरण प्राप्त होता है।

बूचड़खाने के गंदे पदार्थ, जंतुओं के शव, मत्स्य उद्योग के गंदे पदार्थ, चमड़े उद्योग के प्रदूषित पदार्थ तथा लकड़ी के प्रदूषण सहित जंतुओं द्वारा प्राप्त 45 MTA प्रदूषित पदार्थ उत्सर्जित होता है। प्रत्येक वर्ष 85–5×106 टन औद्योगिक कचरा, प्राप्त होता है।

शहर की प्रदूषित पदार्थों में 46.5 प्रतिवर्ष जैव पदार्थ से 6 प्रतिशत कागज से, 0.7 प्रतिशत शीशा से, 3.2 प्रतिशत कचरा से, 1 प्रतिशत प्लास्टिक से तथा 43 प्रतिशत नमी से प्राप्त होते हैं।

गंदे जल प्रबंधन के अंतर्गत गंदे जल की मात्रा में कमी, जल में गंदगी की मात्रा में कमी तथा उस गंदगी से उत्पन्न अन्य प्रभावों में कमी आते हैं। परिशोधन, गंदगी कम करने वाले तालाब, छन्ना तथा सक्रिय सलग प्रणाली के चयन में भूमि की आवश्यकता, विश्वसनीयता परिचालन सुविधा इत्यादि को ध्यान में रखना चाहिए।

जल के शोधन से मीथेन, उर्वरक तथा सिंचाई हेतु जल उपलब्ध होता है। $6050\times106m^3$ घरेलू गंदे जल से 219×103 टन नाइट्रोजन, 73×103 टन फॉस्फेट, 146×103 टन पोटाश तथा 1460×103 टन जैव पदार्थ प्राप्त होते हैं, जिनका मूल्य 200 करोड़ रुपए हैं।

जलावन, कृषि उत्सर्जी पदार्थ, शहरी कचरे, तथा गोबर से ग्रामीण भारत के ऊर्जा की अधिकांश आवश्यकताओं की आपूर्ति हो जाती है। वर्तमान में प्रतिवर्ष 1668.5 लाख टन जलावन की आवश्यकता होती है, किंतु उत्पादन प्रतिवर्ष 284 लाख टन होता है। प्रतिवर्ष 1384 लाख टन की कमी रह जाती है।

वर्तमान में भारत में प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत 300 कि.वाट/प्रति घंटा है, जो कि उत्तरी अमरीकी देशों का 40वां भाग है। सिंगापुर से 15 गुना कम है, विश्व की औसत खपत से 8 गुना कम है। कुल आपूर्ति मांग से 60 प्रतिशत कम है।

भारत गैर-व्यवसायिक कार्यों में ऊर्जा की अधिक खपत होती है। जलावन, कृषि उत्पाद के अवशेष तथा गोबर से 65 प्रतिशत ऊर्जा की गैर-व्यवसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव और पशुओं के श्रम से 15 प्रतिशत आवश्यकताओं की आपूर्ति होती है। यद्यपि प्रति व्यक्ति गैर-व्यवसायिक ऊर्जा की खपत में कमी आयी है, किंतु उनके द्वारा योगदान में वृद्धि हुई है।

देश में प्रति व्यक्ति व्यावसायिक ऊर्जा की खपत विश्व के औसत व्यावसायिक ऊर्जा खपत का आठवां हिस्सा है। व्यवसायिक स्रोत में ऊर्जा की 60 प्रतिशत खपत होती है। कोयला, तेल और विद्युत व्यवसायिक ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। कोयला और विद्युत की अपेक्षा तेल की मांग अधिक

CHRONICLE IAS ACADEMY

है, क्योंकि परिवहन, उद्योग, गृहकार्य तथा कृषि में तेल की खपत अधिक होती है। उद्योग क्षेत्र ऊर्जा आधारित क्षेत्र हैं। इसमें 50.4 प्रतिशत ऊर्जा की खपत होती है तथा कुल ऊर्जा खपत का एक चौथाई भाग परिवहन पर खर्च होता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में ऊर्जा की निम्नलिखित आवश्यकताएं होती हैं:

(क) खाना पकाने के लिए मध्यम ताप

(ख) स्थायी यांत्रिक कार्य

(ग) चल यांत्रिक कार्य

(घ) प्रकाश के लिए

(ङ) अन्य कार्यों के लिए सामान्य ताप

गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों पर आधारित ऊर्जा की मांग बढ़ रही है। अत: वर्तमान ऊर्जा स्थिति में परिवर्तन के लिए तकनीकी हस्तक्षेप की आवश्यकता है।

जैव ऊर्जा का उत्पादन

अन्य देशों की तरह भारत में भी जैव ऊर्जा का उत्पादन सिर्फ खाद्यान्न उत्पादन के लिए किया जाता है। देश के अधिकांश भागों में केरोसिन तेल प्रकाश के लिए तथा डीजल कृषि कार्य के लिए प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर शहरों में जीवाश्म ईंधन के अक्षम उपयोग से पर्यावरण के लिए खतरे उत्पन्न हो रहे हैं। शहरों में वाहनों, विद्युत संयंत्रों, औद्योगिक इकाइयों, भट्टियों तथा चूल्हों से निकलने वाली गैसों से ग्रीन हाउस प्रभाव उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार वन संसाधन के अत्यधिक दोहन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जलावन हेतु वन विनाश से संकट और भी गहराता जा रहा है। वर्तमान में प्रतिवर्ष 1650 लाग टन जलावन की आवश्यकता होती है किंतु प्रतिवर्ष 284 लाख टन जलावन का उत्पादन हो पाता है। मांग और आपूर्ति के बीच 1384 लाख टन का अंतर रह जाता है। पुन: 2460 लाख टन कृषि औद्योगिक कचरे तथा 922 लाख टन कृषि कचरे का उपयोग ऊर्जा उत्पादन में किया जाना चाहिए।

जैव अधिशेष गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोत हैं। जो कृषि प्रसंस्करण स्थलों में उपलब्ध रहते हैं। (चावल की भूसी, गन्ने का छाई, नारियल का छिलका, मूंगफली के छिलके, मक्के का मध्यदंड, आलू के छिलके, गोबर, पटसन के डंडे, तिलहन इत्यादि)

सरदार स्वर्ण सिंह राष्ट्रीय पुनरोपयोगी ऊर्जा

गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोत मंत्रालय ने पंजाब के कपूरथला जिले के वडालाकलां में सरदार स्वर्ण सिंह राष्ट्रीय पुनरोपयोगी संस्थान नामक स्वायत्तशासी संस्थान की स्थापनार की है। संस्थान जैव, ऊर्जा, जैव ईंधन के क्षेत्र में अनुसंधान, विकास कार्य प्रदर्शन का काम कर रहा है।

कृषि अधिशेष वक्राह्य भित्ति तथा मध्य भित्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ की चर्चा नीचे की जा रही है:

धान की भूसी : धान की खेती देश के सबसे विशाल भू-भाग 422 लाख हैक्टेयर में होती है। चावल प्रसंस्करण के दौरन भूसी निकलती है। फसल कटाई के दौरान धान के साथ पुआल भी प्राप्त होता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राय: प्रसंस्करण छोटी इकाइयों में किया जाता है, जिसका उपयोग औद्योगिक कार्यों में नहीं हो पाता है। भूसी का स्तर मशीन की गुणवत्ता पर निर्भर है। भारत में करीब 240 लाख टन भूसी का उत्पादन (प्रतिवर्ष) किया जाता है। भूसी निकालने से चावल का पोषक तत्व भी नष्ट होता है। इस प्रतिकूल गुण के वावजूद इसका उपयोग ऊर्जा के स्रोत के रूप में किया जा सकता है।

पौध-ईंधन : डीजल के विकल्प की खोज

संयुक्त अरब अमीरात के वैज्ञानिकों ने डीजल के विकल्प के रूप में जॉजोबा (Jojoba) नामक झाड़ी से बने तेल से चलने वाली इंजन का विकास किया है। इस ईंधन का नाम जॉजोबा मिथाइल इस्टर है। मिथानॉल तथा एक उत्प्रेरक को जॉजोबा के कच्चे तेल में मिलाकर यह ईंधन बनाया गया है।

जॉजोबा मरूस्थल में पाई जाने वाली एक झाड़ी है जो 5 मीटर ऊंचाई तक बढ़ती है। यह झाड़ी 150 वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहती है। इससे गिरी (nuts) निकलती है तथा इसमें तेल भी होते हैं। सौंदर्य प्रसाधन में भी इसका उपयोग होता है।

जॉजोबा ईंधन बल आधूर्ण तथा शक्ति के मामले में डीजल से न्यून नहीं है। सिलिंडर में अधिकतम दबाव बनाने में इसे डीजल की अपेक्षा अधिक समय लगता है। इस कारण ध्वनि प्रदूषण की संभावना कम रह जाती है। इससे कार्बन मोनोक्सॉइड गैस भी कम मात्रा में निकलती है। इस प्रकार जॉजोबा बेहतर ईंधन के रूप में उभरने के लिए तैयार है।

मूंगफली के छिलके : भार के हिसाब से मूंगफली दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण तिलहन है। किंतु इसका एक तिहाई वजन इसके छिलके का होता है। देश में 25 लाख टन छिलके प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं। उत्तर प्रदेश में 50. 66 हजार टन छिलके प्राप्त होते हैं। मूंगफली के छिलके का 50 प्रतिशत सिर्फ गुजरात और आंध्र प्रदेश से प्राप्त होते हैं।

मूंगफली के छिलके की प्रकृति के कारण इसके व्यवसायिक उपयोग में समस्या है। छिलके का जितना आयतन होता है, उस अनुरूप उसका वजन नहीं। फलस्वरूप उसका परिवहन खर्चीला होता है। इसके अतिरिक्त इसमें तेल तथा प्रोटीन कम होता है। उर्वरक एवं खाद के रूप में इसका पौष्टिक मूल्य कम होता है। कच्चे रेशे के कारण इसका चारा के रूप में भी प्रयोग नहीं होता है। किंतु छिलके का प्रयोग ऊर्जा के स्रोत के रूप में सक्षमता पूर्वक किया जाता है।

पटसन के डंडे, कपास के पुआल : पूर्वी भारत में पटसन की खेती होती है। इसकी खेती मुख्य रूप से पश्चिम बंगाल, बिहार, असम और उत्तर प्रदेश में होती है। पटसन के डंडे में सेल्यूलोज की मात्रा बहुयायत होती है।

डंडे का उपयोग जलावन के रूप में होता है। भारत में 38 लाख टन पटसन डंडे का उत्पादन होता है, जिसमें से 75 प्रतिशत का उपयोग कर लिया जाता है।

कपास देश का प्रमुख रेशेदार फसल है। इसकी खेती 74 लाख 40 हजार हैक्टेयर में होती है। वर्षा वाले इलाके में 2.5 टन प्रति हैक्टेयर तथा सिंचाई सुविधा युक्त इलाके में 5 टन प्रति हैक्टेयर कपास के पुआल का उत्पादन होता है। इस अनुमान के आधार पर 223 लाख टन कपास का पुआल प्राप्त होता है। इसके बाद पौधे को ऊखाड़ लिया जाता है, तथा उनका उपयोग जलावन के रूप में किया जाता है।

गन्ने की खोई : गन्ना एक महत्वपूर्ण नकदी फसल है। देश में 37 लाख 70 हजार हैक्टेयर क्षेत्रफल में गन्ने की खेती होती है। देश में 408 चीनी मिलें हैं। विश्व के कुल चीनी उत्पादन में भारत 16.91 प्रतिशत का योगदान करता है। उत्तर प्रदेश पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी भागों में गन्ने की व्यापक स्तर पर खेती होती है।

इस उद्योग का एक प्रमुख उत्पाद खोई है। भारत में 903.9 लाख टन खोई का उत्पादन होता है। जबकि संपूर्ण का सिर्फ उत्तर प्रदेश में 363. 3 लाख टन का उत्पादन होता है। भारत में उत्पादित कुल खोई का उपयोग गन्ना-मील तथा गुड़, खंडसारी बनाने के लिए पेराई इकाइयों में होता है। खोई में आर्द्रता का प्रतिशत 48 रहता है, इसे विशेष भट्ठी में गरम करके

सुखाया जाता है। खोई का उत्पादन बिना अतिरिक्त खर्च, मेहनत तथा ईंधन में किया जाता है। खोई का औसत कैलोरी मान 2223 किलो कैलोरी/किलोग्राम होता है।

गोबर : पशुधन की दृष्टि से भारत एक संपन्न देश है। 1987 में देश में पशुओं की संख्या 4452.9 लाख थी। जिसमें 1996.95 लाख गायें तथा 759.67 लाख भैंसें थी। ग्रामीण क्षेत्रों में खपत होने वाली कुल ऊर्जा का 8-10 प्रतिशत पशुओं के गोबर से प्राप्त होता है। 3240 लाख टन गोबर (सूखे गोबर) में से 730 लाख टन (32.54 प्रतिशत) की ऊर्जा प्राप्त करने के लिए जला दिया जाता है। जहां मुर्गा प्रत्येक दिन 0.4 किग्रा. गोबर देता है, वहीं भैस प्रत्येक दिन औसतन 15 किग्रा. गोबर देती है। अत: गोबर उत्सर्जन पशु के भार तथा उम्र पर निर्भर करता है।

वन्य उत्पाद से प्राप्त उत्सर्जी पदार्थ : भारत का कुल वन क्षेत्र 677. 088 वर्ग किलोमीटर है। भारत में प्रति व्यक्ति वन 0.064 हैक्टेयर है, वहीं कनाडा में प्रति व्यक्ति वन 14.2 हैक्टेयर है। ऐसा आकलन है कि भारत में 1320 हजार घनमीटर जलावन तथा 7561 हजार घन मीटर लुगदी और अन्य प्रकार के लकड़ी उपलब्ध हैं। वर्ष 1991-92 के दौरान उत्तर प्रदेश में 312 हजार घनमीटर जलावन प्राप्त किया गया।

शहरी कचरा : यदि ठीक से दोहन हो तो नगर निगम के कचरे, कूड़े तथा नालियों से ऊर्जा प्राप्त किया जा सकता है। गड्ढे में कचरा फेंकने की वर्तमान आदत पर अंकुश लगाना चाहिए। क्योंकि कचरे का द्रव अंश जमीन के अंदर अवशोषित हो जाता है, जिससे भूमिगत जल प्रदूषित होता है।

वर्तमान में प्रत्येक शहरी के घर से कम से कम 0.4-0.5 किग्रा. कचरा निकलता है। यह समस्या दिनानुदिन गंभीर होते जा रही है। नगर निगम संसाधन तथा कर्मचारियों के अभाव में कचरा हटाने के कार्य को दक्षता पूर्वक नहीं कर पा रहा है।

कचरे तीन प्रकार के होते हैं: प्रथम प्रकार सब्जी, मिट्टी के बर्तन, हड्डी इत्यादि, जिन्हें खाद में परिवर्तित किया जा सकता है। द्वितीय प्रकार में कागज तथा प्लास्टिक। तृतीय प्रकार के धातु के टुकड़े, बैट्री, तथा कुछ भारी प्लास्टिक उत्पाद हैं।

विगत वर्षों में इस दिशा में प्रगति हुई है। महानगरों में कचरा परिशोधन इकाइयों की स्थापना की गयी है। जिससे लोगों की ऊर्जा आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु ऊर्जा का उत्पादन किया जा सके।

निष्कर्षत: कृषि उत्पाद के अधिशेष तथा जैव द्रव सबसे सस्ता तथा सुलभ ऊर्जा स्रोत हैं। भविष्य की आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु, ये गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोत वैकल्पिक हैं। भविष्य में संयुक्त राष्ट्र अभी अमरीका में 5 प्रतिशत ऊर्जा की आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं स्रोतों से होगी।

भारत के ग्रामीण भागों में कृषि सिर्फ पेट पालने का साधन मात्र है। इसमें आर्थिक आय, बेरोजगारी दूर करने, गैर-दुधारू पशुओं का कृषि में उपयोग, न्यूनतम व्यवसायिक लागत तथा कृषि जैव द्रव के बहुउद्देशीय लाभ पर कम ध्यान दिया जाता है। खेत प्राय: घर के नजदीक ही रहता है। घर के लोग ही श्रमिक की भूमिका का निर्वहन करते हैं। भाड़े के श्रामिक को अनाज दिया जाता है। इस प्रकार की कृषि का संबंध बाजार से प्राय: नहीं रहता है।

पशु से मांस, दूध, कृषि तथा परिवहन का कार्य लिया जाता है। गोबर से जलावन, मकान लीपने तथा उर्वरक का कार्य लिया जाता है। जैव द्रव के प्रत्येक अवयव का आर्थिक मूल्य लगाना कठिन है। कुल जैव द्रव से ऊर्जा की कमी का सार्थक निदान संभव है। इसके सदुपयोग के लिए उपयुक्त तकनीक पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके आर्थिक एवं पर्यावरणीय लाभ हैं। व्यापक स्तर पर बायोमास के लिए लाखों हैक्टेयर बंजर भूमि को हरित क्षेत्र में परिवर्तित करना होगा, जिससे वृक्षारोपण के कार्यक्रम को भी बढ़ावा मिलेगा।

सौर ऊर्जा

संपूर्ण विकासशील देशों का रोना है कि उनके पास संसाधन का अभाव है। किंतु उनके यहां सूर्य की रोशनी विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं, जो कि अविश्वसनीय तथा नाश होने लायक नहीं है। यदि इन देशों का कोई संयुक्त व्यापक कार्यक्रम होगा तो इससे सौर ऊर्जा का दोहन कम खर्च में संभव हो सकेगा।

हमारा देश सववंत्रता के पश्चात सौर ऊर्जा के दोहन की दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। शताब्दियों से आम लोग सूर्य की किरणों का उपयोग करते आये हैं। सूर्य की किरणों से फसल, घास, अनाज, मछली, मिर्च तथा अन्य उत्पाद सुखाते आये हैं।

जीवन के अस्तित्व के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है। सूर्य के प्रकाश में प्रत्येक दिन 75,000 खरब किलोवाट ऊर्जा रहती है। इसका 0.1 प्रतिशत हमारे देश में पहुंचता है। देश अभी भी इस प्रदूषण मुक्त ऊर्जा स्रोत के भरपूर दोहन के लिए अपने आपको तैयार नहीं कर सका है। औसतन 5 KWH वर्ग मील सौर विकिरण ऊर्जा वर्ष में 300 दिन देश में प्राप्त होती है। इस प्रकार भारतीय उप महाद्वीप में 5x10 KWHèk प्रतिवर्ष सौर ऊर्जा प्राप्त होती है।

पहले सौर ऊर्जा का दोहन आर्थिक रूप से लाभकारी नहीं माना जाता था। तकनीकी उपलब्धता के कारण ऊर्जा का दोहन कुछ खास क्षेत्रों में ही किया जाता था। गैर-परम्परागत ऊर्जा के दोहन की दिशा में प्रमुख अभिकरण सौर ऊर्जा के दोहन की दिशा में प्रयास रत हैं। सौर प्रकाश बोल्टायिक तकनीकी में अब प्रगति हुई है और इसमें ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत इत्यादि ऊर्जा की प्राप्ति संभव है। फोटोवोल्टायिक तकनीकी सेल द्वारा संग्रहीत ऊर्जा का बरसात के दिनों अथवा रात में उपयोग किया जा सकता है। विपुल संख्या में सौर पैनेल को एक शृंखला में जोड़कर कुछ वाट से लेकर कई मेगावाट तक विद्युत उत्पादन किया जा सकता है। यह ऊर्जा कम खर्च में प्राप्त की जा सकती है, तथा यह पर्यावरण के भी अनुकूल है।

सरकार उत्पादक, उपभोक्ता में वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से सौर ऊर्जा के दोहन और इसे लोकप्रिय बनाने के लिए अभियान छेड़ रखा है। इंडियन रिन्यूएबल एनर्जी डेबेलपमेंट एजेंसी-इरेडा (गैर-परम्परागत ऊर्जा मंत्रालय के अंतर्गत) सौर ऊर्जा के दोहन हेतु सौर फोटोवोल्टायिक प्रणाली तथा सौर ताप प्रणाली लगाने के लिए आसान शर्तों पर ऋण दे रहा है। इरेडा को विश्व बैंक तथा वैश्विक पर्यावरण न्यास से आर्थिक सहायता मिलती है।

सौर वाटर हीटर तथा पंप : सौर ऊर्जा का सबसे पुराना उपयोग जल गरम करने में होता आया है। सन् 1970 के दशक में केंद्रीय भवन निर्माण शोध संस्थान, रुड़की ने व्यवसायिक उपयोग के लिए सौर जल हीटर का विकास किया।

सिंचाई कार्य के लिए भारत ने अपना सौर पंप विकसित किया। 300 वाट क्षमता वाले करीब 70 वाटर पंपिंग को ग्रामीण क्षेत्रों में लगाया गया है। ये पंप प्रतिदिन 35000 लीटर जल को 5-8 मीटर तक फेंकने की क्षमता रखते हैं।

सौर वाटर हीटर का निर्माण आसान है तथा इससे विद्युत ऊर्जा के उत्पादन भी सरल हैं। सन् 1980 के दशक के प्रारंभ में सौर वाटर हीटर को कई होटलों तथा अस्पतालों में प्रदर्शनी करके इसकी उपयोगिता सिद्ध की गयी। कई शोध अभिकरण सौर वाटर हीटर के बेहतर लेप प्रणाली का विकास कर, इसके ताप अवशोषण क्षमता की वृद्धि के लिए जुटे हुए हैं।

सौर स्ट्रीट लाइट : योजना आयोग के एकीकृत सौर ऊर्जा योजना के तहत 10 वर्ष पूर्व हरियाणा के रायपुर रानी प्रखंड में सौर ऊर्जा पर चलने वाले स्ट्रीट लाइट लगाये गये हैं। ठीक इसी प्रकार दिल्ली के भसादपुर गांव में सौर ऊर्जा संचालित विभिन्न प्रयोग किए गये।

CHRONICLE IAS ACADEMY

केरल के एजेंसी फॉर नान-कनवेंशनल एनर्जी एंड रिसर्च टेक्नॉलॉजी (ANERT) न सिर्फ प्रकाश पहुंचाने का काम कर रही है। अपितु घर में इससे लैंप तथा टी.वी. भी चलते हैं। केरल के पश्चिमी भाग के पहाड़ी इलाके में गांवों में विरल जनसंख्या है। इस भाग में ANERT फोटोवोल्टिक प्रणाली से सौर ऊर्जा उपलब्ध कराने का कार्य कर रहा है।

निष्कर्षत: वर्षों के शोध के आधार पर सौर ऊर्जा का उपयोग विभिन्न कार्यों हेतु संभव हो सका है। इसे पहले खर्चीला समझा जाता था। इसके यत्र- तत्र सिर्फ कुछ प्रदर्शनियां लगायी गयी थीं। सौर ऊर्जा की मदद से भारत विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में पहुंच सकता है। प्रदूषणमुक्त, रेडियो सक्रिय मुक्त तथा अक्षय स्रोत के रूप में सौर ऊर्जा अन्य पारंपरिक ऊर्जा से बिल्कुल अलग तथा अतुलनीय है।

सौर फोटोवोल्टिक कार्यक्रम: सौर- फोटोवोल्टिक प्रौद्योगिकी से सौर विकिरण को बिजली में बदलने में मदद मिलती है। इसमें टरवाइन आदि जैसे चालक पुर्जो के इस्तेमाल की जरूरत नहीं होती। न केवल प्रकाश, जल पंपिंग और दूरसंचार जैसे प्रयोजनों के लिए-बल्कि गांवों, अस्पतालों अस्थाई-गृहों आदि की बिजली संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले विद्युत संयंत्रों के लिए भी फोटोवोल्टिक प्रणालियां उपयोगी ऊर्जा स्रोत के रूप में उभरी हैं।

देश में करीब 96 मेगावाट क्षमता की 9,80,000 से अधिक फोटोवोल्टिक प्रणालियां स्थापित की गयी हैं। ग्रामीण दूर-दरराज के इलाके, व्यावसायिक उद्देश्यों आवास और सड़क पर रोशनी, पानी पंप करने और ग्रामीण दूर संचार प्रणाली के लिए 40 अलग-अलग तरह की प्रणालियां काम कर रही हैं। एस.पी.वी कार्यक्रम के तहत मार्च 2008 तक करीब 6. 7 लाख सौर लालटेन, 4.03 लाख गृह विद्युत प्रणालियां, 79,500 सड़क प्रकाश प्रणालियां, 7800 सौर जल पंपिंग प्रणालियां और 2.2 मेगावाट क्षमता वाले नॉनग्रिड बिजली संयत्र स्थापित किये जा चुके हैं।

गोबर गैस: ग्रामीण ऊर्जा के स्रोत

प्राचीन काल में हमारे देश के लोग कई पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों का उपयोग करते आये हैं। ये जलावन, गोबर तथा सूखी टहनियां हैं। ये स्रोत विपुल मात्रा में हैं, तथा ग्रामीण जलावन की 90 प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

देश में प्रत्येक वर्ष पशु 4000 लाख तक गोबर उत्सर्जित करते हैं। एक टन सूखे गोबर से 0.4 टन कोयला के बराबर ताप मिलता है। इस संसाधन के जलाने से जितना उर्वरक पैदा होता है, उतना 8 सिंदरी कारखाने के द्वारा एक वर्ष में उर्वरक पैदा किया जा सकता है। गैस प्लांट के उपयोग से ईंधन तथा खाद दोनों प्राप्त किया जा सकता है। दोनों लाभ अधिकाधिक अंश में इन संयंत्रों के निर्माण से प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ गैस के उत्पादन में 1/4 गोबर गैस खपत हो जाता है। किंतु जब एक बार गैस का उत्पादन हो जाता है, तो वह गोबर से 20 प्रतिशत अधिक कार्य निष्पादन करता है। इसका मुख्य कारण है कि गैस की निष्पादन क्षमता (60 प्रतिशत) उपले की निष्पादन गैस की निष्पादन क्षमता (11 प्रतिशत) से बहुत अधिक है। गैस का अपघटन तेजी से होता है, किंतु उपले का देर से। उर्वरक की कमी को देखते हुए उपले जलाने की आदत पर अंकुश लगाना होगा।

तथापि यह प्रश्न है कि यदि लोग गोबर का ईंधन के रूप में उपयोग नहीं करेंगे, तो आखिर किस वस्तु का करेंगे। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नयी दिल्ली तथा खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग, मुंबई ने प्रयास किया है कि गोबर को ईंधन एवं उर्वरक के रूप में उपयोग करने की बेहतर प्रणाली विकसित की जाये। परिणाम स्वरूप गोबर गैस प्लांट अस्तित्व में आया, जो जैव गैस पर चलता है।

बायोगैस (जैव गैस)

यह खाना पकाने हेतु एक स्वच्छ तथा सस्ता ईंधन है। यह मोटर वाहन चलाने तथा लघु उद्योग हेतु ऊर्जा उत्पादन में सहायक है। बायोगैस प्लांट से प्राप्त उत्सर्जी पदार्थों में ऑक्सीजन, फॉस्फोरस तथा पोटेशियम की काफी मात्रा होती है। अभी तक बायोगैस विकास पर राष्ट्रीय परियोजना के तहत 16.62 लाख परिवार तथा 865 बड़े औद्योगिक/सामुदायिक गैस संयंत्री की स्थापना की गयी है। कचरे के परिशोधन तथा उससे ऊर्जा प्राप्त करने के प्रति सजगता बढ़ाती है।

संभावनाएं

धारणीय विकास के अनुरूप ऊर्जा स्रोतों की खोज समय की मांग है। इस रणनीति का उपयोग ग्रामीण निर्धनों की मूलभूत ऊर्जा स्रोत से गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोत की ओर उन्मुख होते समय मांग प्रबंधन, संरक्षण तथा क्षमता का ध्यान रखना चाहिए। इसके तहत अल्पकालीन, मध्यम कालीन तथा दीर्घ कालीन प्राथमिकताएं समाहित हैं। जो निम्न हैं:

अल्पकालीन प्राथमिकताओं के अंतर्गत हैं:

(i) निवेश किये गये संसाधनों से अधिकाधिक लाभ कमाना।
(ii) तकनीकी नुकसान को पाटने की प्रक्रिया अपनाना।
(iii) ऊर्जा गहन क्षेत्रों में ऊर्जा की मांग को कम करके मांग प्रबंधन तथा संरक्षण द्वारा उचित संस्थागत तथा वित्तीय नीति अपनाना।
(iv) ग्रामीण घरों की ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पूर्ण प्रयास आरंभ करना।

मध्यमकालीन प्राथमिकताएं :

(i) उपलब्ध जलविद्युत क्षमता का अत्यधिक उपयोग बढ़ाना।
(ii) ऊर्जा क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाने के लिए कार्यक्रम अपनाना।
(iii) गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों पर आधारित तकनीकी हेतु विकेंद्रीकृत शोध एवं विकास कार्यक्रम तैयार करना।
(iv) विभिन्न ऊर्जा क्षेत्रों के हेतु संस्थागत प्रयास

विश्व का पहला प्रोटोटाइप रिएक्टर

भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र ने एक विशिष्ट प्रकार के त्वरित परमाणु रिएक्टर का विकास किया है। इसका विकसित रूप कलपक्कम में स्थापित किया जाएगा। भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के वैज्ञानिकों के अनुसार भारत विश्व का ऐसा पहला राष्ट्र है जिसमें प्रोटोटाइप रिएक्टर का निर्माण होने के बाद इससे 500 मेगावाट बिजली उत्पन्न की जा सकेगी। केंद्र सरकार ने इस परियोजना के लिए 3500 करोड़ रुपये की राशि मंजूर की है। यह रियेक्टर वर्ष 2012 में कार्य करने के लिये तैयार होगा।

अक्षय ऊर्जा संभाव्यता एवं उपलब्धियां

स्रोत/प्रणाली	संभाव्यता	अनुमानित
बायोगैस संयंत्र	120 लाख	33 लाख
उन्नत चूल्हा	1200 लाख	350 लाख
पवन	45,000 मेगावाट	1,617 मेगावाट
लघु बिजली	15,000 मेगावाट	1,438 मेगावाट
बायोगैस	19,500 मेगावाट	381 मेगावाट
सौर प्रकाश वोल्टीय	20 मेगावाट/वर्ग किमी.	85 मेगावाट
उपशिष्ट से ऊर्जा	1,700 मेगावाट	22 मेगावाट
सौर जल तापन	1,400 लाख वर्ग किमी. संग्राहक क्षेत्र	6 लाख

CHRONICLE IAS ACADEMY

दीर्घकालीन प्राथमिकताएं :

(क) गैर पारंपरिक ऊर्जा स्रोत की आपूर्ति कायम रखना। इस ऊर्जा के उत्पादन, प्रसार, तथा खपत हेतु प्रयास करना। यह स्रोत पर्यावरण अनुकूल तथा कम खर्च में उपलब्ध होने वाला है।

बायोमास से ऊर्जा: इसके अंतर्गत वन एवं कृषि उद्योग आधारित अवशिष्ट, ऊर्जा समर्पित वृक्षारोपण के अलावा दक्ष एवं आधुनिक तकनीकी से परिवर्तन के माध्यम से वन और कृषि अवशिष्टों से ऊर्जा उत्पादन शामिल है। इन तकनीकों में दहन या भट्ठी में डालना, गैसीकरण आदि शामिल है। देश में बायोमास उत्पादन की अनुमानित क्षमता 19,500 मेगावाट है। देश की वर्तमान चीनी मिलों में गन्ने की खोई पर आधारित 3,500 मेगावाट उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता शामिल है। 14 राज्यों ने राज्य बिजली बोर्डों से बिजली पुनर्खरीद और वितरित बिजली को सुरक्षित रखने की नीति भी घोषित कर दी है।

फ्यूल सेल: फ्यूल सेल हाइड्रोजन और आक्सीजन गैसों के बीच अभिक्रिया के जरिए बिजली पैदा करता है। हाइड्रोजन फ्यूल सेल के लिए प्रमुख ईंधन है, जिसे ऊर्जा के नवीकरणीय स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्रीय बायोगैस कार्यक्रम: पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बायोगैस संयंत्रों को बढ़ावा देने के लिये राष्ट्रीय बायोगैस विकास परियोजना 1981-82 में शुरू की गयी थी। इसका उद्देश्य गाँवों में स्वच्छ तथा सस्ते ऊर्जा स्रोत उपलब्ध कराना, समृद्ध जैविक तैयार करना, सफाई व स्वच्छता की स्थिति सुधारना और स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाना है।

एम.एन.ई.एस. द्वारा वित्त पोषित परियोजना के तौर पर बिजली उत्पादन के लिए हैदराबाद में पी.ए.एफ.सी. बिजली संयंत्र का विकास किया गया है। ऊर्जा मंत्रालय प्रत्यक्ष मेथानॉल ईंधन सेलों और ठोस आक्साइड ईंधन सेलों के बारे में अनुसंधान और विकास परियोजनाओं को भी समर्थन दे रहा है।

हाइड्रोजन ऊर्जा: हाइड्रोजन ऊर्जा एक स्वच्छ और प्रभावी ऊर्जा माध्यम है। इसका इस्तेमाल व्यापक रूप में और जीवाश्म ईंधन के विकल्प के रूप में किया जा सकता है।

मंत्रालय हाइड्रोजन ईंधन के क्षेत्र में अनुसंधान और विकास-परियोजना चला रहा है। हाइड्रोजन पर आधारित छोटे जैनेरेटर, दुपहिया वाहन और केटालिटिक बर्नरों को विकसित और प्रदर्शित किया गया है। मंत्रालय ने हाइड्रोजन से चलने वाली 50 मोटर साइकिलों के प्रदर्शन और फील्ड परीक्षण के लिए एक प्रयोगिक परियोजना शुरू की है।

हाइड्रोजन ऊर्जा रोड मैप बनाने तथा हाइड्रोजन ऊर्जा पर एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के माध्यम से इसके कार्यान्वयन पर नजर रखने एंव नीतियों के निर्माण के लिये एक राष्ट्रीय हाइड्रोजन ऊर्जा बोर्ड का गठन किया गया है। बोर्ड ने राष्ट्रीय हाइड्रोजन ऊर्जा रोड मैप तैयार करने के लिये एक संचालन समूह गठित किया है। समूह द्वारा तैयार रोडमैप में देश में 2020 तक हाइड्रोजन ईंधन वाले 10 लाख वाहनों और 1000 मेगावाट क्षमता की हाइड्रोजन आधारित ऊर्जा उत्पादन की कल्पना की गई है।

ओएनजीसी के अनुसंधान केंद्र

1. इंस्टीट्यूट ऑफ रिजरवायर स्टडीज- अहमदाबाद
2. इंस्टीट्यूट ऑफ इंजीनियरिंग ऑफ ओशन टेक्नोलॉजी- मुंबई
3. इंस्टीट्यूट ऑफ आयरन एंड गैस प्रोडक्शन टेक्नोलॉजी- मुंबई
4. इंस्टीट्यूट ऑफ बायो-टेक्नोलॉजी एंड जियोटेक्टॉनिक्स- जोरहाट
5. केशवदेव मालवीय पेट्रोलियम इंस्टीट्यट ऑफ एक्स्प्लोरेशन-देहरादून
6. जियोफिलका डाटा प्रोसेसिंग एंड इंटरप्रिटेशन सेंटर-देहरादून

■■■

4 पर्यावरणीय संकट और प्रबंधन

मानव और अन्य प्राणियों के विकास एवं जीवन को प्रभावित करने वाले समस्त कारकों एवं प्रभावों के संयोग को पर्यावरण कहते हैं। इसके अन्तर्गत वायु, जल एवं भूमि तथा इन तत्वों एवं मानव सहित सभी जन्तु और वनस्पतियों के अंतः संबंध तथा गुण समाहित हैं।

करीब ढाई लाख वर्ष पूर्व मानव ने जब अपना जीवन प्रारंभ किया, उस समय वह बहुत ही कम संसाधनों से अपना कार्य चलाता था। ज्यों ही उसकी जनसंख्या में बढ़ोत्तरी हुई, उसे अधिक ऊर्जा तथा पोषक तत्वों की जरूरत हुई। इन आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु उसने प्रकृति का कृत्रिम दोहन प्रारंभ किया। फलस्वरूप कई अवांछित तत्व उत्पादित हुए और पर्यावरण में मिल गये। व्यापक स्तर पर पर्यावरण के दोहन तथा असीमित मात्रा में निकले गंदे और उत्सर्जित पदार्थों के कारण आज न सिर्फ मानव जीवन संकटग्रस्त है, अपितु समस्त पृथ्वी पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं।

आज यह स्पष्ट है किस प्रकार मानव प्राकृतिक संसाधनों के प्रचालन तथा संरक्षण को अपने नियंत्रण में कर रखा है तथा किस प्रकार पारिस्थितिकी में हो रहे परिवर्तन का असर मानव पर पड़ता है।

वायु, जल, भूमि, वनस्पति तथा प्राणी प्राकृतिक संसाधन के अवयव हैं। मानव अपनी विकासोन्मुखी आकांक्षाओं की तृप्ति हेतु इन प्राकृतिक संपदाओं पर निर्भर रहता है। इन संसाधनों के कुशल प्रबंधन के अन्तर्गत सकारात्मक तथा यथार्थपरक योजनाओं को स्वीकार करते हुए मानव की आवश्यकताओं एवं उनकी पूर्ति करने की पर्यावरण की क्षमताओं के बीच संतुलन कायम करना पड़ता है। यही कारण है कि निर्णय लेने वाले अधिकारी, वैज्ञानिक, सामाजिक कार्यकर्ता तथा यहां तक कि सामान्य व्यक्ति भी निम्नलिखित बातों के प्रति सशंकित रहते हैं- वैश्विक ताप वृद्धि, ओजोन परत क्षय, अम्ल वर्षा, अकाल, सूखा, बाढ़, भूकंप, जलावन की कमी, चारे की कमी, वायु एवं जल प्रदूषण, खतरनाक रासायनिक पदार्थ एवं विकिरण की समस्याएं, भूमि अपकर्ष, मरुभूमि निर्माण, बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधनों का विनाश, वन्य प्राणियों के विलुप्तीकरण, जंतु एवं पादप को खतरे, एक विलासिता में आकंठ लिप्त जीवन और दूसरी दुर्दान्त गरीबी तथा प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन। इन सभी का दुष्प्रभाव पर्यापरण पर पड़ता है।

वायु प्रदूषण

वायु विभिन्न गैसों का मिश्रण है, जो प्रकृति के विभिन्न अवयवों के बीच संतुलन बनाये रखता है। जब गैसों के बीच संतुलन पर्यावरणीय मानदंडों का अतिक्रमण करते हैं तो वायु प्रदूषण उत्पन्न होता है। जब गैस निर्धारित अनुपात से बहुत कम या अधिक हो जाता है और उसके अपेक्षित परिणाम को स्वाभाविक प्रक्रियाओं द्वारा पूरा नहीं किया जाता है, तो कई समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इनमें अम्ल वर्षा, ग्रीन हाऊस प्रभाव, ओजोन परत क्षय एवं वृक्ष विनाश प्रमुख हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के मुताबिक अकेले डीजल का धुआ ही अस्थिमा रोग का मुख्य कारण माना गया है। भारत में वायु प्रदूषण के मुख्य घरेलू स्रोत, औद्योगिक, वाहन प्रदूषण, ताप विद्युत केन्द्र, उर्वरक कारखाने, कपड़ा मिल तथा चीनी मिल है।

यूरो मानक

भारत में पहली बार वायु प्रदूषण की रोकथाम हेतु 1991 में एक एक्ट पारित किया गया। मुख्य रूप से गैस तथा तेल (डीजल, पेट्रोल) का धुंआ उत्सर्जित करने वाले वाहनों पर 1996 में लगाम कसी गयी। भारत के यूरो मानक मूलतः यूरोपियन मानकों पर आधारित है। यूरो मानक मुख्य रूप से वाहनों द्वारा प्रति किलोमीटर में उत्सर्जित किये गये प्रमुख प्रदूषक तत्वों जैसे कार्बन-मोनोऑक्साइड (Carbon mono oxide), हाइड्रोकार्बन (Hydrocarbons) और नाइट्रोजन के आक्साइड (Oxides of Nitrogen) की ओर संकेत करते हैं। भारत में अलग-अलग उपयोग के वाहनों के लिए भिन्न-भिन्न मानक निर्धारित किये गये हैं। 1 अप्रैल 2010 से भारत के 11 शहरो में वाहनों के लिये यूरो-4 मानक तथा शेष शहरों में यूरों -3 मानक लागू कर दिये गये हैं। उल्लेखनीय है कि यूरो मानक पैट्रोल तथा डीजल वाहनों के उत्सर्जन स्तर पर उस सीमा का आरोपण करते है, जो यूरोप में

एशिया गंभीर संकट के दौर में

दुपहिया एवं तिपहिया वाहनों के द्वारा फैलाये जा रहे वायु प्रदूषण से एशियाई देश तबाह हैं। हनोई के कुल वाहन का 85 प्रतिशत मोटर-साईकिल है। ताईवान में दुपहिया वाहनों की संख्या उसकी जनसंख्या की आधी है। 70 प्रतिशत वाहन दुपहिया एवं तिपहिया हैं। चीन में वाहनों की संख्या भारत में वाहनों की संख्या का तीन गुना है। विश्व का 90 प्रतिशत दुपहिया एवं तिपहिया वाहनों का उत्पादन भारत में होता है। एशिया विश्व का सबसे प्रदूषित क्षेत्र है। इस समस्या के कारण उत्पन्न होने वाले स्वास्थ्य संकट से निपटने के लिए तैयार रहना चाहिए।

स्वास्थ्य संकट से निपटने की तैयारी एशियाई देशों में नहीं है। प्रदूषण की गंभीरता को समझने के लिए कोई सुव्यवस्थित विज्ञान नहीं है। प्रदूषण में प्रतिक्षण वृद्धि हो रही है। पश्चिमी देशों में प्रदूषण से निपटने के लिए कठोर मानदंड हैं। एशियाई वाहन निर्माताओं ने प्रदूषण से जूझने के लिए थोड़े बहुत प्रयास किये हैं। इस दिशा में पर्याप्त जागृति आयी है। इस समस्या के निदान हेतु खोज जारी है। किंतु जो भी खोज हुए हैं, वे उपयोगी सिद्ध नहीं हुए हैं। सिर्फ तकनीकी सुधार से काम नहीं चलेगा। इस दिशा में मानसिकता में भी परिवर्तन आवश्यक है।

भारत में उत्सर्जन मानक (चार पहिया वाहनों हेंतु)

मानक	सन्दर्भ	वर्ष	क्षेत्र पूरे देश में
भारत, 2000	यूरो-1	वर्ष 2000	पूरे देश में
भारत, चरण-2	यूरो-2	वर्ष 2001	राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली), मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई
		अप्रैल, 2003	राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली), 11 शहर
		अप्रैल, 2005	पूरे देश में
भारत, चरण-3	यूरो-3	अप्रैल,2005	राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली), 11 शहर
		अप्रैल, 2010	पूरे देश में
भारत, चरण-4	यूरो-4	अप्रैल, 2010	राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली), 11 शहर

CHRONICLE IAS ACADEMY

लागू है। हालाँकि भारत सरकार ने यूरो मानकों को उपलब्ध तेल की गुणवत्ता तथा परीक्षण की विधियों के सम्बन्ध में ही लागू किया है।

1972 में हुए स्टाकहोम सम्मेलन, 1979 में जिनेवा में हुए पहले 'विश्व जलवायु सम्मेलन', 1972 में रियो-डि-जिनेरियो सम्मेलन, 1997 में 'क्योटो सम्मेलन' तथा 2002 में हुए 'जोहांसवर्ग सम्मेलन', तथा कोप-8 सम्मेलन में मुख्यत: यही मुद्दा बार-बार गहराता रहा कि पर्यावरण सुधार की प्रक्रिया में इस वक्त सबसे बड़ा मुद्दा कार्बन-डाइ-आक्साइड का उत्सर्जन कम करना है, जिसे लेकर विकसित देश उदासीन बने हुए हैं। 1997 के क्योटो सम्मेलन की मुख्य शर्त यह थी कि दुनिया के अनेक मुल्क पर्यावरण के लिए घातक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 2008-12 तक इतनी कमीं लायेंगे कि वह 1990 के स्तर से 5.2 प्रतिशत कम हो जाए। अमेरिका और रूस जैसे मुल्कों के हठ के चलते ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने का मामला खटाई में पड़ा हुआ है।

शुद्ध वायु की जानकारी देने वाली प्रणाली सफर

सफर (SAFAR) भारत में शुरू हुई उस नवीनतम प्रणाली का नाम है जिससे किसी भी जगह या शहर की वायु गुणवत्ता के पूर्वानुमान की घोषणा की जा सकेगी । सिस्टम ऑफ एयर क्वालिटी फोरकॉस्टिंग एंड रिसर्च नामक इस प्रणाली की शुरूआत 22 सितम्बर 2010 को नई दिल्ली में की गई। इस परियोजना के शुभारम्भ के बाद भारत वायु गुणवत्ता का पूर्वानुमान करने वाला तीसरा राष्ट्र बन गया । भारत से पहले ऐसी प्रणाली का प्रयोग केवल चीन तथा ऑस्ट्रेलिया में हो रहा था।

जल प्रदूषण

जल प्रदूषण से तात्पर्य जल को दूषित होना तथा जल के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में परिवर्तन अथवा नाली के गंदे या औद्योगिक कचरे के जल में मिलने से जल के रंग, गंध एवं स्वाद में परिवर्तन आना है। इस प्रकार के जल के प्रयोग से घरेलू व्यवसायिक, औद्योगिक, कृषि इत्यादि कार्यों में करने से प्रतिकूल असर पड़ता है। इस प्रकार का जल प्राणि तथा जीवन के लिए अनुपयुक्त होता है।

जल संसाधन पृथ्वी के लिए अनिवार्य तथा मानव अस्तित्व का आधार हैं। स्वच्छ पेय जल की उपलब्धता मानव पर्यावरण के विकास के लिए आवश्यक है। भारत में बांध, तालाब और नदियों के जल का उपयोग कई पर्यावरणीय प्रश्नों को जन्म देता है। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या इन स्रोतों के जल सुरक्षित हैं? तथा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इन संसाधनों से बढ़ती हुई जनसंख्या की मांग पूरी हो सकती है? जल प्रदूषण मुख्यत: जल के भौतिक-रासायनिक गुणों में परिवर्तन से उत्पन्न होता है। जल के भौतिक गुण में परिवर्तन मुख्य रूप से जल में कीचड़, तेलगंध, सूक्ष्मकण, रंग, जीवांश तथा कीटाणुओं के मिलने से होता है जबकि रासायनिक गुण में परिवर्तन क्लोराइड, सल्फाइड, नाइट्रोजन, कार्बोनेट, अमोनिया, नाइट्रेट, कीटनाशी दवा, रोगनाशी दवा, शाकनाशी, कृत्रिम रसायन, पारा, नमक तथा रेडियोधर्मी तत्वों के मिलने से होता है।

पर्यावरणीय प्रदूषण से मानव समस्याग्रस्त होता है। जल का अधिकांश भाग प्रदूषित हो गया है। जल मानवीय तथा औद्योगिक गतिविधियों के साथ-साथ कृषिगत कार्यों से सबसे अधिक प्रदूषित होता है। बड़े शहरों तथा औद्योगिक केन्द्रों के किनारे नदियां सबसे अधिक प्रदूषित होती है। औद्योगिक कचरों का जल प्रदूषण में एक तिहाई योगदान है। देश के 22 प्रदूषित क्षेत्रों में अशोधित औद्योगिक कचरों से जल में साइनाइड तथा क्रोमियम की मात्रा में 20 गुना वृद्धि होती है।

ग्रामीण तथा छोटे शहरी क्षेत्रों में जहां औद्योगिक इकाईयां नहीं के बराबर हैं, वहां अधिकांश प्रदूषण मानव द्वारा जल में उत्सर्जी पदार्थ तथा कचरे डालने से होता है। प्रदूषित जल के उपयोग से आंत की बीमारी, अतिसार, हैजा इत्यादि अनेक बीमारियां होती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार कुल संक्रामक बीमारियों का 20 प्रतिशत तथा सभी बीमारियों का 11.5 प्रतिशत जल प्रदूषण द्वारा होती हैं, जिससे दुनिया में प्रतिवर्ष 3 करोड़ 10 लाख लोगों की मौतें होती हैं, तथा 90 करोड़ लोग बीमार होते हैं। इससे प्रत्येक वर्ष विश्व में, एक करोड़ बच्चों की मौत होती है। एक अध्ययन के अनुसार भारत में एक हजार नवजात शिशुओं में से लगभग 127 बच्चे हैजा, डायरिया तथा प्रदूषित जल से उत्पन्न अन्य रोगों से मर जाते हैं। एक वर्ष से पांच वर्ष की आयु के लगभग 15 लाख बच्चे प्रतिवर्ष प्रदूषित जल के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

गोलकृमि के संक्रमण से 90 करोड़ लोग प्रभावित होते हैं। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 1988-93 के दौरान भारत में 18 करोड़ 57 लाख लोगों को स्वच्छ पेयजल नहीं मिलता था। शहरी क्षेत्रों में भी नल द्वारा आपूर्ति किया जाने वाला जल सुरक्षित नहीं रहता है। इन जालों में भी शीशा, पारद, रासायनिक तथा अन्य विषैले पदार्थों, जैसा औद्योगिक प्रदूषित पदार्थ पाये जाते हैं। ये पदार्थ जल में घुल जाते हैं और उनको अलग करना मुश्किल होता है।

विभिन्न क्षेत्रों के लिए निर्धारित ध्वनि सीमा	**डेसीबल में [dB(A)Leq])**	
आवासीय	दिन	रात
	55	45
व्यवसायिक	65	55
औद्योगिक	75	70
शांत क्षेत्र के अन्तर्गत अस्पताल, शैक्षणिक संस्थाएं तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्र आते हैं।		
नोट dB(A)Leq- का अर्थ समय आधारित ध्वनि पैमाना है। (A) मानव के लिए सापेक्ष है।		

जल प्रदूषण के निम्नलिखित कारण हैं :

- घरेलू तथा औद्योगिक कचरे और प्रदूषित पदार्थों को नदियों, तालाबों एवं अन्य खुले स्थानों पर उढ़ेलने से।
- कृषि कार्य में उर्वरक तथा कीटनाशकों के अत्यधिक प्रयोग से।
- गैसीय प्रदूषित पदार्थ पर्यावरण के संपर्क में आकर अम्ल वर्षा के रूप में जल को प्रदूषित करते हैं।
- झील, नदी तथा तालाब में मानवीय तथा जंतुओं के स्नान करने, बर्तन धुलने तथा अधजले और बिना जले शवों को डालने से।

भूमि प्रदूषण

रासायनिक उर्वरकों के अधिक प्रयोग, बाढ़, कीटनाशक, कई प्रकार के फसलों से मिट्टी की प्रकृति इतनी बदल गयी है कि उसकी स्वाभाविक उर्वरता बनाये रखने वाले तत्व नष्ट हो गये हैं। इस घटना को भूमि प्रदूषण कहते हैं।

मरुभूमि निर्माण : मरुभूमि निर्माण मानवीय गतिविधियों के कारण होता है। ऐसा अत्यधिक कृषि, अत्यधिक चराने, वनों की कटाई, गैर-नियोजित कृषि सिंचाई तथा वायु, जल एवं मिट्टी प्रदूषण की वजह से होता है। मरुभूमि विस्तार पारिस्थितिक तंत्र के लिए विनाशकारी है। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप खाद्यान्न का अभाव हो जाता है और कई प्रकार के जलवायु संबंधी परिवर्तन होते हैं।

ध्वनि प्रदूषण

मानव पर ध्वनि का असर ध्वनि की आवृति, तीव्रता और अवधि के अनुरूप पड़ता है। ध्वनि के मापक को डेसीबल कहते हैं। 85 डेसीबल तक की सीमा को बर्दाश्त किया जा सकता है। जब ध्वनि इस सीमा का अतिक्रमण करती है तो इसे ध्वनि प्रदूषण कहते हैं। ध्वनि प्रदूषण भारी वाहनों, लाऊड स्पीकर पर शोरगुल, जेट विमान तथा उद्योगों द्वारा होता है। इसका हमारे ऊपर मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। सुनने में कमी, बहरापन तथा मानसिक तनाव ध्वनि प्रदूषण के दुष्परिणाम हैं। इससे कई सूक्ष्म प्राणी और जंतु सहित वनस्पति नष्ट हो जाते हैं।

ध्वनि प्रदूषण और कानून : फरवरी 2000 में अस्तित्व में आये ध्वनि प्रदूषण (विनियमन तथा नियंत्रण) नियम के अनुसार रात्रि 10 बजे से सुबह 6 बजे के मध्य लाऊडस्पीकर नहीं बजाया जा सकता है। किंतु इस कर्फ्यू अवधि के दौरान भी लाऊडस्पीकर बजाया जाता है। इसका मुख्य कारण है कि कानून के पालन कराने वाले व्यक्ति स्वयं भी कानून तोड़ते हैं अथवा तोड़ने में मदद करते हैं।

जल में पाये जाने वाले रोगाणु तथा उनसे होने वाले रोग

रोग	रोगाणु
पीलिया, पोलिया	विषाणु
डायरिया	जीवाणु
हैजा	इंस्केरीचिया
टायफाइड	विक्रियो कालेरी
पेचिश	लैप्टोस्पाइरा स्पीसीज, सिजैला स्पीसीज
कृमिवर्ग, हुकवर्म	कृमि
चिकनगुनिया	कृमि

ध्वनि प्रदूषण विनियमन एवं नियंत्रण कानून के प्रावधान इस प्रकार हैं :

- राज्य सरकार नियम को लागू करने वाला प्राधिकारी है। उसे चाहिए कि विभिन्न क्षेत्रों को औद्योगिक, व्यवसायिक, आवासीय अथा शांत क्षेत्र के रूप में वर्गीकृत करें।
- राज्य सरकार को सुनिश्चित करना चाहिए कि ध्वनि निर्धारित सीमा से अधिक न हो।
- विकास परियोजनाओं को लागू करते समय ध्वनि प्रदूषण और इसका लोगों पर प्रभाव का भी विचार करना चाहिए।
- सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि लाऊडस्पीकर का प्रयोग प्राधिकार की लिखित अनुमति के बिना नहीं करना चाहिए। (रात्रि 10 बजे से सुबह 6 बजे के मध्य)
- इसके लिए पदनामित अधिकारी, जिला अधिकारी, पुलिस आयुक्त अथवा वैसे अधिकारी हैं, जिन पर इस नियम को कार्यान्वित कराने की जिम्मेदारी है।

ध्वनि प्रदूषण को वायु प्रदूषण का अंग माना जाता है और इसके लिए निरीक्षण करने वाला अभिकरण केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (ब्च्ब्ठ)है। हालांकि इस समस्या से निपटने के लिए बोर्ड के पास अभी तक एक भी कार्यालय नहीं है।

इसके अतिरिक्त ध्वनि प्रदूषण का निरीक्षण पर्व-त्यौहार के समय में ही किया जा सकता है और वह भी क्षेत्र विशेष में (उत्सव में समय मुम्बई में, महाकुंभ के समय प्रयाग में)। किंतु प्राधिकारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलाप की अवधि में ऐसा करना अनुचित मानते हैं।

वर्ष के अधिकांश काल में ध्वनि प्रदूषण मापने का खर्चीली मशीन में धूल जमा रहता है। यदि ध्वनि सीमा अतिक्रमण करने वाले के विरुद्ध ठोस सबूत नहीं मिलते हैं तो दोषी व्यक्ति को दंड देना कठिन होगा।

सन् 1960 से ध्वनि प्रदूषण दूर करने के लिए सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आवाज उठायी और परिणामस्वरूप पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 अस्तित्व में आया। इस आन्दोलन को विभिन्न उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय का समर्थन प्राप्त हुआ।

महासागर रेडियोएक्टिव कचरे की चपेट में

कुल 71 प्रतिशत भू-भाग समुद्रों से ढका होने के कारण पृथ्वी को पानी का ग्रह कहा जा सकता है। लेकिन पानी से जीवन पाने के बावजूद हमारी उपेक्षा या लापरवाही की वजह से दुनिया के लगभग सभी सागरों का अस्तित्व खतरे में है। मछलियों समेत तमाम दूसरी समुद्री जीव-जातियां विनाश के कगार पर हैं और सागर तटों की शक्ल दिनों-दिन बदरंग हुई है। साइंस पत्रिक 'नेचर' ने दो कनाडाई वैज्ञानिकों के हवाले से जो रिपोर्ट छापी है, उसके मुताबिक बीते 50 सालों में ही कॉड, हैलीबट, टयूना और सोर्डफिश जैसी महत्वपूर्ण मछली प्रजातियों का 9/10 हिस्सा मछली पकड़ने के बड़े अभियानों के कारण साफ हो गया है। पर्यावरण संस्था 'ग्रीनपीस' का आंकड़ा है कि विशालकाय ट्रॉलरों से मछली पकड़ने के कारण हर साल हजारों टन ऐसी अनुपयोगी मछलियां और अन्य समुद्री जीव भी पकड़ लिए जाते हैं, जिन्हें वापस समुद्र में नहीं छोड़ा जाता। यूं तो दुनिया के कई देशों में समुद्र नीति बनायी जाती है, लेकिन जागरूकता के अभाव के चलते नीति-नियमों का पालन ही नहीं हो रहा है। इनमें से बहुत से लोग यह नहीं जानते कि समुद्र की भूमिका जैव-विविधता कायम रखने, ऋतुओं के बदलने और मौसम के व्यवहार पर अंकुश रखने में ही नहीं, बल्कि लाखों-करोड़ों लोगों को भोजन व रोजगार देने में भी महत्वपूर्ण है। लेकिन पृथ्वी और मानव सभ्यता को जीवन देने वाले रत्नगर्भा समुद्र के साथ खिलवाड़ ही हो रहा है। समुद्र में तेल गैस से निकलने वाले अपशिष्टों के अलावा रेडियोएक्टिव पदार्थ और दूसरे जहरीले तत्व छोड़े जाते हैं। लंदन और आस्पार संधियों के लागू होने के बाद भी जिस तरह ला हेग (फ्रांस), सेलाफील्ड (ब्रिटेन) और डाउनरेय (उत्तरी स्कॉटलैंड) स्थित नाभिकीय संयंत्रों से रेडियोएक्टिव कचरा समुद्र में वर्षों तक फेंका गया। उससे तो यही जाहिर होता है कि मनुष्य अपनी जिम्मेवारियां समुद्र के माथे मढ़कर निश्चिंत हो जाना चाहता है। लेकिन उसकी यह कोशिश खुद के लिए घातक साबित हो सकती है। जहरीली बारिशें, अल नीनो व ग्रीन हाउस गैसों के प्रभाव के कारण सतह का तापमान बढ़ने से खाने योग्य मछलियों का संपूर्ण सफाया, जल स्तर बढ़ने से तटीय शहरों और द्वीपों का लुप्त होना और मौसम के विनाशकारी बदलाव जैसे कारकों से अगर बचना है, तो समुद्रों के बारे में नये सिरे से सोचना होगा।

जैव विविधता का क्षय

वन जैव द्रव और जैव विविधता से भरा हुआ है। वह जलवायु जलचक्र, मिट्टी अपरदन, वायुमंडल में कार्बन, नाइट्रोजन तथा आक्सीजन की मात्रा को संतुलित बनाये रखता है। इसके अतिरिक्त वन आर्थिक स्थिति, विकास तथा मानव के बचपन पर असर डालता है। वे वर्षा, तापमान, नियंत्रण तथा सौर्य विकिरण के नियंत्रण में भी उत्प्रेरक का कार्य करता है। जैसा कि मानव पर्यावरण प्रारंभ से ही वन से जुड़ा रहा है, जनसंख्या बढ़ने का असर वन पर पड़ता है। शनैः शनैः वन के अंधाधुंध कटाई से मानव के सम्मुख कई समस्याएं उत्पन्न हुई हैं।

विकासशील देशों में जलावन के लिए सबसे अधिक पेड़ की कटाई होती है। ग्रामीण क्षेत्र में देश में करीब 15 करोड़ टन जलावन की प्रतिवर्ष आवश्यकता होती है। किंतु यहां के जंगलों में आवश्यकता की एक तिहाई

CHRONICLE IAS ACADEMY

जलावन का ही प्रतिवर्ष आपूर्ति की क्षमता है। शेष दो तिहाई भाग जलावन की कमी की आपूर्ति वनों के अविवेकपूर्ण कटाई द्वारा होती है।

वनों के तेजी से कटाई के कारण भारत में पारिस्थितिकी असंतुलित हो गयी है। सैकड़ों वन्य प्रजातियां विनष्ट हो गयी हैं, तथा उनके प्राकृतिक निवास स्थल भी नष्ट हो गये हैं। पश्चिमी घाट और उत्तर-पूर्व के वनों की कई बहुमूल्य प्रजातियां लुप्त हो गयी हैं। बाढ़, मिट्टी उत्पादन, भूमि स्खलन एवं नदी के प्रवाह क्षेत्र अवरूद्ध होने की घटनाएं देश में आम बात हो गयी है।

जैव विविधता का नाश भी पर्यावरण संकट का एक प्रमुख कारण है। बढ़ती जनसंख्या तथा वन्य प्रजातियों के आश्रय स्थल के नाश से वन पारिस्थितिकी प्रभावित हुई है। वृक्ष प्रजातियों की संपन्नता की दृष्टि से भारत का विश्व में 12वां स्थान है। विश्व में 2,50000 ज्ञात वृक्ष प्रजातियां हैं। भारत में 45000 वृक्ष प्रजातियां तथा 4900 प्रकार के फूल पाये जाते हैं। भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण तथा भारतीय जैव सर्वेक्षण के अनुसार 79 स्तनधारी प्रजातियां, 44 पक्षी प्रजातियां, 15 सरीसृप प्रजातियां, 3 उभयचर प्रजातियां तथा करीब 1500 वृक्ष प्रजातियां विलुप्त होने के कगार पर हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय जैव विविधता वर्ष

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपनी महासभा की 83वीं बैठक के पश्चात वर्ष 2010 को अन्तर्राष्ट्रीय जैव विविधता वर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया। वर्ष 2010 को अन्तर्राष्ट्रीय जैव विविधता वर्ष घोषित करते हुए संयुक्त राष्ट्र ने अपने संदेश में यह कहा कि मानव प्रकृति की समृद्ध विविधता का एक महत्वपूर्ण भाग है तथा उसे इस विविधता को नष्ट करने या बचाये रखने की असीम क्षमता प्राप्त है। पृथ्वी पर उपलब्ध प्राकृतिक एवं जैवीय विविधता जीवित तंत्र के सतत विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है तथा मानव के खाद्य, ईंधन, स्वास्थ्य एवं धन का सबसे बड़ा स्रोत है।

प्रदूषक पदार्थों के खतरे

मानव तथा उद्योगों द्वारा उत्सर्जित पदार्थों को कचरा कहा जाता है। प्लास्टिक, पॉलीथिन, रबड़ तथा धातु, जैसे कचरे से पृथ्वी को खतरा है। ठोस कचरे को दो वर्गों में बांटा जा सकता है:

(1) अपक्षीय (2) गैर-अपक्षीय

गैर जैव अपक्षीय कचरे से पर्यावरण को गंभीर खतरा है। विकासशील देशों में इन कचरों को अक्सर खुले या असुरक्षित स्थानों में उड़ेल दिया जाता है। आगामी 15 वर्षों में भारत द्वारा उत्सर्जित भारी पदार्थों वाले कचरे की मात्रा प्राय: उतनी ही होगी जितनी कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा होगी। यत्र-तत्र कूड़ा फेंकने से स्वास्थ्य समस्या उत्पन्न होती है। प्लास्टिक तथा सिंथैटिक पदार्थों के अपघटन में काफी समय लगता है। तब तक वे जल, अन्य खतरनाक पदार्थ तथा सूर्य के प्रकाश से मिलकर दुर्गन्धयुक्त गैसें छोड़ते हैं, जिससे वायु प्रदूषित हो जाती है। अक्सर ये पदार्थ जल आपूर्ति तंत्र में मिलकर जल आधारित बीमारियां उत्पन्न करती हैं। भारत में खतरनाक औद्योगिक कचरों से पर्यावरण को हो रही क्षति, चिन्ता का विषय है। यदि इन पदार्थों को अशोधित छोड़ दिया जाता है, तो इससे उत्पन्न जैव गैसें शनै: शनै: वायुमंडल में समाहित हो जाती हैं। जैव गैस में 65-75 तक मीथेन रहता है, जो एक ग्रीन हाऊस गैस है। इसमें कार्बन डाई आक्साइड से दुगुनी वैश्विक तापवृद्धि करने की क्षमता होती है। कचरे के उपयोग के लिए उपयुक्त तकनीकी का विकास आवश्यक है ताकि स्वास्थ्य और पर्यावरण पर होने वाले इसके दुष्प्रभाव को रोका जा सके।

ऊर्जा संकट

सूर्यताप, जल, जलावन, कोयला, गैस तथा पेट्रोलियम ऊर्जा के प्राकृतिक स्रोत हैं। इन संसाधनों के अनियोजित तथा अति दोहन से वैश्विक ऊर्जा संकट उत्पन्न हुआ है। जलावन, कोयला, पेट्रोलियम तथा इन गैसों की कमी के कारण भविष्य में ये स्रोत नष्ट हो जायेंगे। उद्योग, परिवहन, कृषि, गृह कार्य तथा विज्ञान और तकनीकी कार्यों में ऊर्जा के बढ़ते उपयोग से ऊर्जा संकट की वैश्विक समस्या उत्पन्न हुई है।

भारत में विश्व की औसत व्यवसायिक ऊर्जा का 1/8 भाग खपत होता है। ऊर्जा संसाधनों के अंधाधुंध प्रयोग से ऊर्जा संकट उत्पन्न हो गया है।

पर्यावरणीय संकट के कारण

जनसंख्या विस्फोट

विश्व जनसंख्या में प्रति वर्ष 9 करोड़ 20 लाख की वृद्धि होती है। भारत में प्रति सेंकड एक व्यक्ति पैदा होता है। पर्यावरण को भारत में सबसे अधिक खतरा जनसंख्या वृद्धि से है। जनसंख्या का मुद्दा प्रारंभ से ही बड़ा संवेदनशील रहा है। हालांकि बढ़ती जनसंख्या और पर्यावरण संकट का सीधा संबंध है। जनसंख्या बढ़ने के कारण अधिक खाद्यान्न, कृषि के लिए अधिक भूमि, अधिक खनिज, अधिक ऊर्जा तथा अधिक मात्रा में जल चाहिए। इसके कारण अधिक रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक का प्रयोग तथा वनों की कटाई होती है। अतएव जनसंख्या वृद्धि से कई समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इनमें पर्यावरण संकट प्रमुख है।

गरीबी : पर्यावरणीय क्षति तथा जनसंख्या वृद्धि का सर्वाधिक असर निर्धन व्यक्तियों पर पड़ता है। किन्तु पर्यावरण को सर्वाधिक क्षति भी वे पहुंचाते हैं।

औद्योगीकरण : आज भारत विश्व का दसवां औद्योगिक राष्ट्र है। औद्योगिक प्रदूषण और कचरे के उत्सर्जन की दृष्टि से भारत सर्वाधिक प्रदूषित देशों में से एक है। प्रदूषण के मामले में औद्योगिक इकाइयों की तटस्थता के कारण वायु, जल तथा भूमि प्रदूषण की समस्या गंभीर हुई है। अनियंत्रित औद्योगिक विकास के कारण वास्तविक समस्या उत्पन्न हुई है। इसके साथ-साथ अधिकांश औद्योगिक इकाइयां द्रव, गैस और ठोस के रूप में प्रदूषित पदार्थों का उत्सर्जन करते हैं जो अक्सर विषैले और खतरनाक होते हैं। खतरनाक उत्सर्जी पदार्थों के परिशोधन और निपटान के लिए सतर्कता पूर्वक निरीक्षण की आवश्यकता है। कभी-कभी औद्योगिक इकाइयां इन प्रदूषक पदार्थों को बिना परिशोधन के छोड़ देती हैं।

ऊर्जा संकट : विभिन्न कार्यों के हेतु ऊर्जा उपलब्धता के विस्तार में जनसंख्या वृद्धि तथा आर्थिक विकास सहयोगी रहा है। विश्व संसाधन रिपोर्ट के अनुसार ग्रीन हाऊस प्रभाव में योगदान करने में भारत का स्थान पाचवां है, फिर भी भारत में ऊर्जा की कमी के संकट से गुजर रहा है।

निरक्षरता और अज्ञानता : सिर्फ भारत में ही नहीं, अपितु विश्व स्तर पर निरक्षरता और अज्ञानता पर्यावरण की क्षति में भागीदार रही है। पर्यावरण साक्षरता का स्तर बहुत निम्न है। अतएव लोग पर्यावरण विनाश के दुष्प्रभाव को समझने में अक्षम रहे हैं।

असमानता : विश्व स्तर पर व्याप्त असमानता, पर्यावरण विनाश के लिए जिम्मेदार सबसे बड़ा कारण है। इसमें दिनानुदिन वृद्धि होती जा रही है। असमान विकास के कारण एक ओर समाज के शीर्ष स्तर पर बैठे लोगों में विलासिता बढ़ रही है, तो दूसरी ओर निचले स्तर पर लोग भूखमरी के शिकार हो रहे हैं। समाज के दोनों छोर पर अवस्थित लोगों से पर्यावरण को सर्वाधिक क्षति है, न कि मध्यम वर्ग से। गरीबों की आवश्यकता और अमीरों लिप्सा से पर्यावरण को अधिक खतरा है।

पर्यावरण संरक्षण एवं विकास

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री व समाज वैज्ञानिक गुन्नार मिर्डल के अनुसार 'विकास'

का अर्थ है– "बुद्धि विवेकसम्मत मूल्यों का विकास और प्रयोग, विशेष रूप से आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर।" पर्यावरण विनाश, आज विश्व में गंभीर समस्या के रूप में मुंह फैलाये खड़ा है। भारत में इसके दुष्प्रभाव सूखा, बाढ़, वन विनाश इत्यादि रूप में परिलक्षित हैं। सबसे बड़ा कारण जनसंख्या वृद्धि और तदजन्य गरीबी है। आर्थिक विकास के साथ-साथ औद्योगीकरण, शहरीकरण, प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और लोगों के जीवन यापन की शैली का प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है। पर्यावरण सरंक्षण के लिए वनों का भी संरक्षण अनिवार्य है। वन जंगली जानवरों की शरणस्थली होते हैं और जीव-जंतुओं व मानव की जीवन-दायिनी हवा 'आक्सीजन' प्रदान करने एवं जहरीली प्रदूषित हवा को शोषित करने वाले उपकरण हैं। भारतीय वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून के अनुसार एक वृक्ष अपने जीवनकाल में 15 लाख 70 हजार रुपये का फायदा मानव जाति को पहुंचाता है।

वृक्षों की अनियंत्रित कटाई से दक्षिणी-पश्चिमी हरियाणा व राजस्थान में 'जाटी' के पौधों पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। प्रतिदिन इस इलाके का चंदन ट्रकों में भरकर उद्योगों की चिमनियों में स्वाहा हो जाता है। यदि हालात यही रहे तो एक दिन हरियाणा व राजस्थान का यह संपूर्ण क्षेत्र शुष्क, वृक्षविहीन मरुस्थल में परिवर्तित हो जाएगा और आगे आने वाली भावी पीढ़ियां वर्तमान मानव को उसके कुकृत्यों के लिए कोसेंगी।

सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात बहुत से परिवर्तन हुए हैं। सभी क्षेत्रों में प्रगति के बावजूद जनसंख्या वृद्धि की ओट में विकास कार्य बौने हो गये हैं। जनसंख्या वृद्धि का सीधा असर भूमि, जल तथा वायु पर पड़ता है। विनिर्माण के लिए जमीन को उपयुक्त बनाने के लिए पेड़ काटने का असर पर्यावरण पर पड़ता है। खाद्यान्न की अधिक आपूर्ति हेतु वन की कटाई द्वारा अधिक भूमि अथवा अधिक उर्वरक और कीटनाशक के प्रयोग से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अधिक उर्वरक तथा कीटनाशक के प्रयोग से भूमि की उर्वराशक्ति नष्ट हो जाती है, इससे पर्यावरण पर कई दुष्प्रभाव पड़ते हैं। विकास कार्य को यदि पर्यावरण से नहीं जोड़ा गया, तो इससे पारिस्थितिकी असंतुलित हो जायेगी।

पर्यावरण तथा कानून

मूल संविधान में पर्यावरण संरक्षण हेतु विशिष्ट प्रावधान का उल्लेख नहीं है। किन्तु सिद्धांततः कुछ प्रयासों की चर्चा की गयी है। सन् 1970 तथा 1980 के दशक में कुछ प्रावधान संविधान में जोड़े गये। विभिन्न राज्य सरकारों व भारत सरकार ने पर्यावरण सुरक्षा हेतु विभिन्न कानून बनाए हैं जैसे-कीटनाशक एक्ट 1968, वन्य जीवन एक्ट 1972, जल प्रदूषण एक्ट 1974, वायु प्रदूषण नियंत्रण एक्ट 1981 और पर्यावरण संरक्षण एक्ट 1986 आदि। प्रथम, 1976 में 42 वें संविधान संशोधन द्वारा पर्यावरण संरक्षण हेतु विशिष्ट प्रयास किये गये हैं। ईंधन की समस्या ने ही विश्व स्तर पर विभिन्न भागों में महिलाओं की दिनचर्या को तनावपूर्ण बना दिया है। विश्व प्रसिद्ध 'चिपको आंदोलन' गढ़वाल की महिलाओं द्वारा चलाया गया था। आंदोलन का मुख्य उद्देश्य वनों की कटाई पर रोक लगाना था, ताकि महिलाओं को ईंधन व चारे की तलाश में लंबी यात्रा न करनी पड़े। इसी प्रकार का आंदोलन दक्षिण भारत में चलाया गया था। राजस्थान में 'विश्नोई समाज' की महिलाओं द्वारा वृक्षों को कटने से बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे देने की कथा विश्व में प्रसिद्ध है। 'चिपको आंदोलन' से प्रभावित होकर केन्या के प्रोफेसर बंगारी मथाई ने अफ्रीका में 'ग्रीन बेल्ट मूवमेंट' चलाया था। वर्तमान में यह आंदोलन संपूर्ण अफ्रीका में फैल चुका है। एक अध्ययन के अनुसार गुजराती गृहणी द्वारा भोजन पकाते समय उसके आसपास कार्बन कणों की मात्रा 700 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर होती है जबकि स्वस्थ मनुष्य के लिए यह मात्रा 75 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर से अधिक नहीं होनी चाहिए। जैविक ईंधन से निकलने वाली 'बेजोपाइरीन' गृहणी ग्रहण करती है जिसकी मात्रा 400 सिगरेट जलने के बराबर होती है। इन्ही सब समस्याओं के समाधान के लिए भारत में 'मेघा पाटेकर' वंदना शिवा', 'सुनीता नारायण', एवं 'सुमन सहाय' जैसी महिलाओं का योगदान प्रमुख रहा है।

वन तथा वन्य जीवन के संरक्षण हेतु राज्य के नीति निर्देशक तत्व, मौलिक कर्तव्य तथा समवर्ती सूची में प्रावधान हैं। जहां राज्य का कर्तव्य है कि वह पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्द्धन करें, वहीं प्रत्येक नागरिक का यह मौलिक कर्तव्य है कि वह वन, झील, नदी तथा वन्य जीवन, जैसे प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करें तथा सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखें।

तथापि दस वर्षों तक कानून में कहीं भी पर्यावरण शब्द का उल्लेख नहीं किया गया। संविधान की सातवीं अनुसूची में पर्यावरण शब्द की चर्चा का न होना, पर्यावरणविदों की दृष्टि में भयंकर नीतिगत भूल थी। फलस्वरूप द्वितीय प्रयास के रूप में पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 का अस्तित्व में आया है। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के बाद ही हुआ। भारत इस समझौते का सदस्य है किन्तु इस दिशा में हुए कागजी प्रयास, कागजी तथा संकीर्ण स्तर के हैं।

संरक्षण के उपाय

भारत में पर्यावरणीय समस्या को दो वर्गों में विभाजित किया गया है– प्रथम विकास कार्य के नकारात्मक पहलुओं की देन है और द्वितीय गरीबी एवं अल्प विकास की उपज है। प्रथम समस्या द्रुत विकास के दुष्प्रभाव तथा विकास परियोजनाओं के ढीले प्रबंधन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। द्वितीय वर्ग का असर हमारे स्वास्थ्य तथा भूमि, मिट्टी, जल, वन्य जीवन, अंतरिक्ष इत्यादि पर पड़ता है। इनकी जड़ में गरीबी है।

वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण के लिए अनेक कानून हैं। इनमें से प्रमुख हैं– वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम 1972, वन संरक्षण अधिनियम 1980, वायु (प्रदूषण नियंत्रण एवं निवारण) अधिनियम 1981, जल (प्रदूषण नियंत्रण एवं निवारण) अधिनियम 1977 तथा पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986। इसके अतिरिक्त मोटर वाहन अधिनियम 1936, यथा संशोधित 1988। इसके साथ-साथ कारखाना अधिनियम तथा कीटनाशक अधिनियम भी हैं। सरकार समय-समय पर स्वच्छतापूर्वक कम खर्च में कचरा परिशोधन तकनीकी, जल की गुणवत्ता बढ़ाने, मानव संसाधन का विकास करने तथा वानिकी एवं प्राकृतिक संसाधन लेखा हेतु प्रावधान बनाती रही है।

पर्यावरण संकट से निपटने के लिए वन एवं पर्यावरण मंत्रालय सबसे प्रमुख संस्था है। रासायनिक पदार्थों के स्राव से उत्पन्न संकट से निपटने के लिए आपदा प्रबंधन योजना तैयार की गयी है। योजना में त्रि-स्तरीय प्रणाली है– केन्द्र स्तर पर, राज्य स्तर पर तथा जिला अथवा स्थानीय स्तर पर। कचरा के उपयोग के लिए राष्ट्रीय कचरा प्रबंधन समिति का गठन किया गया है। इसमें संयंत्रों से उड़ने वाले राख के उपयोग पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य सरकारों से अनुरोध किया गया है कि वे पचास प्रतिशत राख का सदुपयोग करना प्रारंभ कर दें। इस कार्य के लिए देश के पंद्रह शहरों को चुना गया है। गंगा कार्य योजना के कार्य की समीक्षा के लिए केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण का सन् 1985 में गठन किया गया।

सरकार की भूमिका

प्रभाव आकलन

नदी घाटी, ताप विद्युत, खनन, औद्योगिक, तटीय क्षेत्र प्रबंधन, परमाणु ऊर्जा, परिवहन क्षेत्र इत्यादि के स्थान, तकनीकी की उपादेयता, संसाधन उपयोग की क्षमता तथा चक्रण के संबंध में पर्यावरणीय क्षमता की सरकार समीक्षा करती है।

प्रभाव के आकलन का काम सन् 1978 से प्रारंभ किया गया है। इसके तहत सभी नदी परियोजनाओं को सम्मिलित किया गया है। राष्ट्रीय संरक्षण रणनीति के तहत सरकार 1992 से विकास कार्य और पर्यावरण के बीच

सांमजस्य स्थापित करते हुए योजनाएं बनाती है।

शोध

धारणीय संसाधन प्रबंधन तथा प्रमुख क्षेत्रों में कार्य हेतु मानव संसाधन विकास के लिए सरकार ने पर्यावरणीय शोध पर विशेष बल दिया है। शोध परियोजनाएं तीन प्रकार की होती हैं– मानव और जैव मंडल कार्यक्रम, पर्यावरण शोध कार्यक्रम, पूर्वी तथा पश्चिमी घाट के लिए कार्य आधारित कार्यक्रम। हिमालय के संवर्द्धन हेतु विकास रणनीति, तकनीकी तथा गंभीर परिस्थिति ज्ञान अर्जन के लिए सन् 1988 में 'गोविन्द वल्लभ पंत हिमालयी पर्यावरण एवं विकास संस्थान' की स्थापना की गयी। पर्यावरण सूचना प्रणाली नेटवर्क (ENVIS)के माध्यम से विभिन्न आयु वर्गों के बीच पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढ़ाने हेतु, पर्यावरण शिक्षा पर सरकार ने विशेष जोर दिया है।

जागरूकता

भारत में पर्यावरणीय संबंधी सूचना का प्रसाद प्रेस, रेडियो तथा दूरदर्शन, जैसे जनसंचार माध्यम से किया जाता है। इन कार्यक्रमों का प्रसार उनके पहुंच तक सीमित है। सुस्पष्ट रूप से प्रसारित पर्यावरण समाचार से पर्यावरण विनाश के प्रति लोगों को सचेष्ट किया जा सकता है, तथा जन जागृति पैदा कर पर्यावरण खतरे को टाला जा सकता है।

जन सहभागिता सभी समस्याओं का निदान

इस समस्या को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। एक कारण से दूसरी समस्या पैदा होती है। पर्यावरण संकट लोगों के नकारात्मक रवैये के कारण उत्पन्न होता है। प्रदूषण, ऊर्जा संकट, वन विनाश, जैव विविधता का नाश इत्यादि मानवीय गतिविधियों की देन है। पर्यावरण संरक्षण में जन सहभागिता अनिवार्य है। पर्यावरण के सबसे बड़े संरक्षक लोग ही हो सकते हैं। ■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

5 प्राकृतिक आपदाएं

पर्यावरणीय संकट को परिभाषित करना कठिन है। प्राकृतिक संकट को 'बर्टन' ने इस प्रकार परिभाषित किया है– पर्यावरण के वैसे कारक, जो मानव को क्षति पहुंचाते हैं और जिनकी उत्पत्ति के पीछे मानवेत्तर तत्वों का हाथ होता है। पारंपरिक रूप से प्राकृतिक संकटों को 'ईश्वरीय प्रकोप' के रूप में देखा जाता है। यह दृष्टिकोण किसी भी दृष्टि से समस्या के निदान हेतु सहायक नहीं रहा है क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार, इन संकटों में मनुष्य की कुछ भी भूमिका नहीं है और इनका निदान भी उससे संभव नहीं। कार्य-कारण के संबंध में बदल रहे धारणा के कारण पर्यावरणीय संकट के संबंध में भी धारणा में परिवर्तन आया है। जब जाने अथवा अनजाने में विश्व पर मानव का प्रभाव बढ़ा है तब ऐसी स्थिति में 'ईश्वरीय प्रकोप' और 'मानव निर्मित घटना' में अंतर करना कठिन है।

संकट का संबंध मानव के जीवन और संपत्ति से है। वास्तव में, मानव जीवन, संपति और उसके क्रियाकलापों को क्षति पहुंचाए बिना कोई संकट उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। संकट दो प्रकार के होते हैं– प्राकृतिक और मानव निर्मित।

प्राकृतिक संकटों को मानव प्रभावित करता है और इसे गंभीर बना देता है। भौगोलिक संकट मानव द्वारा प्रदूषण फैलाने से उत्पन्न होता है। लाल सागर को प्रदूषित करने तथा पनामा तट पर तेल के टैंकर उढ़ेलने से प्रवाल की वृद्धि एवं अन्य समुद्री जीव सहित समुद्री पर्यावरण के व्यापक क्षेत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

प्राकृतिक संकट को पारिस्थितिकी के दृष्टिकोण से देखना सही रहेगा। इसके अनुसार प्राकृतिक घटना और प्राकृतिक संकट में अंतर है। चूंकि पृथ्वी एक अत्यंत गतिशील ग्रह है, इसलिए पर्यावरणीय प्रक्रिया में लगी सामग्री तथा ऊर्जा के उपयोग में लगे समय की दृष्टि से बहुत सी प्राकृतिक घटना में व्यापक अंतर है।

अतएव, प्राकृतिक संकट मानव द्वारा भू-भौतिक प्रक्रिया को छेड़ने से उत्पन्न होता है और यह प्राकृतिक घटना, व्यवस्था तथा मानव द्वारा उपयोग करने की व्यवस्था के संघर्ष का परिणाम है।

भूकंप

भूकंप एक बहुत बड़ा संकट है। इससे लगभग 35 देश प्रभावित हैं और इस संकट से प्रतिवर्ष मानवीय जान को सबसे अधिक खतरा पहुंचता है। भूकंप जैसी प्राकृतिक घटना दीर्घकाल से मानव ऐतिहासिक इतिवृत में मिलता है। हालांकि, आजकल यह वैज्ञानिक शोध का विषय है तथा इसका अध्ययन भूकंप विज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। भूकंप के होने और इसके फैलने की सभी घटनाएं भूकंपीय घटनाएं हैं।

प्राकृतिक कारणों से भू-पटल के हिलने की घटना भूकंप है। विवर्तनिक घटनाओं तथा भू-सामग्रियों के निर्माण एवं विनाश की दृष्टि से भू-परत में गति के कारण भूकंप होता है।

रचनात्मक पट्टिका सीमांत : मध्य समुद्री कटक के नीचे से द्रवित पदार्थों से सतत उर्ध्वप्रवाह के कारण भू सामग्रियों के नियमित वृद्धि होने से इनका निर्माण होता है। इसे अपसारित पट्टिका सीमांत भी कहा जाता है। अपसारित पट्टिकाओं की गति विपरीत दिशा में रहती है।

विध्वंशक पट्टिका सीमांत : जब दो अभिमुख पट्टिकाएं एक दूसरे से टकराती हैं तो भारी पट्टिका का सीमांत नीचे दब जाता है और हल्की पट्टिका का सीमांत ऊपर उठ जाता है। इससे पृष्ठीय पदार्थों का सतत क्षय होता है और उच्चस्तरीय भूकंप आता है।

परिमित पट्टिका सीमांत : इसमें दो पट्टिकाएं बिना टकराए एक-दूसरे के ऊपर से गुजर जाती हैं। इस प्रक्रिया में पृष्ठ का न तो निर्माण होता है और न ही उसका क्षय। इन पट्टिका सीमांतों से जुड़ी हुई मुख्य विर्वतनिक घटनाएं हैं– रचनात्मक पट्टिका सीमांत के साथ पड़ने वाले भ्रंश और दरार।

सामान्यत: मध्य समुद्री कटक के नीचे से लावा की धीमी गति से उर्ध्वप्रवाह के कारण तथा इनसे चट्टानों के दूर खिसकने और रचनात्मक या अपसारित पट्टिका सीमांतों के पृष्ठ में पड़े दरार से कम गति का भूकंप आता है। फलस्वरूप ऊपरी केंद्र का भूकंप मध्य समुद्री कटक के आसपास आता है। भूकंप के केंद्र की गहराई का संबंध 25 से 35 कि.मी. पहुंच वाले रचनात्मक पट्टिका सीमांतों से है। परंतु कई भूकंप के केंद्र 60 कि. मी. गहराई तक पाए गए हैं।

दो अपसारित पट्टिकाओं के आपसी टक्कर तथा एक के नीचे दब जाने के कारण अपसारित या विध्वंशात्मक पट्टिका सीमांतों के आसपास अधिक विस्तार और गहरे केंद्र वाले भूकंप आते हैं। यहां पर्वत, निर्माण, भ्रंश और तीव्र ज्वालामुखी विस्फोट से 700 कि.मी. तक गहरे केंद्र वाला भूकंप आता है। कांगड़ा, बिहार व असम में आये चार भूकंपों के विश्लेषण से पता चला है कि हिमालय के उन भागों में भविष्य में भूकंपों द्वारा क्षति की संभावना है जहां वह पिछले 30 या अधिक वर्षों से नहीं आये हैं। यही भाग भूकंपीय अंतराल है, जहां निकट भविष्य में फटाव की संभावना अत्यधिक है। बड़े भूकंपों की पुनरावृत्ति अवधि भिन्न-भिन्न भागों में एक समान होना चाहिए, परंतु हिमालय के विभिन्न भागों को विभाजित करने वाले भ्रंशों के कारण यह पर्वत श्रृंखला एक ही समय, एक साथ फट नहीं सकती। इस कारण बड़े भूकंप इस प्लेट की सीमा के विभिन्न भागों में एक ही पुनरावृत्ति अवधि में आएंगे, पर एक साथ कभी नहीं। यह भूकंपीय अंतराल की अवधारणा है।

भूकंप का विस्तार

भूकंप वैज्ञानिकों द्वारा 30,000 भूकंपों के कंप्यूटर विश्लेषण और अनुरूपण के आधार पर तैयार किया गया भूकंप विस्तार मानचित्र के अनुसार पृथ्वी को तीन भूकंप क्षेत्रों में बांटता है:

भारत में अब तक के बड़े भूकंप

वर्ष	स्थान	रिक्टर स्केल
1905	कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)	8.0
1934	बिहार (नेपाल बार्डर)	8.3
1941	अंडमान	8.1
1950	असम	8.5
1975	लातूर एवं किल्लारी, हिमालय	6.2
1988	बिहार (नेपाल बार्डर)	6.5
1991	उत्तरकाशी	6.6
1993	लातूर (महाराष्ट्र)	6.3
1997	जबलपुर (मध्यप्रदेश)	6.0
1999	चमोली (उत्तरांचल)	6.8
2000	केरल	5.0
2001	गुजरात	6.9-7.9

1. प्रशांत पट्टी घेरा अथवा प्रशांत महासागर के चारों ओर फैला अग्नि घेरा।
2. मध्य-महाद्वीपीय पट्टी–यूरेशिया की अल्पाईन- हिमालयी श्रृंखला, उत्तर-अफ्रीका और पूर्व अफ्रीकी भ्रंश क्षेत्र के भूकंप क्षेत्र।
3. मध्य-अटलांटिक पट्टी–मध्य अटलांटिक कटक एवं इसकी शाखाओं के आसपास फैले भूकंप क्षेत्र।

भूकंप के विनाशकारी प्रभाव

भूकंप की तीव्रता के विस्तार के आधार पर उसकी तीव्रता और विनाशकारी तीव्र प्रभावों का आकलन किया जाता है किंतु किसी भूकंप विशेष में जान-माल की क्षति के आधार पर इसे पारिभाषित किया जाता है। भूकंप तभी खतरनाक होता है जब यह रिहायशी क्षेत्र से टकराता है। रिक्टर पैमाना पर मापे गए सॉफ्टशेल भूकंप से व्यापक क्षति होती है, क्योंकि इस भूकंप से भूस्खलन, बाढ़ और आगजनी जैसी अन्य प्राकृतिक घटनाएं घटती हैं। यह आवश्यक नहीं कि भूकंप से प्रत्यक्ष क्षति ही हो, अपितु इसके अप्रत्यक्ष खतरे भी हैं।

ढलान असंतुलन और भूस्खलन: कमजोर भू-परत वाले पर्वतीय और पहाड़ी भागों में भूकंप के कारण ढलान के कमजोर पड़ने से भूस्खलन होता है और मलबा गिरने से रिहायशी क्षेत्र को नुकसान पहुंचता है।

बरसात के दिनों में हल्के भूकंप आने से भी पठारी और पर्वतीय क्षेत्रों में भूस्खलन होता है। यही कारण है कि वर्षा ऋतु में भू-स्खलन से लोगों को भूकंप होने की आहट मिलती है।

सन् 1970 में पेरू में आए भूकंप के कारण चट्टान खिसकने से हुई विनाशकारी त्रासदी के भयंकर दास्तान हैं। पेरू के हुआस्करान पर्वत के हिम क्षत्रक के फटने से यह त्रासदी घटित हुई। बर्फ के विशाल टुकड़ों के खिसकने से हजारों टन चट्टानें स्खलित हुईं। फलस्वरूप हुआस्करान के ढलान से बड़ी भारी मात्रा में मलबा नीचे गिरा। इससे कई इमारतें नष्ट हुईं ओर लगभग 25000 लोग मारे गए।

मानवीय संरचना को क्षति: भूकंप से सबसे बड़ी क्षति मानव निर्मित संरचनाओं को होती है। इन संरचनाओं के अंतर्गत भवन, सड़क, फैक्ट्री, बांध और पुल आते हैं। इस प्रकार भूकंप से संपत्ति का भारी नुकसान होता है।

इस संबंध में यह ध्यान देने लायक है कि मानवीय संरचना की क्षति भूकंप की तीव्रता और विस्तार पर ही निर्भर नहीं है बल्कि उस भूमि की प्रकृति पर भी निर्भर है जिस पर भवन निर्मित है।

शहरों और नगरों को क्षति: भूकंप का सर्वाधिक विनाशकारी प्रभाव शहरों और नगरों पर पड़ता है क्योंकि इनमें भवनों और मानवीय जनसंख्या की सघनता रहती है।

भूकंपीय अंतराल

हिमालय में बड़े भूकंप की संभावनाएं उन भागों में हैं जहां वह पहले नहीं आये, अर्थात भूकंपीय अंतराल वह स्थान है जो पिछले 100 वर्षों में नहीं फटे हैं। कांगड़ा (1905), बिहार व असम (1934, 1987) व असम (1950) में आए भूकंपों के स्थानों के बीच के भाग भूकंपीय अंतराल हैं जो निम्न हैं:

1. कश्मीर-अंतराल: कांगड़ा भूकंप के स्थान से पश्चिमी भाग।
2. केंद्रीय-अंतराल: कांगड़ा व बिहार भूकंपों के बीच का भाग। यह अंतराल 700 किमी लंबा है। यहां निकट भविष्य में दो भूकंप आने की संभावना है।
3. असम अंतराल: 1897 व 1950 में असम में आए दो भूकंपों के बीच का भाग।

मनुष्य की जान और संपत्ति को क्षति: भूकंप के विनाशकारी प्रभाव का निर्धारण मानवीय जान की क्षति के आधार पर किया जाता है। भूकंप के विस्तार (तीव्रता) के कारण ही जान की क्षति नहीं होती, अपितु जान-माल की क्षति जनसंख्या और भवनों की सघनता के कारण भी होती है।

प्रचंड बाढ़: भूकंप के कारण क्षणिक बाढ़ आती है। विनाशकारी भूकंप के कारण नदी घाटी में पहाड़ी ढलानों के टूटने से तथा नदी मार्ग में चट्टानों के आने से जल प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप प्रचंड बाढ आती है। कभी-कभी प्रवाह में अवरोध इतना सशक्त होता है कि नदी के प्रवाह की दिशा ही बदल जाती है।

सुनामी तरंग: समुद्री जल के नीचे भूकंपीय तरंग के कारण उच्च समुद्री तरंग चलता है जिससे तटवर्ती भागों में जान-माल की व्यापक क्षति होती है। सन् 1819 में कच्छ में आए भूकंप से प्रचंड सुनामी उत्पन्न हुई और इससे उच्च समुद्री तरंग चलने के कारण तटवर्ती भाग जलमग्न हो गया तथा जहाज एवं मछुआरों की नौकाओं को काफी क्षति पहुंची। 24 कि. मी का भूक्षेत्र विवर्तनिक गति के कारण ऊपर की ओर उठ गया।

चक्रवाती तूफान

भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तटों के बार-बार चक्रवाती तूफानों से टकराने के कारण भारी बरबादी हुई है। आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा तथा गुजरात के तटीय क्षेत्रों पर चक्रवात का सीधा प्रभाव पड़ता है इन तूफानों की उत्पत्ति उष्णकटिबंध के आस पास होती है, इसलिए इसे उष्ण कटिबंधीय तूफान के नाम से जाना जाता है। उष्ण कटिबंधीय तूफान को संसार के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नाम से जाना जाता है। इसे पश्चिम-उत्तर प्रशांत महासागर में टायफून, बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में चक्रवात, उत्तर अटलांटिक और मेक्सिको की खाड़ी में हरिकेन तथा आस्ट्रेलिया में विली-विली कहा जाता है।

चक्रवात के अंग्रेजी पर्याय साइक्लोन (Cyclone) का नामकरण सन् 1848 में मैरिन कोर्ट कलकत्ता के अध्यक्ष 'हैनरी पेडिंगटन' के द्वारा किया गया। इसे ग्रीक कृति कोकयू से लिया गया है जिसका अर्थ सांप का केंचुआ होता है।

सामान्यत: चक्रवात की उत्पत्ति गर्म उष्णकटिबंधी समुद्र के कम दबाव वाले क्षेत्र में होती है। चक्रवात अपनी उत्पत्ति के साथ ही भारी मात्रा में नमीयुक्त होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर चलता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसकी दिशा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की ओर रहती है।

पूर्ण विकसित उष्णकटिबंधी चक्रवात में 100 से 150 कि.मी. की गति से बवंडर चलता है। विशाल चक्रवात से पश्चिम बंगाल का अधिकांश भाग प्रवाहित हो सकता है। किंतु कभी-कभी छोटे स्तर का चक्रवात भी आता है जिसका प्रभाव नगण्य होता है। ऐसा ही एक चक्रवात उड़ीसा तट में सन् 1967 में आया था। इसका कुल प्रसार 150 कि.मी. से भी कम था। उर्ध्व दिशा में चक्रवात का चक्रण 5 से 10 कि.मी. तक रहता है। चक्रवाती तूफान के मार्ग की लंबाई समुद्री सतह से भूपटल पर भिन्न रहती है। खासकर, मानसून के बाद इसका विस्तार 100 कि.मी. तक हो सकता है।

चक्रवात की सामान्य गति 100 कि.मी./घंटा होती है। तथापि एक चक्रवात की गति दूसरे से भिन्न होती है तथा एक चक्रवात की भी विभिन्न समय में गति विभिन्न होती है। कुछ चक्रवात एक ही क्षेत्र में दो-तीन दिनों तक रहते हैं जबकि कई कुछ घंटों में 500 कि.मी. से अधिक दूरी तय कर लेते हैं। मुख्य रूप से चक्रवाती तूफान चक्रीय मार्ग बनाते हुए चलता है किंतु कभी-कभी सीधे या टेढ़े मार्ग से भी गुजरता है। चक्रवात अपनी परिपक्वावस्था में प्रलयंकारी हो जाता है। इसके प्रलयंकारी होने के निम्नलिखित लक्षण हैं:

(क) 7 से 35 कि.मी. तक न्यास वाला शांत केंद्रीय क्षेत्र जहां साफ शांत वायु या बादल से अंशतः ढका हुआ आकाश रहता है। तकनीकी रूप से इस क्षेत्र को चक्रवात का नेत्र (म्लम) कहा जाता है।

(ख) करीब 50 से 100 कि.मी. के दायरे में तेज बहने वाले चक्रवात का अंदरूनी घेरा रहता है जहां वायु दाब अत्यंत उदग्र रहता है। इस भाग को चक्रवात की नेत्र भित्ति कहते हैं। इसके कारण वर्षा होती है।

(ग) चक्रवात के बाहरी क्षेत्र में वायु की गति मंद होती है।

भारत में चक्रवाती क्षेत्र

जैसा कि नाम से ज्ञात है उष्णकटिबंधीय चक्रवात की उत्पत्ति विषुवत रेखा के आसपास गर्म समुद्री सतह में होती है तथा दोनों गोलार्द्ध के ध्रुव प्रदेश की ओर गमन करती है। इस उपमहाद्वीप के पूर्वीय तट पर तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश में इसका सर्वाधिक प्रकोप रहता है। पश्चिमी तट पर गुजरात चक्रवात से सीधे सर्वाधिक प्रभावित रहता है।

चक्रवात की उत्पत्ति निम्न वायु दाब वाले समुद्र तल पर होती है जहां तापमान 270° सेंटीग्रेट तक बढ़ जाता है। ताप के कारण वायु ऊपर उठती है और समुद्र तल पर निर्वात हो जाता है। इस निर्वात को भरने के लिए वर्षा सहित ठंडी और भारी हवा वेगपूर्वक समुद्र तल की ओर बढ़ती है। निम्न अक्षोश पर बल लगने से चक्रवात में घूर्णन गति हो जाती है। चक्रवात के केंद्र (जिसे नेत्र कहते हैं) में वायुगति सबसे कम होती है। चक्रवात के पुतली की त्रिज्या 10 से 50 कि.मी. तक होती है। चक्रवात की गति 350 कि.मी./घंटा हो सकती है और 80 सेमी. तक वर्षा हो सकती है।

चक्रवात प्रायः अप्रैल-जून से पहले और अक्टूबर-दिसम्बर के बाद आता है। उष्णकटिबंधीय चक्रवात निम्न अक्षांश पर तटीय क्षेत्रों में तूफान के रूप में आता है और प्रतिवर्ष जान-माल को काफी क्षति पहुंचाता है।

आपदा से जूझने की तैयारी

हम जानते हैं कि चक्रवात ने आज तक मानव को घोर कष्ट दिया है। इससे भवन, राजपथ, बंदरगाह, संचार-सुविधाएं और अन्य आर्थिक आधारभूत संरचनाएं नष्ट हुई हैं। इससे असंख्य लोगों की जान गई है। इसके प्रकोप से लाखों पशु मारे गए और मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं– जल, भोजन, विद्युत एवं अन्य की आपूर्ति में बाधा पहुंची। जो इसके प्रकोप से बच गए उन्हें इसके द्वारा लायी गई बीमारियों का सामना करना पड़ा।

उड़ीसा के महाचक्रवात में दस लाख से अधिक मकान नष्ट हुए और संपूर्ण क्षेत्र लाशों से पट गया। इसमें दस हजार से अधिक लोग मारे गए और डेढ़ करोड़ लोग भीषण यंत्रणा के शिकार हुए। 29 अक्टूबर, 1999 को उड़ीसा में आए महाचक्रवात के लिए दी गई पूर्व चेतावनी से भी जान-माल की क्षति को नहीं रोका जा सका।

आपदा से जूझने की तैयारी के अंतर्गत विपदा के समय जान-माल की क्षति को यथासंभव कम करने के लिए तुरंत और सक्षम कार्रवाई वाली प्रबंधन योजना है।

आपदा से जूझने के लिए व्यापक प्रयास के अंतर्गत चक्रवात के प्रति लोगों को शिक्षित करना, जागृति अभियान, चक्रवात के लिए यथापूर्व चेतावनी का प्रावधान, लोगों का संगठन, आपदा प्रबंधन प्रशिक्षण, आकस्मिक खाद्यान्न भंडारण आते हैं। इस प्रकार के प्रयास प्राकृतिक आपदा से लोगों की जान बचाने में सहायक हो सकते हैं। प्रभावित लोगों की सहभागिता के बिना सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे।

तैयारी के लिए आपदा-पूर्व अवधि आपदा के बाद की स्थिति से महत्वपूर्ण है। आपदा के दौरान स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा बेहतर मददगार नहीं हो सकता क्योंकि इस स्थिति में बाहरी सम्पर्क नष्ट हो जाने के कारण बाहर से मदद मिलना संभव नहीं रहता।

यह स्पष्ट है कि प्रभावित क्षेत्र से बाहर सूचना पहुंचने पर लोग प्रभावितों की मदद के लिए आते हैं। किंतु जब तक बाहरी मदद पहुंचे तब तक प्रभावित लोगों को अपनी मदद खुद करनी चाहिए।

आपदा की भविष्यवाणी

डॉप्लर रडार और भू-स्थैतिक मौसम निरीक्षण उपग्रह की मौसम संबंधी आपदाओं की भविष्यवाणी करने की क्षमता में काफी प्रगति हुई है। आपदा घटित होने के समय, पूर्व भविष्य करने की क्षमता में भी बढ़ोतरी हुई है।

उष्णकटिबंधीय चक्रवात प्रभावित क्षेत्रों में प्रतिघंटा तूफान के नजदीक पहुंचने की भविष्यवाणी करने की क्षमता में भी वृद्धि हुई है। प्राकृतिक आपदाओं की प्रकृति के बारे में भविष्यवाणी करने से इसके विनाशकारी प्रभाव को काफी कम करने की संभावना रहती है। यहां तक कि कुछ समय पूर्व सूचना मिलने से जानमाल की सुरक्षा के लिए समय मिल जाता है और यदि सही समय पर सूचना दी जाए तो संपत्ति को ठीक तरह से सुरक्षित रखने का अवसर मिल जाता है।

ये सभी पूर्वानुमान गणितीय मॉडल या भौतिक घटनाओं के प्रयोगाश्रित समझ पर आधारित हैं। मौसम के प्रतिमान से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इसे पर्यवेक्षण के माध्यम से सतत अद्यतन किया जा सकता है। पर्यवेक्षण और गणितीय मॉडल की मदद से तूफान की प्रगति का पता लगाया जा सकता है। जैसे-जैसे मॉडल में सुधार हो रहा है, वैसे ही मौसम विभाग के पूर्वानुमान करने की क्षमता में भी सुधार हो रहा है।

आपदा प्रबंधन

आपदा के बाद जान-माल की क्षति को रोकने तथा संकट को कम करने के प्रयास होने चाहिए। इससे निबटने के लिए आकस्मिक प्रतिक्रिया के रूप में लोगों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। संभावित आपदा की रोकथाम के प्रयास चेतावनी मिलने के समय से ही आरंभ करने की आवश्यकता है। भविष्यवाणी के पश्चात निम्नलिखित प्रयास आरंभ कर देना चाहिए–

1. चेतावनी संबंधी खबर को फैलाना चाहिए
2. आपातकालीन शरणस्थल का निर्माण
3. लोगों को एकत्र करके संकट से जूझने के लिए उन्हें तैयार करना चाहिए
4. खाद्यान्न, जल और दवाओं का आपातकालीन भंडारण
5. लोगों को खाली कराना

आपदा प्रबंधन की राष्ट्रीय नीति

प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावशाली ढंग से निपटने और पर्याप्त एहतियाती उपायों से नुकसान को कम करने की रणनीति का रोडमैप देने वाली आपदा प्रबंधन की राष्ट्रीय नीति को वर्ष 2009 में सरकार ने मंजूरी दे दी। यह नीति आपदा प्रबंधन कानून 2005 के अनुरूप है, जिसमें समुदायों, संगठनों, पंचायती राज संस्थाओं, स्थानीय निकायों और समाज के विभिन्न वर्गों को शामिल करने का प्रावधान है ताकि राहत कार्यों में पारदर्शिता और जवाबदेही कायम की जा सके। आपदा प्रबंधन की राष्ट्रीय नीति को सुरक्षित एवं आपदारोधी भारत के निर्माण के दृष्टिकोण से तैयार किया गया है। इस नीति में संस्थागत, कानूनी एवं वित्तीय ढाँचे, आपदा रोकथाम, प्रौद्योगिकी पहलू, राहत एवं पुनर्वास प्रक्रिया सहित आपदा प्रबंधन के विविध पहलुओं को शामिल किया गया है।

केन्द्र सरकार ने शशिधर रेड्डी को राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण (National Disaster Management Authority- NDMA) का उपाध्यक्ष 8

दिसम्बर, 2010 को मनोनीत किया। ज्ञातव्य हो कि राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण का पदेन अध्यक्ष प्रधानमंत्री होते हैं।

संकट का शमन

चक्रवात से उत्पन्न संकट के शमन हेतु योजनाबद्ध ढंग से प्रबंधन के लिए व्यवस्थित एवं सुसंगठित कार्यक्रम की आवश्यकता है। इस कार्यक्रम में निम्नलिखित बातें समाहित हैं–

1. प्रत्यक्ष या संरचनात्मक उपाय एवं
2. अप्रत्यक्ष या गैर-संरचनात्मक उपाय

संरचनात्मक उपाय के अंतर्गत एक सीमा तक किसी क्षेत्र की सुरक्षा का लक्ष्य रहता है और गैर-संरचनात्मक उपाय के अंतर्गत जानमाल की क्षति को कम करने का प्रयास किया जाता है।

निष्कर्ष

शरणस्थल के एक नेटवर्क के निर्माण से भविष्य में चक्रवात और तूफान के दौरान मनुष्य और पशुओं की जान बचायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त शैक्षिक संस्थाओं तथा सामुदायिक विकास और आय निर्माण की गतिविधियों जैसी सामान्य सुविधाओं की प्रभावित क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आपदा से जूझने की तैयारी, प्रयास, इसके शमन और पूर्व चेतावनी से जानमाल की क्षति को कम किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय सहायता एजेंसियां, मानवसेवी स्वैच्छिक संस्थाएं, सेना तथा विभिन्न सरकारी विभागों को चक्रवात प्रभावित क्षेत्रों में पुनर्वास एवं पुनर्निर्माण के कार्यक्रम में लगाया जा सकता है। राज्य सरकारों को चाहिए कि विद्यालय, महाविद्यालय तथा प्रशिक्षण संस्थानों में आपदा प्रबंधन को एक विषय के रूप में पाठ्यक्रम में शामिल किया जा सके ताकि छात्र चक्रवात के विनाशकारी प्रभावों के प्रति सजग रहें और उन्हें भविष्य में आने वाले संकटों का सामना करने के लिए तैयार किया जा सके।

बाढ़

सामान्यत: बाढ़, नदियों द्वारा लायी जाती है। बाढ़ से तात्पर्य है कि एक विस्तृत भू-भाग कई दिनों तक लगातार जल में डूबा रहता है। वस्तुत: बाढ़ भौतिक पर्यावरण का एक वैशिष्ट्य है और इस प्रकार अपवहन घाटी के जल चक्र का एक हिस्सा है।

यह उल्लेखनीय है कि बाढ़ एक प्राकृतिक घटना है और जलवृष्टि की एक प्रतिक्रिया है। इतिहास के प्रत्येक कालखंड में बाढ़ के उदाहरण हैं। एक प्राकृतिक घटना होने के कारण प्रतिवर्ष बाढ़ की तीव्रता में अंतर रहता है। किंतु विगत वर्षों में इसमें परिवर्तन आया है। मानवीय गतिविधियों के कारण बाढ़ में बढ़ोतरी हुई है। अत: बाढ़ के संकट में प्राकृतिक तथा मानव निर्मित, दोनों प्रकार के तत्वों का हाथ हैं।

बाढ़ का संबंध बाढ़ से प्रभावित विस्तृत मैदानी भागों को डूबाने वाली जलोढ़ नदियों से है। विश्व के कुल क्षेत्रफल का 3.5 प्रतिशत बाढ़ से प्रभावित मैदानी भाग हैं। इस भाग में विश्व की 16 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है।

बाढ़ के कारण

बाढ़ की प्रकृति बहुत जटिल हो गई है क्योंकि प्राकृतिक और मानवीय दोनों कारक बाढ़ के लिए जिम्मेवार हैं। स्थान के अनुसार तुलनात्मक दृष्टि से उनकी प्रकृति बदलती है। प्रमुख प्राकृतिक कारक निम्नलिखित हैं:

लम्बे समय तक घनघोर वर्षा: नदियों में बाढ़ आने का मुख्य कारण लम्बे समय तक घनघोर वर्षा होना है। इसके अतिरिक्त बर्फ पिघलने से नदी के जलस्तर में वृद्धि होने से बाढ़ आती है। नदी के अपवाह-क्षेत्र के ऊपरी भागों में अतिवृष्टि होने से अपवाह क्षेत्र के निचले हिस्से में जल-स्तर में वृद्धि होती है। इसके कारण जल नदी के किनारे को लांघकर बहने लगता है और मैदानी भागों में बाढ़ आ जाती है। उल्लेखनीय है कि आकस्मिक भारी वर्षा या वर्षा-तूफान से सिर्फ उसी क्षेत्र में प्रचंड बाढ़ आती है जहां सिर्फ मौसम के अनुरूप वर्षा होती है। शुष्क या अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में एकाएक अत्यधिक वर्षा होने से बाढ़ आ जाती है क्योंकि इन क्षेत्रों में जल निकासी प्रणाली उतनी अच्छी नहीं होती है तथा इन क्षेत्रों की नदियों में आकास्मिक अतिवृष्टि से प्राप्त जल को धारण करने की क्षमता भी नहीं होती है।

नदी के प्रवाह में बदलाव: नदी के प्रवाह में अत्यधिक बदलाव से जल का स्वत: प्रवाह अवरुद्ध होता है। नदी की पेटी भी कम हो जाती है। जल के प्रवाह में अवरोध से जल का जमाव बढ़ जाता है और विसर्पी घाटी (जिस घाटी में नदी का प्रवाह बदलते रहता है) में बाढ़ आ जाती है।

वनों की कटाई: नदी के ऊपरी अपवाह क्षेत्र में व्यापक स्तर पर वनों की कटाई संभवत: बाढ़ आने का सबसे बड़ा मानवीकृत कारक है। व्यापक स्तर पर वनों की कटाई से नदी की अंतसरण क्षमता में कमी आती है और नदी के बहाव की गति बढ़ जाती है। घने जंगल के कारण जल का अंत: सरण अत्यधिक होता है। वृक्षों की छतरी के कारण जल सीधे धरती पर नहीं गिरता है अपितु पेड़ के पत्ते, शाखा और तने के माध्यम से धीरे से धरती पर पहुंचता है और अत्यधिक वर्षा होने पर उसके अंतसरण की क्षमता उस क्षेत्र में नहीं रहती है। नदी में ज्यादा बहाव होने से मिट्टी के कटाव की गति बढ़ जाती है और नदी में अवसादी पदार्थ बढ़ता जाता है। अवसादी पदार्थ के बढ़ने से नदी की पेटी भर जाती है। इससे नदी की पेटी ऊंची होती जाती है ओर नदी-घाटी में जलधारण क्षमता कम हो जाती है।

भारी मलबा के कारण नदी के स्वत: प्रवाह में बाधा: भूस्खलन अथवा किसी अन्य प्राकृतिक और मानवीकृत कारकों द्वारा नदी के स्वत: प्रवाह में बाधा पड़ने से निचले अपवाह क्षेत्र में अचानक भारी बाढ़ आ जाती है।

मानवकृत कारक: भवन निर्माण गतिविधि, शहरीकरण, नदी के प्रवाह में बदलाव करते हुए नहर निर्माण, पुल, बांध, कृषिकार्य एवं भूमि के उपयोग जैसे मानवकृत कारक के कारण बाढ़ आती है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त चक्रवात, क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, ज्वार तथा भूमिगत जल स्तर जैसे अन्य कारक भी बाढ़ के लिए जिम्मेवार हैं।

भारत में बाढ़

वास्तव में बाढ़ पृथ्वी के जलचक्र का एक हिस्सा है। सभ्यता के प्रारंभ से ही बाढ़ आती रही है। बाढ़ और नदियों के प्रवाह में परिवर्तन से पृथ्वी के भूगोल में भी परिवर्तन हुआ है। तथापि समय के साथ बाढ़ से होनेवाली क्षति में भी बढ़ोतरी होती गई क्योंकि प्राकृतिक प्रक्रियाओं में मानव का हस्तक्षेप बढ़ता गया और वह बाढ़ के मैदान एवं नदी की पेटियों का अतिक्रमण करता गया।

देश के सर्वाधिक बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में उत्तर भारत के उत्तरप्रदेश, बिहार तथा पश्चिम बंगाल के गांगेय क्षेत्र तथा उत्तर-पूर्व के ब्रह्मपुत्र क्षेत्र हैं। उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, बिहार और आंध्र प्रदेश में हुई बाढ़ से क्षति, देश में हुई कुल क्षति का 62 प्रतिशत है।

भारत में प्रतिवर्ष बाढ़ से होनेवाली क्षति के चक्र, तीव्रता, परिमाप और प्रसार में एक समान रूप से बढ़ोतरी हो रही है। भारत में बाढ़ में हो रही बढ़ोतरी के कई कारण हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

1. मुख्य नदियों एवं सहायक नदियों के अपवाह-क्षेत्र में वनों की तेजी से कटाई के कारण मिट्टी के कटाव में वृद्धि
2. नदी में अवसादी पदार्थों की वृद्धि

CHRONICLE IAS ACADEMY

3. नदी में गाद का भरना और नदी की पेटी के ऊपर उठने से नदी-घाटी की जलधारण क्षमता में कमी
4. शहर निर्माण में वृद्धि
5. प्लावन क्षेत्र में घरों का बढ़ना
6. पुल, बांध एवं नहर का निर्माण

राष्ट्रीय बाढ़ आयोग की रिपोर्ट के अनुसार बाढ़ से प्रत्येक वर्ष देश में एक हजार करोड़ रुपये की क्षति होती है और यह आंकड़ा धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा है। सन् 1971 में बाढ़ प्रभावित क्षेत्र का क्षेत्रफल 2 करोड़ हेक्टेयर था जबकि इस समय इसका ठीक दुगुना 4 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़ प्रभावित है। भारत के विभिन्न भागों में मौसम और वर्षा में पर्याप्त अंतर के कारण देश में बाढ़ की यह समस्या अनूठी है। भारत के कुल भू-क्षेत्रफल 32 करोड़ 80 लाख हेक्टेयर का करीब आठवां अंश, 4 करोड़ हेक्टयेर बाढ़ प्रभावित है। प्रायः बाढ़ दक्षिण-पश्चिम मानसून के दौरान आती है। इस मानसून के कारण देश में 80 प्रतिशत वर्षा होती है। इसके कारण देश के अन्य भागों में भी वर्षा होना असमान्य बात नहीं है। ऐसे भी अवसर आते हैं जब देश का एक भाग बाढ़ की चपेट में है तो दूसरा सूखाग्रस्त है।

बाढ़ समस्या की प्रकृति और प्रभाव में नदी के अनुसार अंतर है। ब्रह्मपुत्र और गंगाघाटी के राज्य असम, उत्तरप्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में यह समस्या और भी गंभीर तथा जटिल है। उड़ीसा और मध्य भारत की नदियों में भी यह समस्या विकट है। दक्षिण भारत की नदियों, महानदी, गोदावरी के डेल्टा क्षेत्र और कृष्णा में भी बाढ़ आती है।

उत्तर-पश्चिम भारत की नदियों में समस्या तो इतनी गंभीर नहीं है किंतु बाढ़ तो यदाकदा आती ही रहती है। हाल के वर्षों में पंजाब, हरियाणा, जम्मू एवं कश्मीर तथा यहां तक कि राजस्थान में बाढ़ आयी है। यह स्थिति विरोधाभास से परिपूर्ण है। बाढ़ निवारण, नियंत्रण और इसकी चेतावनी देने के उपायों पर निदेश में हो रही वृद्धि के बावजूद बाढ़ से बढ़ रही क्षति को कम नहीं किया जा सका है। इसके कारण बहुत ही स्पष्ट हैं। पेड़ों की निर्बाध कटाई से नदियों के अपवाह क्षेत्र में अनाच्छादन होना बाढ़ के बार-बार आने और विनाशकारी प्रभाव के लिए एक मात्र सबसे बड़ा कारण है।

बाढ़ से क्षति

गैर-योजनागत आबंटन में कमी के कारण वर्तमान जल प्रबंधन संरचना के सही रख-रखाव का अभाव, बाढ़ से बढ़ रही क्षति के लिए महत्वपूर्ण कारक है। कई बार सही जल निकास प्रणाली के नहीं रहने के कारण जल जमाव से फसल और संपत्ति के नुकसान को भी बाढ़ से होने वाली क्षति के रूप में बताया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों में एक प्रकृति देखी गई है कि वे बाढ़ से होने वाली क्षति को बढ़ाचढ़ा कर पेश करते हैं ताकि केंद्र सरकार से उन्हें अधिक अनुदान प्राप्त हो।

दीर्घकालीन आंकड़ों से प्राप्त जानकारी के अनुसार देश में प्रतिवर्ष बाढ़ से फसल, मकान और सार्वजनिक संपत्ति की क्षति 980 करोड़ रुपए होती है। औसतन प्रतिवर्ष 77 लाख 50 हजार हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़ से जलमग्न हो जाता है इससे 500 लोगों और 100000 पशुओं की मौत होती है।

सन् 1954 से शुरु किए गए कार्यक्रम में बाढ़ प्रबंधन का अनुभव यह रहा है कि बाढ़ से पूर्णतया मुक्ति नहीं मिल सकती है, किंतु समय से चेतावनी जारी करके और लोगों एवं पशुओं को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाकर नुकसान को कम किया जा सकता है। बाढ़ प्रबंधन विशेषज्ञों की राय है कि बाढ़ से पूर्ण मुक्ति की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है।

कुल 4 करोड़ 10 लाख हेक्टेयर बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में से 3 करोड़ 20 लाख हेक्टेयर क्षेत्र ऐसा है जिसकी विवेकपूर्ण उचित उपाय के द्वारा सुरक्षा की जा सकती है।

बाढ़ नियंत्रण के उपाय

बाढ़ प्रबंध का राष्ट्रीय कार्यक्रम 1954 में शुरू हुआ। देश के कुल 3,290 लाख हेक्टेयर भौगोलिक क्षेत्र में से 400 लाख हेक्टेयर क्षेत्र को बाढ़ की आशंका वाला क्षेत्र माना गया है, जिसमें 320 लाख हेक्टेयर क्षेत्र ऐसा है, जिसे बाढ़ से बचाया जा सकता है। बाढ़ से होने वाली हानि को कम करने के लिये केन्द्रीय जल आयोग द्वारा अंतर्राज्यीय नदी घाटियों पर राष्ट्रव्यापी बाढ़ पूर्व सूचना और चेतावनी प्रणाली स्थापित की गई है।

केंद्रीय जल आयोग देश-भर में प्रमुख बांध बैराजों पर नदी-स्तर के 147 भविष्यवाणी केंद्रों और 28 अंतर्वाह भविष्यवाणी केंद्रों के माध्यम से अंतर्राज्यीय नदियों के बारे में बाढ़ संबंधी पूर्वानुमानों की जानकारी देता है।

देश के जल संसाधनों के विकास में अंतर्राष्ट्रीय सहायता विश्व बैंक एवं यूरोपीय आर्थिक समुदाय जैसे संगठनों से मिलती है। जापान, जर्मनी, नीदरलैंड, फ्रांस आदि देशों से द्विपक्षीय सहायता प्राप्त होती है। जल संसाधन क्षेत्र में 75% मदद विश्व बैंक से मिलती है। यह उल्लिखित किया जा चुका है कि बाढ़ एक प्राकृतिक घटना है और इससे पूर्ण मुक्ति संभव नहीं। किंतु तकनीकी कौशल, चेतावनी देने की बेहतर पद्धति, बाढ़ के प्रति सकारात्मक मानवीय रवैया एवं सरकार द्वारा अपनाए गए उपायों की मदद से इसके दुष्प्रभाव को कम किया जा सकता है।

- बाढ़ नियंत्रण हेतु पहला कदम इसके मौलिक कारणों की पहचान है। अत्यधिक घनघोर वर्षा और भूपृष्ठ पर अपवाह के कारण बाढ़ आती है। मूसालाधार वर्षा को रोकना मानव से संभव नहीं और प्राकृतिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता भी नहीं है। मनुष्य सिर्फ मूसलाधार वर्षा के अपवाह को नदी में जाने से रोक सकता है। इसके लिए पर्वतीय अपवाह क्षेत्र में वृक्षारोपण एवं पुनर्वृक्षारोपण करना होगा। इससे वर्षा जल का रिसाव ज्यादा होगा, मिट्टी का अपरदन कम होगा तथा नदियों में अवसादी पदार्थों के जमाव में कमी आएगी।
- बाढ़ नियंत्रण कुंड जैसे अभियांत्रिकी प्रयोगों के द्वारा नदी के जल को कम किया जा सकता है। इन कुंडों में काफी मात्रा में जल का संचय किया जा सकता है। इससे दो प्रकार से मदद मिलती है। प्रथम, यह नदी के जल-स्तर को कम करता है और द्वितीय इस संचित जल का उपयोग कृषि कार्य में किया जा सकता है।
- निचले भाग में नहर बनाकर और नहर के किनारे ऊंचा बांध बनाकर बाढ़ के जल को कम किया जा सकता है। इससे बाढ़ के फैलाव को भी कम किया जा सकता है।
- नदी के किनारे को ऊंचा करने, बांध बनाने और बाढ़ के जल को नदी घाटी या संकरे नहर में घेरकर रखा जा सकता है। इन अभियांत्रिकी कार्यों में मिट्टी, पत्थर और पत्थर के दीवार उपयोग में लाए जाते हैं।

नए दृष्टिकोण

प्रमुख संस्थान
केंद्रीय जल तथा विद्युत अनुसंधान केंद्र - पुणे
केंद्रीय भूमि जल बोर्ड - फरीदाबाद
राष्ट्रीय जल विज्ञान संस्थान - रुड़की

पूर्व में अनुभव एवं संस्थागत प्रयास के आधार पर भौतिक उपायों द्वारा बाढ़ के खतरे के समाधान हेतु कार्यनीति बनाई जाती थी। पहले उद्देश्य यह होता था कि तेजी से फैल रहे बाढ़ के जल से संभावित को रोका जाए। इस दृष्टिकोण से बाढ़ की दिशा तो बदल जाती थी एवं हालत में सुधार भी होता था किंतु इसे बड़े प्रभावी ढंग से नियंत्रित नहीं किया जाता था।

इस उपाय के तहत तटबंध बनाने, नदी जल स्तर में वृद्धि रोकने हेतु कुंड बनाने, मिट्टी के अपरदन को रोकने तथा तटबंध को मजबूत करने जैसे कार्यों के भरोसे रहा जाता था। बाढ़ रोकने, विद्युत उत्पादन, सिंचाई तथा अन्य लाभ के बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजनाओं की स्थापना की गई।

कई राज्य सरकार अभी भी पूंजी आधारित संरचनात्मक उपायों पर आवश्यकता से अधिक बल देती है, किंतु संसाधन के अभाव में इन्हें लागू नहीं किया जा सकता। बाढ़ क्षेत्र घोषित करने, बाढ़ परीक्षण, बाढ़ का पूर्वानुमान करने, क्षति को काफी हद तक पूरा करने तथा राहत कार्य कने जैसे गैर-संरचनात्मक कार्यों पर अब जोर दिया जा रहा है।

निधि की कमी जैसे समस्याओं से निजात पाने के लिए केंद्र सरकार की संस्थाएं कुछ खास बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रमों में सहायता प्रदान कर रही हैं। जल संसाधन मंत्रालय इन कार्यक्रमों की पहचान कर रही है। जिन्हें इन संस्थाओं की देखरेख में संपन्न किया जाएगा। इसमें केवल बड़ी परियोजनाओं में बाहरी सहायता प्राप्त करने की कोशिश की जाएगी।

बाढ़ क्षेत्र की घोषणा

बाढ़ क्षेत्र घोषित करने से इन क्षेत्रों की आर्थिक गतिविधियों के नियमन में मदद मिलती है। विशेषज्ञों की राय में इससे समस्या का कारगर निदान संभव है क्योंकि ऐसे क्षेत्र की घोषणा में जिला और राज्य की सीमाएं बाधक नहीं बनती हैं। इससे बाढ़ को कम किया जा सकता है। मॉडल बाढ़ क्षेत्र घोषणा विधेयक सन् 1975 में केंद्र सरकार द्वारा तैयार किया गया था और इसे राज्यों के बीच परिचालित किया गया था। बाढ़ क्षेत्र घोषित करने में मणिपुर को शुरू में हिचकिचाहट हुई, किंतु दिसम्बर 1985 में वहां भी यह लागू हो गया। हालांकि किसी अन्य राज्य ने ऐसा नहीं किया। बिहार और पश्चिम बंगाल सरकार इस दिशा में विधेयक लाने के लिए सोच रहे हैं। आंध्र प्रदेश भी सिद्धांत रूप में इससे सहमत है। मध्य प्रदेश में भी इस विपदा से प्रभावित कुछ नगरों और गांवों को बाढ़ क्षेत्र घोषित करने की दिशा में कार्य हुए हैं। केंद्र सरकार अन्य राज्यों को इस दिशा में कार्यान्वयन के लिए मना रही है।

गैर-संरचनात्मक उपाय

जानमाल एवं अन्य क्षति को कम करने में गैर-संरचनात्मक उपायों की सफलता से उत्साहित होकर सरकार इन उपायों को उत्तर-पूर्व के निरंतर बाढ़ से प्रभावित क्षेत्रों में लागू करने के लिए सोच रही है। अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, नागालैंड, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा, उत्तर पूर्व के इन सात राज्यों के कुल क्षेत्रफल 2.55 लाख वर्ग कि.मी. में से 43.41 लाख हेक्टेयर भूमि की पहचान निरंतर बाढ़ प्रभावित क्षेत्र के रूप में की गई है। समस्या सबसे गंभीर असम में है जहां 38.2 लाख हेक्टेयर भूमि बाढ़ प्रभावित है। ब्रह्मपुत्र और बराक घाटी प्रत्येक वर्ष बाढ़ से प्रभावित होती हैं।

वर्तमान कार्य के अनुरक्षण और देखरेख के अतिरिक्त नए दृष्टिकोण के अंतर्गत ऊंचा प्लेटफार्म बनाने, संचार सुविधा सुनिश्चित करने, पेयजल की आपूर्ति और बाढ़ के बाद राहत कार्य के माध्यम से बाढ़ परीक्षण को प्राथमिकता दी जाती है।

खर्च चेतावनी

बाढ़ की पूर्व चेतावनी देकर बाढ़ से होनेवाली संभावित क्षति को एक सीमा तक रोका जा सकता है। बाढ़ प्रभावित प्राय: अंतर्राज्यीय नदियों की देखरेख करने वाले केंद्रीय जल आयोग द्वारा देश भर में बाढ़ के पूर्वानुमान एवं चेतावनी देने वाली प्रणाली स्थापित की गई है। केंद्रीय जल आयोग वर्तमान में 62 नदी घाटियों एवं उप-घाटियों के 147 केंद्रों के लिए नदी के जलस्तर के विषय में पूर्वानुमान करता है। इसके अतिरिक्त 28 मुख्य केंद्र हैं जो मुख्य जलाशयों में जल के अंर्तप्रवाह के विषय में पूर्वानुमान करते हैं। इस प्रकार देश में कुल 157 पूर्वानुमान केंद्र हैं। इनमें से 109 केंद्र सिर्फ गंगा-ब्रह्मपुत्र-मेघना क्षेत्र में हैं। 15 केंद्र पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों के लिए, 8 कृष्णा नदी के लिए, 9 पूर्व की नदियों के लिए और 13 गोदावरी के लिए। प्रति वर्ष उत्तरप्रदेश, बिहार और प.बंगाल में जिन सात नदियों से भयंकर बाढ़ आती है उनके अपवाह क्षेत्र का 60 प्रतिशत भाग नेपाल के ऊपरी इलाकों में पड़ता है। ये नदियां हैं – घाघरा (शारदा एवं राप्ति सहित), गंडक, बागमती, कमला, अधववा नदी समूह, कोशी एवं महानंदा। इन नदियों में आने वाली बाढ़ का सही पूर्वानुमान तब तक नहीं लगाया जा सकता है जब तक इनके नेपाल के अपवाह क्षेत्र से आंकड़ें प्राप्त नहीं होते। दोनों देशों के बीच सम्पन्न समझौते के तहत दोनों के लाभ हेतु पूर्वानुमान नेटवर्क स्थापित करने के संबंध में नेपाल में 45 जल मौसम विज्ञान केंद्र तथा भारत में 18 जल मौसम विज्ञान केंद्र की स्थापना की गई है।

देशभर में फैले 550 जल मौसम विज्ञान केंद्र से जल और जल मौसम संबंधी आंकड़ें प्राप्त करने के लिए बेतार संचार नेटवर्क स्थापित की गई है। इन आंकडों पर आधारित पूर्वानुमान को परिस्थिति की गंभीरता और क्षेत्र की कमजोर स्थिति को देखते हुए संबंधित प्रशासनिक और अभियांत्रिकी प्राधिकारी को दूरभाष या अन्य साधन से संप्रेषित किया जाता है।

तथापि बाढ़ की चेतावनी देने वाले नेटवर्क और पूर्वानुमान की गुणवत्ता में काफी सुधार की संभावना है। वास्तव में, केंद्रीय जल आयोग जलविज्ञान संबंधी आंकड़े के पर्यवेक्षण तकनीक और इन्हें पूर्वानुमान करने वाले प्रभाग को सौंपने की समीक्षा कर रहा है। आधुनिकीकरण के कई कार्यक्रम प्रारंभ हुए हैं।

गंगा बाढ़ नियंत्रण आयोग

सन् 1972 में स्थापित गंगा बाढ़ नियंत्रण आयोग को गंगा उपघाटी की कई नदियों में बाढ़ प्रबंधन हेतु व्यापक योजना तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। आयोग ने इस उपनदी घाटी की सभी 23 नदियों के लिए मास्टर प्लान तैयार किया है। इन योजनाओं को अद्यतन करने का कार्य प्रगति पर है। बिहार और पश्चिम बंगाल के सोन, पुनपुन, बूढ़ी गंडक, बागमती, मयूराक्षी और जालंगी नदियों के मास्टर प्लान संबंधित सरकारों को प्रस्तुत करने तथा इन्हें शीघ्र लागू करने हेतु जनता की राय मांगने के लिए आयोग ने कई बैठकें आयोजित की है।

अमरीका का एक उदाहरण

किसी न किसी रूप में दुनिया की अधिकांश नदियां बाढ़ की चपेट में हैं। समय-समय पर अमरीका की मिसीसिपी और मिसौरी नदियों में विनाशकारी बाढ़ आती है। विनाशकारी बाढ़ के लिए प्रसिद्ध इन नदियों द्वारा बाढ़ की चरमोत्कर्ष अवस्था के दौरान 3,00,000 क्यूसेक जल लाया जाता है।

मिसीसिपी को एक दुर्दांत राक्षस माना जाता है। इसकी बाढ़ की चपेट में अमरीका के 30 राज्य प्रभावित रहते हैं। इस प्रकार देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 40 प्रतिशत भाग इस नदी से प्रभावित है। इसके व्यापक बाढ़ क्षेत्र में इसका प्रवाह बदलते रहता है। मिसौरी, तेनेसी ओहियो, अरकान्स इत्यादि नदियों के जल मिसीसिपी में मिलकर इसकी बाढ़ की तीव्रता बढ़ा देते हैं।

शहरीकरण: एक उदीयमान कारक

जैसे शहरीकरण बढ़ रहा है वैसे ही पक्का भवन, पार्क, सड़क और फर्श का भी निर्माण बढ़ रहा है। इससे अपवाह में वृद्धि होती है। इससे बाढ़ की मात्रा और विस्तार क्षेत्र में बढ़ोतरी होती है। पक्की भूमि में वर्षा जल का रिसाव कम होता है और अपवाह में बढ़ोतरी हो जाती है। मूसलाधार वर्षा के दौरान प्राप्त जल शीघ्र ही शहर की नालियों से होते हुए नदियों में

मिल जाता है, फलतः बाढ़ के आसार बढ़ जाते हैं। शहरीकरण के द्वारा बाढ़ में बढ़ोतरी के लिए जिम्मेवार कई कारक हैं। नदियों में पुल के बनने से नदियों के स्वतः प्रवाह में बाधा पड़ती है। शहर का कूड़ा-कचरा नदियों में फेंकने से नदियां गाद से भर जाती हैं। मानव के द्वारा नाला इत्यादि पर घर बनाने और उनका अतिक्रमण करने से शहर के नाले अवरुद्ध हो जाते हैं। नई सड़कें और पुल भी महत्वपूर्ण कारक हैं।

भूस्खलन

हाल के दशकों में भूस्खलन पर चर्चा करना फैशन हो गया है। लोग पर्वतीय क्षेत्रों में विशाल चट्टानों के खिसकने के नाटकीय वर्णन से चर्चा प्रारंभ करते हैं। इससे संबंधित तीन विनाशकारी दुर्घटनाएं जुड़ी हुई हैं। सन् 1963 में इटली के समीप आल्प्स का वायन्ट बांध दुर्घटना, जिसमें $250 \times 106 \times m^3$ की चट्टान फिसलने से 100 मी. ऊँची लहर उठी और बांध के जल में डूबकर 2600 लोग मारे गए। दूसरा, सन् 1970 में पेरुविवाई एण्डीज में नेवाडास हुआस्करान (6654 मी. ऊँची शृंखला) में बर्फ की परत के टूटकर गिरने से 20,000 से 25,000 लोग मारे गए। तीसरी दुर्घटना, सन् 1974 में पुरुवियाई एण्डीज में ही $1000 \times 106m^3$ मयूंमारका चट्टान स्खलन में 450 लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा। यदाकदा घटने वाली ऐसी विनाशकारी दुर्घटनाओं का दुष्प्रभाव विकास के अन्य मुद्दों पर पड़ता है और निःसंदेह ये आपदा प्रबंधन की दृष्टि से गंभीर समस्या जान पड़ती हैं।

दुर्भाग्य से, भूस्खलन की घटना के कारण का सामान्य लोगों को पता नहीं चलता है। इसका तात्पर्य यह है कि विकास कार्यक्रमों से जुड़े लोगों को आपदा के विषय में बहुत कम जानकारी रहती है। फलस्वरूप, भूस्खलन से होने वाले नुकसान को कम करने से पहले निम्नलिखित समस्याओं का निदान होना चाहिए:

(क) आवश्यकता इस बात की है कि भूस्खलन की प्रकृति, मापदंड, वितरण और कारण, तथा भूस्खलन आपदा के प्रकार और महत्व के संबंध में विकास योजना पर निर्माताओं की समझ बढ़ायी जाए।

(ख) समस्या के समाधान के लिए समायोजन सीमा (संरचनागत और अन्य) के प्रति जागरुकता बढ़ाने की आवश्यकता है।

(ग) जिस क्षेत्र में कमजोर ढलान है वहां भूस्खलन प्रबंधन को विकास योजना एक हिस्सा के रूप में रखने की आवश्यकता है।

(घ) जिन क्षेत्रों में व्यापक भौगोलिक एवं भू-आकृतिमूलक सूचनाओं का अभाव है वहां द्रुत एवं सार्थक भूस्खलन आपदा मूल्यांकन कार्यों के विकास तथा परिशोधन की आवश्यकता है।

भूस्खलन की घटना

प्रारंभ में यह मान लेना आवश्यक है कि भूस्खलन शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया गया है और आम भाषा में ढाल के अध्ययन में इसका प्रयोग किया जाता है। यह एक संक्षिप्त अथवा सर्वव्यापी शब्द है जिसे गुरुत्वाकर्षण से संबंधित विभिन्न प्रक्रियाओं के अंतर्गत अपेक्षाकृत सूखी पार्थिव सामग्री को ऊपर से नीचे लुढ़कने की क्रिया के दर्शाने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसके दौरान तीन मुख्य कार्यविधियां घटित होती हैं– गिरना, नीचे होना और लुढ़कना। नीचे होने में सामग्री तेज गति के साथ नीचे होती है तथा इनमें जल का अंश 21 प्रतिशत से कम रहता है तथा लुढ़कने में मैदान विहीन आधार के ऊपर संश्लिष्ट सामग्री ही गतिशील रहती है। वस्तुतः इन प्रक्रियाओं के माध्यम से आकार और कार्य की दृष्टि से चट्टान खिसकने की घटनाएं घटित होती हैं। खिसकने वाली चट्टानें $1m^3$ से 10000 लाख m^3 तक की होती हैं। चट्टान कुछ मीटर की दूरी से लेकर कई किलोमीटर तक खिसकती है। कुछ की गति तेज होती है तो कुछ की धीमी। कुछ चट्टानें कम समय में एक ही बार में खिसक जाती हैं तो कुछ धीरे-धीरे, क्रम में और दोलन करते हुए खिसकती हैं।

भूस्खलन के कई कारण हैं। जैसा कि उल्लिखित किया गया है, सभी ढालों पर गुरुत्वाकर्षण बल के कारण तनाव बना रहता है। जिन पदार्थों से ढाल का निर्माण हुआ है यदि उन पदार्थों की वर्तमान शक्ति ढाल पर प्रभावी गुरुत्वाकर्षण इत्यादि शक्तियों से कम है तो भूस्खलन होता है। बल संतुलन दो मुख्य कारकों से प्रभावित होता है– आंतरिक परिवर्तन तथा बाह्य परिवर्तन। आंतरिक परिवर्तन से प्रतिरोध क्षमता में कमी आती है। इसके फलस्वरूप भौतिक और रासायनिक अपक्षय, मृदुकरण और जमीन के अंदर जल की स्थिति में परिवर्तन (छिद्र जल के दबाव) से चट्टान के अवयव पदार्थ कमजोर होते हैं। बाह्य परिवर्तन से चट्टान पर दबाव बढ़ता है और अपरदन के कारण वे ज्यादा उदग्र हो जाती हैं। ढाल पर पदार्थों के जमाव, निर्माण कार्य, वन में परिवर्तन और भूकंप से भार बढ़ जाता है। इन कारकों के मेल से ढाल असंतुलित हो जाती है। प्रथमतः बिना वास्तविक गति (प्रारंभिक कारक) के भूस्खलन की संभावना बढ़ जाती है। दूसरा, बल संतुलन बिगड़ने से ढाल में गति होने लगती है।

दोनों प्रकार के कारक मानवीय गतिविधि से प्रभावित हैं। यद्यपि भूस्खलन एक प्राकृतिक घटना है और यह भू-आकृति और प्रभाव क्षेत्र में मानवीय हस्तक्षेप के कारण परिवर्तन आया है। अतएव, भूस्खलन आपदा का अनुमान करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भू-स्खलन पूर्णतया प्राकृतिक (प्राकृतिक आपदा), आंशिक रूप से मानवीय गतिविधि से प्रभावित (प्राकृतिक या अर्द्ध प्राकृतिक) या पूर्णतया मानवीय गतिविधि से प्रभावित (मानव निर्मित या मानवीय गतिविधि के कारण आपदा) हो सकता है।

अंततोगत्वा, यह मान लिया गया है कि ढाल कमजोर हो जाने से यह आवश्यक नहीं है कि भूस्खलन हो। यदि ढाल को असंतुलित करने वाले बल एक खास क्षेत्र में लगातार कार्यरत हों तो भूस्खलन होता है, विशेषकर उस क्षेत्र में जहां अपरदन की प्रक्रिया के कारण चट्टानें खिसक गई हैं और आधार कमजोर हो गया है (उदाहरणार्थ नदी तट, तटीय चट्टानें)।

भूस्खलन आपदा

भूस्खलन के कारण एवं प्रकार में वैविध्य, बहुत हद तक मामूली भूस्खलन से लेकर विनाशकारी भयंकर भूस्लखन (जिसका दुष्प्रभाव स्थानीय जनसंख्या पर पड़ता है) तक से निर्धारित होता है। गुरुत्वीय विवर्तन के कारण हुए व्यापक विरूपण को छोड़कर, सबसे बड़ा ज्ञात भूस्खलन ईरान के जैग्रोस पर्वत के सैदमारेह में हुआ था, जहां करीब 10,000 वर्ष पहले 15 कि.मी. चौड़ी चट्टान 20 कि.मी. तक खिसकी थी। अब तक का सबसे विनाशकारी भूस्खलन हुआस्करान मलवा का स्खलन था जिसमें 31 मई 1970 को पुरु के यूनागे और रनराहिर का शहर नष्ट हो गया ओर 25,000 लोग मारे गए।

ऐसी घटनाओं की तुलना तूफान, भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट जैसी प्राकृतिक आपदाओं से की जा सकती है। फिर भी प्राकृतिक आपदाओं के वैश्विक समीक्षा के अंतर्गत भूस्खलन को पर्याप्त महत्व नहीं दिया जाता है। इस नकारात्मक रवैये के पीछे निम्नलिखित कारण हैं:

(क) बड़े भूस्खलन अक्सर पर्वतीय क्षेत्रों में हुए हैं और जनजीवन पर उनका अपेक्षाकृत असर सीमित रहा है।

(ख) अलग-अलग भूस्खलन से शायद ही कहीं व्यापक स्तर पर लोगों की मौत हुई है। इसलिए मीडिया का ध्यान इस पर उतना नहीं गया जिससे राजनीतिक या प्रबंधात्मक स्तर पर कार्य चलाया जा सके।

(ग) भूस्खलन के प्रभाव को कम करके आंका गया है क्योंकि भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट, तूफान, वर्षा-तूफान जैसा इसका दुष्प्रभाव नहीं

रहा है। फलस्वरूप, भूस्खलन का प्रभाव इन भयंकर आपदाओं के प्रभाव से ढंक गया है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि आंशिक रूप से आपदाओं एवं भूस्खलन के प्रति मानवीय समझ के कारण भूस्खलन के परिणाम को कम करके आंका गया है। हालांकि सामाजिक-संस्कृति कारकों एवे भूस्खलन की आवृति तथा विस्तार में अंतर के कारण विश्व में भूस्खलन के विषय में जानकारी में भी अंतर रहा है। फिर भी भूस्खलन को कोई विशेष भयकारी प्राकृतिक आपदा नहीं माना जाता है। आपदा और जोखिम की जानकारी पर मनोवैज्ञानिक निरीक्षण (स्लोविक एवं अन्य, 1980) में तीन उपायों को महत्वपूर्ण माना है: जानकारी, भय और प्रदर्शन। इन तीनों मानदंडों पर भूस्खलन का स्थान नीचा है। क्योंकि भूस्खलन की घटना व्यापक रूप से घटित होने के कारण लोग इससे परिचित हैं। बहुत से भूस्खलन छोटे स्तर के होते हैं, इसलिए वे भयकारी नहीं हैं। व्यापक क्षति पहुंचाने वाली भूस्खलन की घटना बहुत कम होती है और इसका प्रभाव क्षेत्र उस क्षेत्र विशेष में रहता है जहां संभावित दुर्घटना की आशंका व्याप्त रहती है। आपदा पैमाना पर भूस्खलन, भूकंप और ओजोन परत में क्षति के विपरीत छोर पर स्थित है। भूकंप और ओजोन परत में क्षति से संभावित व्यापक विनाश के प्रति लोग अपेक्षाकृत अधिक सतर्क हैं। जिन क्षेत्रों में भूस्खलन की बड़ी घटनाएं घटित हुई हैं वहां इनके घटित होने के कुछ दिन बाद तक लोग इनके प्रति सतर्क रहते हैं। अन्य बहुत से उदाहरणों में भूस्खलन को असुविधा और परेशानी में डालने वाली घटना समझा जाता है। यह कभी-कभार घटित होता है। अपेक्षाकृत कम व्यापक प्राकृतिक घटना के रूप में इसके अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इसके घटित होने के बाद सफाई और अभियांत्रिकी सुधार उपाय द्वारा इस पर नियंत्रण किया जाता है।

भूस्खलन के विषय में ऐसी पारंपरिक मान्यताओं को अस्वीकार करने की आवश्यकता है। पूर्व में इसे जिस रूप में समझा जाता था उसके स्थान पर अब इसे व्यापक विस्तार तथा समाज को क्षति पहुंचाने वाली घटना के रूप में समझने की आवश्यकता है। भूस्खलन की घटना और उच्च खड़ी ढाल वाले पर्वतीय क्षेत्रों के बीच जो संबंध लोग समझते हैं उसमें सुधार की आवश्यकता है। ढाल असंतुलन की बहुत सी घटनाएं तटीय क्षेत्रों में होती हैं जहां तटीय चट्टानों का खिसकना भूस्खलन का सबूत है। तथापि भूस्खलन की घटनाएं अकसर उन तटीय चट्टानों में नहीं होती जो मजबूत और टिकाऊ पदार्थों से बनी होती हैं। अपितु कमजोर पदार्थों से बनी निचली तटवर्तीय चट्टानें जिन से समुद्री लहरें टकराती रहती हैं वे आसानी से टूट जाती हैं। ऐसा भी नहीं है कि द्वीपीय भूस्खलन सिर्फ पर्वतीय क्षेत्र तक सीमित रहता है। महाद्वीपों में मिट्टी की परतों पर ढलान विकसित होने से निम्न कोण का भूस्खलन होता है किंतु समतल भूमि में भूकंप के कारण अचानक विनाशकारी विस्थापन होता है।

जलवायु में परिवर्तन से समस्या और जटिल हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप कुछ खास क्षेत्रों में भूस्खलन की घटनाएं हुई हैं। इन क्षेत्रों में हलचल से ऐसी घटनाएं पुन: घट सकती हैं। ऐसी घटनाएं प्राय: शीतोष्ण क्षेत्रों में घटित हुई हैं। इन क्षेत्रों में वर्तमान जलवायु के अंतर्गत चट्टानें मजबूत रहती हैं किंतु भूतकाल में मिट्टी में बर्फ की परत जमी थी और परिस्थितियां एकदम भिन्न थीं। इन हिम परतों के अंदर में जल रिसा हुआ था। फलत: पदार्थों के अधोमुखी फिसलन और प्रवाह से भूस्खलन हुआ और दबाव के कारण ठोस पदार्थ नीचे दब गया। समय के साथ इन चट्टानों की ऊपरी प्रकृति बदल जाती है ओर वे निकट के चट्टानों जैसी दिखती हैं, किंतु आंतरिक कमजोरी के कारण इनमें भूस्खलन की संभावना बनी रहती है।

विकास के लिए दबाव के कारण भूस्खलन के दुष्परिणाम के प्रति लोगों में सतर्कता बढ़ रही है। इस दुष्परिणाम को सार्थक प्रयास द्वारा दूर किया जा सकता है। भविष्य में आपदा प्रबंधन के आशावादी उपाय करने होंगे। इसके लिए सावधानीपूर्वक तैयार किए गए आपदा पूर्वानुमान पर आधारित पूर्व योजना बनानी होगी। इस विचार के समर्थन में कई तर्क है:

(क) आपदा के दुष्परिणाम का अनुमान लगाने वाले साहित्य में इससे होने वाली मृत्यु पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। किंतु वर्तमान में यह मान्यता है कि मृतकों की संख्या के आधार पर आपदा के दुष्परिणाम का आकलन एक अपरिपक्व व्यवहार है। यद्यपि व्यापक पैमाने पर लोगों की मौत से नीति निर्माताओं और राजनेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित हो जाता है। इससे यह माना जाता है कि आपदा को रोकने के लिए गंभीरतापूर्वक विचार किया जाएगा और इसे अंतत: लागू किया जाएगा। यद्यपि विनाश-क्षति इत्यादि के आर्थिक संदर्भ में लोगों की मौत के आकलन में अंतर होता है क्योंकि मृतकों की संख्या के पीछे संयोग-दुर्योग जैसे कई कारक कार्य करते हैं।

(ख) आधारभूत संरचना, निर्माण, उद्योग के रूप में आर्थिक और तकनीकी विकास के साथ-साथ व्यावसायिक गतिविधियों की पद्धतियों में बढ़ रही जटिलता के कारण भूस्खलन आपदा के बढ़ते दुष्परिणाम के संकेत मिल रहे हैं।

(ग) विश्व के कई भागों में विकास के दबाव के कारण अल्पविकसित पर्वतीय क्षेत्रों तथा ऊंचाई पर स्थित अलग-थलग पड़े क्षेत्रों का विद्युत उत्पादन, जल प्रबंधन, खनिज संपदा के दोहन का सामरिक कारणों से उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार इन क्षेत्रों में मानवीय गतिविधियों के बढ़ने से भूस्खलन का संकट पैदा होता है।

(घ) बहुत शहरों में शहरीकरण के तीव्र प्रसार के भू-भाग का उपयोग भवन निर्माण के लिए हुआ है और उपनगरीय विकास असंतुलित जमीन पर हुआ है। ऐसे कार्य जापानी शहरों, रियो डी जेनेरियो, हांगकांग तथा लांस एंजेल्स में हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप भूस्खलन हुआ है।

(ङ) तकनीकी विकास और वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा की वजह से अभियांत्रिकी परियोजनाओं को भूस्खलन से क्षति होती है। इस प्रकार ये परियोजनाएं राजनैतिक हलचल पैदा करती हैं। इन पर खर्चे में भारी वृद्धि हो जाती है और इसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचता है।

(च) परत की संरचना और उपसंरचना में हलचल पैदा होने से, खासकर परत की नीचे की सतह के विस्थापन से हल्के और अपेक्षाकृत धीमी गति वाले भूस्खलन के भी व्यापक दुष्परिणाम होते हैं।

आपदा पूर्वानुमान में समस्या

भूस्खलन की संभावना के अध्ययन के तहत भूखंड आपदा संभावित परतों की पहचान की जाती है। ऐसे आपदा क्षेत्र भूमि उपयोग योजना, विकास नियंत्रण, आकर भाषा/अध्यादेश के प्रयोग, अभियंत्रण कार्य के लिए दिशा-निर्देश तथा बीमा प्रीमियम स्तर की स्थापना के लिए उपयुक्त होते हैं। जहां पहले भूस्खलन के व्यापक प्रभाव हुए हैं, वहां लोग मानते हैं कि क्षेत्र में बांटकर भूस्खलन का अध्ययन अपेक्षाकृत सफल रहा है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण लांस एंजेल्स है जहां अक्टूबर 1952 में काफी कठोर कानून बनाए गए जिनके कारण भूस्खलन की घटना में काफी कमी आयी है। इसी प्रकार तस्मानिया में 1: 5000 तथा 1 : 10000 के पैमाने पर भूस्खलन आपदा कार्यक्रम की स्थापना की गई है। उन क्षेत्रों में अल्प संतुलन के स्थिति की पहचान की गई है। यहां इच्छुक निर्माताओं और क्रेताओं को सावधान करने के लिए अथवा स्थानीय शासन अधिनियम 1973 के तहत विकास को नियंत्रित करने के लिए निर्णय लिए जाते हैं।

जहां उपर्युक्त दृष्टिकोणों की वांछनीयता अनिवार्य है वहीं इन्हें लागू करने तथा चालू रखने में समस्याएं आती हैं। कई क्षेत्रों में, खासकर विकसित देशों के कमजोर हिस्सों में संभावित भूस्खलन का अध्ययन महंगा हो सकता है।

यह बात वहां विशेष रूप से सही है जहां वित्त का अभाव है और भूस्खलन आकलन से प्राप्त होने वाले दीर्घकालीन लाभ के प्रति लोग आश्वस्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त आपदा अध्ययन को क्षेत्र में बांटकर लागू करने के लिए विकास नियंत्रण को अमल में लाने हेतु कारगर योजना पद्धति, बेतरतीब निर्माण तथा ग्रामीण-शहरी आप्रवासन के कारण हुए एकांगी विकास को रोकने की आवश्यकता है। अंततः आपदा क्षेत्र घोषित वहां किया जाता है जहां भूस्वामी के द्वारा प्रतिकूल कार्य करने की समस्या स्वतः विद्यमान है तथा बढ़े हुए आपदा रेटिंग के कारण जमीन की कीमत प्रभावित हुई हैं। फलस्वरूप व्यावसायिक और राजनैतिक दबाव के कारण आपदा क्षेत्र घोषित करने में दिक्कत आ सकती है और याचिका दायर की जा सकती है।

अतएव, आपदा क्षेत्र घोषित करने में समस्या है और इसमें यह भी दिक्कत है कि स्थानीय समुदाय इसे किस रूप में लेगा। कई उदाहरणों में यह आसान और सुविधाजनक है कि निर्माण कार्य करने वाले और संपदा स्वामी अपनी सुरक्षा का उपाय स्वयं करे। इस तरह व्यापक स्तर पर भूस्खलन आकलन की आवश्यकता से मुक्ति पायी जा सके।

भारत में भूस्खलन

हिमालय और नीलगिरि क्षेत्रों में पहाड़ के असंतुलन की समस्या गंभीर है। भौगोलिक रूप से संवेदनशील क्षेत्रों में भूस्खलन की घटना आम बात है। अर्थात् ऐसे क्षेत्र भूकंप और अन्य नव विवर्तनिक गतिविधियों की आवृति से प्रभावित रहते हैं। उदाहरणस्वरूप दार्जीलिंग के कमजोर क्षेत्रों में एक दिन में 20000 से अधिक भूस्खलन की घटनाएं दर्ज की गई। भूस्खलन के प्रमुख कारक हैं– (1) घनघोर और दीर्घकालीन वर्षा (2) मलबा को ठीक तरह से हटाए बिना भवन, रोड, नहर निर्माण तथा खनिज पदार्थ के लिए ढाल का उत्खनन तथा (3) भूकंप के झटके। हिमालय तथा कर्नाटक और केरल के नीलगिरि क्षेत्रों में इन सभी कारकों का प्रभाव है। प्रत्येक ढाल में गुरुत्वाकर्षण के कारण तनाव पैदा होता है। यह तनाव ताप के प्रसार, संकोच, बर्फ जमने, द्रवण, सिकुड़न, रिसाव और अपरदन के अन्य कारकों की क्रिया के कारण ऊंचाई बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। जब चट्टान में तनाव प्रतिरोध से अधिक हो जाता है तो उर्ध्वगामी एवं निम्नगामी भूस्खलन होता है। जब साथ में भूकंप की घटना होती है तो यह स्खलन अधिक गंभीर हो जाता है।

भूस्खलन के कारण

भूस्खलन के कुछ मान्य कारण निम्नलिखित हैं:

परत के जल के प्रवाह हेतु नाली के अभाव तथा आंतरिक स्रोतों से जल निकास के लिए चैनल निर्माण के कारण भूस्खलन होता है। इससे घनघोर एवं दीर्घकालीन वर्षा के कारण अकसर भूस्खलन की घटनाएं होती हैं। तथापि वर्षा की तीव्रता और अवधि ही भूस्खलन के मुख्य कारक नहीं हैं। नेपाल में जमीन के सिर्फ एक मीटर नीचे पानी मिल जाता है जिसकी वजह से घनघोर वर्षा के दौरान भूस्खलन होता है। जलाशय से जल के निकासी के कारण संतुलन बिगड़ने से भी भूस्खलन होता है। वर्षा के जल में भूस्खलन का एक उदाहरण नैनीताल का है जहां 1980 में इसका ऊंचाई वाला हिस्सा तबाह हो गया। छिद्रयुक्त और टूटे हुए चट्टान में जल स्वतः जमा हो जाता है। इन चट्टानों का प्रतिबल बहुत कम हो जाता है और बाहरी दबाव के चलते ये स्खालित हो जाती हैं। अतएव, चट्टानों के टूटने और जुड़ने के अनुपात का असर इसके प्रतिबल पर पड़ता है।

कम अवधि के भूकंप से जमीन के अंदर चट्टानों की गति बढ़ जाती है, ढलान में परिवर्तन हो जाता है और चट्टानों के ऊपर कार्यरत बल को इस तरह प्रभावित करता है कि बाह्य बल का असर बढ़ जाता है। इस प्रकार भूकंप भूस्खलन का सबसे बड़ा कारण है। सन् 1950 में अरुणाचल प्रदेश में भूस्खलन और 1934 में बिहार के भूस्खलन भूकंप के कारण हुए थे।

ढाल के झुकाव का भूस्खलन में बड़ा हाथ है। ढाल जितना उदग्र होगा, भूस्खलन उतना ही अधिक होगा। अपरदन और खुदाई से ढाल के उदग्र होने की संभावना बढ़ जाती है। हरिद्वार–बद्रीनाथ मार्ग पर 30 मी. चौड़ा कलियासौर भूस्खलन अलकनंदा से निकलने वाला जल (अपरदन) और सड़क के लिए चट्टान काटने के संयुक्त प्रभाव के कारण हुआ।

ढाल के ऊपर मलबा और कूड़ा डालने से ढाल पर दबाव बढ़ता है तथा बांध और जलाशय जैसे विशाल निर्माण कार्य से चट्टानों का प्रतिबल कम हो जाता है। इस प्रकार ढाल का संतुलन बिगड़ जाता है। शिमला और नैनीताल शहरों में सड़क और बहुमंजिली इमारतों के निर्माण में खुदाई से प्राप्त मलबों को ढाल के ऊपर जमा करने से वहां की चट्टानों का संतुलन बिगड़ गया, फलस्वरूप लक्कड़ बाजार (शिमला) और शेर का डंडा (नैनीताल) जैसे भूस्खलन हुए।

भूस्खलन क्षेत्र

1. कुमायूं में भूस्खलन क्षेत्र: हिमालय क्षेत्र के दक्षिणी भाग में मेन बाउंड्री थ्रस्ट (MBT) तथा आंतरिक भाग में मेन सैंट्रल थ्रस्ट (MCT) दो अत्यंत भूकंप संभावित क्षेत्र हैं। एम सी टी वृहत् हिमालय शृंखलाओं को जनसंख्यायुक्त लघु हिमालय से अलग करता है। मैदानी भाग सहित लघु हिमालय क्षेत्र के चट्टान वृहत हिमालय के चट्टानों के अंदर घुस गया है। जिसके फलस्वरूप वृहत हिमालय उठ गया है और लघु हिमालय के चट्टानों में टूटन और दरार पड़े हैं। एम बी टी क्षेत्र की परतें शिवालिक क्षेत्र की परतों के साथ लघु हिमालय की ओर धसक रही हैं। टूटी हुई ओर विरूपित चट्टानों में कठोर मोड़ आ गया है और उनमें लगातार टूटन हो रहा है। एम सी टी ओर एम बी टी क्षेत्रों में कमजोर चट्टानें वर्षा, विस्फोट, भूकंप, भारी वाहनों के कंपन और मानवीय गतिविधियों के दबाव बर्दाश्त नहीं कर पाती हैं। परिणामस्वरूप, कुमायूं के इस 5 से 20 कि.मी. चौड़े क्षेत्र में पुराने और नए भ्रंश, दरार तथा भूस्खलन के मलबे देखे जा सकते हैं। बहुत से पुराने भूस्खलन के शंकु पेड़-पौधों के कारण स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ते हैं। एम.बी.टी. क्षेत्रों में पारिस्थितिकी नव विवर्तनिक गतिविधियों के कारण और भी गंभीर है।
2. पश्चिमी घाट भूस्खलन क्षेत्र: पश्चिमी घाट में कोंकण तट के निकट 600 मी. ऊंचे ढाल में भूस्खलन की घटनाएं आम बात हैं। घाट के कतरन, बैसाल्ट, ज्वालामुखीय राख, लाल छड़ तथा अन्य संचित पदार्थ ढाल को कमजोर करते हैं। सौ मीटर ऊंचे ढाल के फफोलेदार लावा और अन्य ज्वालामुखीय पदार्थों पर जमे 20 मीटर चौड़े प्लास्टिक और अर्द्धप्लास्टिक युक्त क्षेत्रों में सामान्यतया भूस्खलन होता है। वर्षा जल के लावायुक्त परत से अंदर रिसने के कारण बीच के परतों के प्रतिबल कम होने से भूस्खलन होता है। इस क्षेत्र में भारी वर्षा होती है (प्रतिवर्ष 300 सेमी. से अधिक)। उदग्र भ्रंशों और जोड़ों से होकर वर्षा जल आसानी से अंदर चला जाता है, फलस्वरूप भूस्खलन होता है। कोयना बांध के पास 60मी. से 180 मी. का भूस्खलन है। भूकंप की आवृति बढ़ गई है, खासकर रत्नागिरि जिला में। इससे भूस्खलन के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार हो गई है।
3. दक्षिण भारत के भूस्खलन क्षेत्र: दक्षिण भारत के नीलगिरि- अनमुही क्षेत्र में अकसर भूस्खलन होता है। अभिनूतन काल में इसकी ऊँचाई बढ़ने के कारण वर्तमान में यह क्षेत्र 2600 मी. ऊंचा है। भ्रंशयुक्त वन विहीन गिरिपिंड के ऊपरी भागों में भूस्खलन होता है। इस पठार में मखरला मिट्टी पाई जाती है जिसपर भारी वर्षा का शीघ्र असर होता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

भूस्खलन नियंत्रण

वर्षा जल अथवा बाढ़ का जल भूस्खलन की गतिविधि को बढ़ाने वाला प्रमुख कारक है। अतएव प्रभावित क्षेत्रों में इसके प्रवेश को रोका जाए। भूस्खलन को पूर्णतया रोकना संभव नहीं है, किंतु समय पर उचित उपाय के द्वारा इससे होने वाली क्षति को कम किया जा सकता है जल बहाव के उचित उपाय तथा अभियांत्रिकी कार्यों द्वारा क्षति को कम करना संभव है। भूस्खलन से पूर्व चट्टानों में दीर्घकाल तक विसर्पी गति होती है। विसर्पी गति से समय पर उचित उपाय करने हेतु चेतावनी मिलती है।

अभियांत्रिकी तकनीकी के माध्यम से ऊपरी तथा निचली परतों से जल बहाव, असंतुलित ढाल सामग्री का विस्थापन, संतुलन बनाए रखने के लिए ढाल को ठीक तथा टाल को स्थायित्व प्रदान करने के लिए दीवार का निर्माण किया जा सकता है। अपेक्षित परिणाम के लिए विभिन्न प्रकार के उपायों का सहारा लिया जा सकता है।

भूस्खलन हेतु प्रायः विश्लेषण प्रणाली संतुलन सीमा के सिद्धांत पर आधारित है। संतुलन से तात्पर्य असंतुलनकारी और इनके प्रतिरोधक बल के बीच संतुलन है। परत को असंतुलित करने वाले बल तथा इनके प्रतिरोधक बल के बीच संतुलन होना आवश्यक है।

अपवहन नियंत्रण तथा जल अवरोध उपाय : ढाल संतुलन कार्यक्रम का प्रथम चरण यह है कि भूस्खलन बढ़ाने वाला घटक वर्षाजल/बाढ़जल को प्रभावित क्षेत्र से दूर किया जाए। यह जलनिका के व्यापक तंत्र की स्थापना से संभव है। प्रभावित क्षेत्र में अवस्थित नदियों और जलाशयों के जल को उचित निकास के द्वारा दूर किया जा सकता है। इन क्षेत्रों के झरनों से नली के माध्यम से जल निकास किया जाना चाहिए। प्रभावित क्षेत्र की नालियों को कंकड़ और बालू से भरना चाहिए।

जल निकासी व्यवस्था की स्थापना के साथ-साथ भूमि तल को एक समान बनाने का भी काम होना चाहिए ताकि सभी प्रकार के भ्रंशों को पाटा जा सके। इससे खाइयों में जल के जमाव को रोका जा सकता है। खुदाई करके नलकूप, कुआं या मोटरपंप द्वारा जमीन के नीचे के जल को निकाला जा सकता है। यदि समस्या गंभीर है तो सरणी तथा नहर का निर्माण किया जा सकता है।

क्षतिग्रस्त ढालों पर वनस्पति लगाना : अपरदन को रोकने तथा क्षतिग्रस्त भूपटल की रक्षा हेतु इसे पटसन के रेशे अथवा 1.5 से 2.5 मी. के धागे से ढंक देना चाहिए। इससे पेड़-पौधों का विकास तेजी से होता है। इस प्रकार बुआई से पहले खेत सुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार ढंकने से वर्षा और वायु के द्वारा मिट्टी का कटाव नहीं हो पाता है और वनस्पति की वृद्धि अबाध गति से होती है। इस तरह तैयार जमीन में सबसे पहले तेजी से उगनेवाले स्थानीय घास लगाए जाते हैं। घास की दो धारियों के बीच में 15-20 सेमी. की दूरी होनी चाहिए। इसमें उचित उर्वरक, दलहन पौधे तथा जैव खाद का प्रयोग करना चाहिए। इससे वनस्पति का विकास तेजी से होता है।

ढाल की अधिक सुरक्षा सुनिश्चित करने तथा पौधों को जड़ से उखड़कर गिरने से रोकने के लिए डामर मिश्रण (घासपात) का प्रति दो मीटर में 1 लीटर के हिसाब से छिड़काव करना चाहिए। घासपात उर्वरक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। घासपात वर्षा के ठीक पहले डालना चाहिए। अत्यंत प्रतिकूल मामलों में बुआई के बाद प्लास्टिक या लैटेक्स स्टैबलाइजर डालना चाहिए। घास—पात और सॉरगम जैसे तनायुक्त पौधे, जो कि धाय पौधे होते हैं, लगाना सरलतर और अधिक व्यावहारिक कार्य हैं। रिजोबियम बैक्टिरीया के साथ बीज का कलम लगाने से वांछित परिणाम तुरंत प्राप्त हो जाते हैं।

ढाल की सुरक्षा के लिए नारा (अरुण्डो डोनैक्स), लेमनग्रास, नैपियर (पैनिस्टियम परपुरियम), किकियू (पेनिनसेटम क्लैंडिस्टेनम), गोर्डा (चैरीसोपोगोन फुलवस), सी नेपेलेनसिस इत्यादि घास लगाए जा सकते हैं। घास का चयन स्थानीय परिस्थिति, जलवायु और मिट्टी की बनावट पर निर्भर करता है। गहरी जड़ वाला लेगूम पूरेरारिया हिरसूटा (पी. थनबरगियाना) अधिक उपयुक्त है। इसे जनवरी और फरवरी में रोपा जाता है।

ढाल को ठीक करना : ढाल को मजबूती प्रदान करने के लिए मेजनुमा आकृतियों का निर्माण करना चाहिए ताकि ढाल को खिसकने, गिरने और विसर्पित होने से बचाया जा सके। इस प्रकार क्षति को टाला जा सकता है। किंतु ढाल को ठीक करने के साथ ही यह भी आवश्यक है कि उस पर जमा मलबे को हटाया जाए। ढाल को मजबूत करने का एक और उपाय यह है कि स्खलित होने लायक ढाल के शीर्ष पर से भार कम किया जाए तथा उसके आधार को मजबूती प्रदान किया जाए।

प्रतिधारक दीवार और पुश्ता : स्खलन की संभावना वाले टाल को मजबूती प्रदान करने, भूस्खलन को रोकने तथा ढाल के आधार में अपरदन को रोकने के लिए कंक्रीट अथवा खोर की प्रकार के प्रतिरोधक दीवारों का निर्माण किया जा सकता है। पुश्ता दीवार भारी तथा कम ऊंचाई की होती है जो ढाल के आधार में अपरदन को रोकती है। यदि जगह हो तो दीवार ढाल के आधार से थोड़ा हटकर बनाना चाहिए तथा बीच के जगह को कंक्रीट तथा वैसे पदार्थों से भर देना चाहिए जिससे होकर जल निकासी हो सके। जल के बिना अवरोध प्रवाह से दीवार के पीछे की ठोस भूमि पर जल का दबाव कम हो जाता है। प्रतिधारक और पुश्ता दीवारों में जल निकलने का छिद्र और निकास नली होनी चाहिए जिससे वे अधिक दिनों तक कायम रह सकें तथा प्रभावी रूप से कार्य कर सकें।

कर्नाटक के कालिंदी परियोजना के तलहट्टी नगर के गड्ढों में भूस्खलन रोकने के लिए बहुत ही प्रभावी, द्रुत एवं सस्ता उपाय अपनाया गया है। ढाल की तलहटी में प्रेसट्रेस्ड एंकर पैड लगाया गया है जिनका भार क्रासबीम के द्वारा एक दूसरे को संतुलित किए रखता है।

सूखा

सामान्य रूप से, सूखा से तात्पर्य क्षेत्र विशेष में लम्बी अवधि, ऋतु, एक वर्ष या कई वर्षों तक अनावृष्टि अथवा जल की कमी है। इसे मौसम विज्ञान, जल विज्ञान तथा कृषि के मानदंडों पर परिभाषित किया जा सकता है। मौसम विज्ञान के अनुसार अधिक समय तक अनावृष्टि को सूखा कहा जाता है। भारत में मौसम विज्ञान के अनुसार दक्षिण-पश्चिम मानसून के आधार पर सूखा निर्धारित किया जाता है। सामान्य वृष्टि से 19 प्रतिशत अधिक तक को सामान्य वृष्टि की श्रेणी में ही रखा जाता है। सामान्य से 19 प्रतिशत कम वर्षा को अनावृष्टि कहते हैं। 59 प्रतिशत से कम वर्षा की स्थिति को सूखा की स्थिति कहते हैं। इस विषय पर विवाद है कि कितनी अवधि तक वर्षा न होने पर औपचारिक रूप से सूखा घोषित किया जा सकता है। अतएव सूखा शब्द की परिभाषा सामाजिक अपेक्षाओं और जनता की मान्यताओं पर निर्भर करती है कि उपलब्ध जल सामान्य गतिविधियों के संचालन हेतु पर्याप्त नहीं है। अतएव, मौसम विज्ञान के अनुसार सूखा सिर्फ वर्षा के वितरण और आंकड़े दर्शाता है।

जल विज्ञान के अनुसार सूखा खासतौर से जमीन के नीचे जल के निम्न स्तर तथा नदी-नालों के घटते हुए जल प्रवाह को दर्शाता है। यह जल की उपलब्धता तथा घरेलू कृषि तथा औद्योगिक कार्यों में इसके खर्च को सूचित करता है। कृषि की दृष्टि से सूखा का तात्पर्य एक लम्बी अवधि तक वर्षा का न होना तथा इस कार्य में जल की पर्याप्त आपूर्ति में बाधा होने से पौधों की जड़ में आर्द्रता की कमी से कृषि वनस्पति पर पड़ रहे प्रतिकूल प्रभाव से है। कृषि की दृष्टि से सूखे के परिणामस्वरूप फसल उत्पादन प्रभावित होता है। कृषिगत सूखा मौसम विज्ञान तथा जल विज्ञान के अनुसार सूखा के सम्मिलित स्थिति को दर्शाता है। कृषिगत सूखा का सबसे

CHRONICLE IAS ACADEMY

अधिक सामाजिक-आर्थिक प्रभाव है और राष्ट्रीय स्तर पर खाद्य पदार्थ की आपूर्ति में बाधा से गंभीर समस्या उत्पन्न होती है।

सूखा किसी स्थान विशेष पर और किसी भी समय हो सकता है जिससे सामान्य कठिनाई से लेकर अकाल के कारण जानमाल की क्षति तक हो सकती है। सूखा की गंभीरता वर्षा में कमी के परिणाम, सूखा की अवधि, प्रभावित क्षेत्र के आकार, कृषिकार्य हेतु जल संसाधन की उपलब्धता इत्यादि पर निर्भर करता है। सूखा की स्थिति को दर्शाने वाले सूचकांक को 'पालार ड्राउट सिविरिटी इंडेक्स' कहते हैं। यह सूचकांक +6 (सामान्य से बहुत अधिक वर्षा) तथा –6 (भयंकर सूखा) के बीच की स्थिति को दर्शाता है। यह सूचकांक क्रमागत अंतराल पर स्थानीय मौसम के सापेक्ष सूखापन को मापता है। यह वास्तविक वर्षा तथा अपेक्षित वर्षा (जिसमें वाष्पीकरण, जल के बह जाने तथा आर्द्रता भंडारण का विचार करते हुए) के अंतर का भी ध्यान रखता है।

सूखापन में वृद्धि के घटक

भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व का सातवां बड़ा देश है। इसका क्षेत्रफल 32,87,782 वर्ग कि.मी. है। इसकी जनसंख्या 120 करोड़ से अधिक है। जिसमें जनसंख्या के 72% लोग ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 28% शहरी क्षेत्रों में निवास करते हैं। पूरे देश को चार क्षेत्रों में विभाजित किया गया है– उत्तर में हिमालय पर्वतीय क्षेत्र, मध्य में गंगा का मैदानी भाग, पश्चिम में मरुभूमि तथा दक्षिण में प्रायद्वीपीय पठारी भाग। भारत में ग्रामीण जनसंख्या 6,40,867 गांवों में छितरायी हुई। इनमें से 3,31,000 गांव समस्याग्रस्त हैं जिनमें 1.6 कि.मी. के दायरे में पेय जल उपलब्ध नहीं है और यदि है भी तो वह पीने लायक नहीं है। 68% कृषि भूमि वर्षा जल पर निर्भर है। देश के 35 मौसम अनुमंडल में होने वाली वर्षा के वितरण में काफी अंतर है। यह अंतर इतना अधिक है कि जहां मेघालय के चेरापूंजी में 1187 सेमी. वर्षा होती है तो वहीं राजस्थान के पश्चिमी रेगिस्तान में 10 मिली. वर्षा होती है। कुल मिलाकर देश का 16% भाग सूखाग्रस्त है। सूखाग्रस्त क्षेत्र– सूखाक्षेत्र, अर्द्धसूखा क्षेत्र तथा पश्चिम राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र के सूखा अर्द्ध आर्द्र क्षेत्र और कच्छ, मराठवाड़ा, तैलंगना, रायलसीमा, बिहार तथा उड़ीसा के कुछ भाग (कोरापुट जिला) हैं।

अनावृष्टि, जनसंख्या का वितरण, खराब जल प्रबंधन, उद्योगों तथा कृषि के द्वारा भूमिजल का बेहिसाब दोहन तथा कई कार्यों हेतु व्यापक स्तर पर वन की कटाई भारत में सूखा के प्रमुख कारण हैं। मौसमगत सूखा के कारणों में अंतर की वजह सूखाग्रस्त क्षेत्रों की जलवायु में अंतर है। मानसूनी वर्षा पर आधारित हमारे देश में सिर्फ वर्षाऋतु में 70-80 प्रतिशत वर्षा होती है। देश की अंदरूनी भागों में वर्षा का असर बहुत कम होता है तथा वर्षाऋतु में जमा किये गये वर्षाजल को सालभर उपयोग के लिए यथावत रखना कठिन है।

सूखे का प्रभाव

सूखा के कारण फसल नष्ट हो जाती है तथा इससे अकाल, कुपोषण, महामारी, बलात आप्रवासन, आर्थिक असंतुलन, जानमाल की क्षति तथा सामाजिक संघर्ष होते हैं। सूखा का सबसे पहला प्रभाव जल की कमी के रूप में परिलक्षित होता है। अन्य प्रभाव इसी से जुड़े हुए हैं। पहले प्रभाव के कारण पीने तथा सफाई के लिए जल का अभाव, फसल नष्ट होना, जानमाल की क्षति इत्यादि होती है। इसके कारण कृषि क्षेत्र में बेरोजगारी बढ़ जाती है। इसके दूसरे प्रभाव के रूप में लोग पशुओं के लिए चारागाह हेतु अपना घर छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं तथा आय की खोज में शहरों की ओर पलायन करते हैं। यदि जल, भोजन तथा चारा समय पर उपलब्ध नहीं होता है तो अकाल की स्थिति उत्पन्न होती है तथा जानमाल की क्षति होने लगती है। इससे अप्रवासन में वृद्धि होती है तथा महामारी फैलती है। दीर्घकालीन सूखा से लोगों के रहन सहन ओर जीवनयापन में भारी परिवर्तन आ जाता है।

सूखा के कारण अर्थव्यवस्था के उत्पादकता आधार को क्षति पहुंचती है और पूंजी का एक अच्छा खासा हिस्सा सूखा से निपटने में खर्च हो जाता है। फसल नष्ट होने से शहरों की ओर पलायन बढ़ता है जिससे शहर पर दबाव बढ़ता है और नई मांग तथा आधारभूत संरचना बनने लगती है। सूखा से सर्वाधिक क्षति पुशधन को होता है। पशुधन लोगों के जीवनयापन का आधार है। दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थिति में पुशधन पर कम ध्यान दिया जाता है और आपदा की स्थिति में लोग इनकी देखभाल नहीं कर पाते हैं। इसका परिस्थितिकी दुष्प्रभाव यह है कि सूखा के कारण झाड़ियां नहीं पनप पाती हैं, मिट्टी का अपरदन बढ़ जाता है और मरुभूमि के निर्माण का चक्र प्रारंभ हो जाता है। पारिस्थितिकी के विचार से मरुभूमि का प्रसार चिन्ता का विषय है। पूरी प्रक्रिया धीरे-धीरे फैलने लगती है और मरुभूमि का प्रसार बढ़ने लगता है। अतएव सूखा के प्रभाव का आकलन सिर्फ आर्थिक आधार पर नहीं किया जा सकता। इससे समाज, पारिस्थितिकी और पर्यावरण को अपूरणीय क्षति होती है और इनका दुष्प्रभाव कई वर्षों तक कायम रहता है (जैसे बंगाल का अकाल)।

सूखा से निपटने के उपाय

उपयुर्क्त विवेचन से दो महत्वपूर्ण बिंदु सामने आए हैं:

1. सूखा मानव निर्मित परिस्थिति है और जल संसाधन के ठीक प्रबंधन न होने के कारण उत्पन्न होती है। (2) इस विषय पर बहस दो विपरीत बिंदुओं के इर्दगिर्द घूमता है। पहले बिंदु के अनुसार बड़े बांध तथा सिंचाई परियोजनाओं को वर्तमान जल संकट का निदान ढूंढना चाहिए। दूसरे बिंदु के अनुसार पारंपरिक तकनीक का उपयोग करते हुए कृषि और घरेलू कार्य हेतु वर्षा जल को जमा करना चाहिए। यह बहस बांध समर्थकों तथा बांध विरोधियों के बीच विवाद का विषय है। दोनों बिंदुओं के लाभ-हानि की चर्चा सही परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए। इसका निदान इतना आसान नहीं है। संपूर्ण विषय को पर्यावरणीय क्षति और इससे उत्पन्न होने वाली आपदाओं को ध्यान में रखकर देखना चाहिए।

विकास के लिए आधुनिक तकनीक के पक्षधरों का कहना है कि बांध और जल विद्युत संयत्र जैसी विकास परियोजनाएं आवश्यक हैं। बड़े बांधों के कारण कई संकटग्रस्त क्षेत्रों में संपन्नता आयी है। इससे विद्युत और जल प्राप्त हुए हैं। यहां तक कि हरित क्रांति की सफलता के पीछे भी बड़ी विकास परियोजनाओं के हाथ हैं। वैसे परंपरावादियों का मानना है कि हरित क्रांति के कारण भी सूखा की स्थिति उत्पन्न हुई है। वस्तुत: जो तथाकथित आधुनिक विकास तकनीक का विरोध करते हैं उन्हें पारिस्थितिकी स्वच्छंदतावादी तथा नव उद्योग विरोधी कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि पारंपरिक प्रयोग कालातीत हो चुके हैं और इनकी उपयोगिता समय सापेक्ष नहीं है। भोजन तथा सिंचाई की आवश्यकताएं कई गुणा बढ़ गई हैं और इनकी आपूर्ति पारंपरिक रूप से जलसंग्रह करने से नहीं हो सकती है। गड्ढा, तालाब, बांध इत्यादि खोदकर जल आपूर्ति करना एक अल्पकालिक प्रयोग है जो बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में अक्षम है। इसके अतिरिक्त इन छोटे बांधों और परियोजनाओं के कारण विस्थापन की समस्या उत्पन्न हुई है।

ऐसा बहस किया जाता है कि बांध की अभिधारणा में कोई गलती नहीं है। यदि बांध नहीं हो तो नदी के जल की अधिशेष मात्रा बेकार में समुद्र में प्रवाहित हो जाएगी। समस्या तब उत्पन्न होती है जब पर्यावरण अनुकूल तकनीकी का प्रयोग नहीं किया जाता है। जब मुख्य नगर को अधूरा छोड़ दिया जाता है और जल क्षेत्र कार्यक्रमों को आधे अधूरे मन से कार्यान्वित किया जाता है तो समस्या उत्पन्न होती है। बांध का आकार समस्या नहीं है अपितु बांध के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय औचित्य पर विचार करना आवश्यक है।

विषम परिस्थिति में लोग संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। पर्यावरण की वर्तमान दुर्गति के लिए सिर्फ बड़े विकास परियोजनाओं को

CHRONICLE IAS ACADEMY

दोषी नहीं ठहराया जा सकता। विकासशील देशों में संसाधनों का विवेकपूर्ण दोहन नहीं हो पाता है। पर्यावरण का प्रश्न भारत में लोगों के जीवनयापन से जुड़ा हुआ हैं। समाज के कमजोर वर्ग सूखाग्रस्त क्षेत्रों में रहने के लिए विवश हैं और वे वैसी कृषि पद्धति अपनाने के लिए मजबूर हैं जो पर्यावरण को क्षति पहुंचाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक विकास के समर्थन में दिया जाने वाला तर्क काफी सशक्त है। बहस के दूसरे पहलू इस बात पर जोर देते हैं कि स्थानीय जनसंख्या का दुष्प्रभाव लघु जीवनयापन पद्धति पर प्रायः नहीं के बराबर है। अनियोजित विकास कार्यों के कारण कई समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। बांध के कारण बाढ़ आना आम बात है। बांध पर अपेक्षा से अधिक खर्चा हुआ है, हजारों एकड़ भूमि तथा लाखों लोग प्रभावित हुए हैं। इन्हें ऐसे क्षेत्रों में बनाया जाता है जहां जल जमा हो सके। नर्मदा घाटी परियोजना को भारत में पर्यावरण को सबसे अधिक क्षति पहुंचाने वाली परियोजना माना जाता है। यह माना जाता है कि कई छोटी और द्रुत गति से संपन्न होने वाली परियोजनाएं बड़ी परियोजनाओं की बलि वेदी पर चढ़ गई हैं।

सभ्यता के आरंभ से ही भारतीय लोगों ने जल प्रबंधन के तकनीक का विकास किया तथा इस क्षेत्र में आत्म निर्भरता दिखाई। विज्ञान और पर्यावरण केंद्र ने जल जमा करने के कई पारंपरिक पद्धतियों पर शोध किया है और जलसंग्रह के पारंपरिक पद्धतियों को उपयोगी माना है। इनका कोई विकल्प नहीं है। ■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

6 जलवायु संबंधी परिवर्तन

जलवायु से सामान्य रूप से एक खास अवधि के दौरान ग्रह, भूमि, वातावरण और जल प्रणाली के क्रिया-कलाप के सम्मिलित स्वरूप का बोध होता है। इस प्रणाली के घटक कई रीति से कई बार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जलवायु के अंदर घटित परिवर्तन को समझने के लिए इनके घटकों का क्रमबद्ध अध्ययन आवश्यक है।

क्या पृथ्वी की जलवायु में परिवर्तन हो रहा है?

स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है कि पृथ्वी की जलवायु में कोई परिवर्तन हो रहा है। 'परिवर्तन क्या होता है? जलवायु परिवर्तन की क्या दशा है?', को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस बात को दृढ़ता पूर्वक मानें कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जलवायु की स्थिति के आकलन हेतु कोई सर्वमान्य आधार नहीं है, जिसके आधार पर सभी क्षेत्रों की जलवायु का आकलन किया जा सके। जलवायु संबंधी परिवर्तन तभी होता है, जब सौर्य, ज्वालामुखीय या मानवीय संबंधी आंकड़ों के आधार पर वैश्विक विकिरण संतुलन, वैश्विक एवं क्षेत्रीय जलवृष्टि की स्थिति तथा अंदरूनी घटकों का जलवायु परिवर्तन में प्रभाव का अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

जलवायु संबंधी परिवर्तन के प्रमाण

(क) पुरा जलवायु रेकार्ड

जीवाश्म रेकार्ड से दीर्घकालीन जलवायु रेकार्ड जो प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि समय के अनुरूप तापमान और वर्षा में भी परिवर्तन हुआ है। औसत तापमान में परिवर्तन हिम युग के आगमन और प्रस्थान की सूचना देता है। यह युग हजारों वर्ष का था, जिसके दौरान उत्तरी अमरीका और उत्तरी यूरोप के विशाल भू-भाग हमेशा बर्फ से ढंके रहते थे। समय के दस वर्ष से लेकर लाख वर्ष के पैमाने पर हिम युग के आगमन और प्रस्थान के दौरान उच्च स्थानों पर हिमाच्छादन और अल्पकालीन अवधि के दौरान तापमान और वर्षा में व्यापक उतार-चढ़ाव का पता चलता है।

विभिन्न कालखंडों में जलवायु की स्थिति बताने वाले अध्ययन प्रकाश में आये हैं। इनसे पता चलता है कि अंतिम हिम युग के समय भूर्पपट्टी के निकट तापमान वर्तमान तापमान से अधिक था। हालांकि ये कालक्रम के अनुरूप और वैश्विक स्तर पर समान नहीं हैं।

(ख) वैश्विक यंत्रीय रेकार्ड

- तापमानः विगत पांच वर्षों में यंत्रीय पर्यवेक्षण पर आधारित भूपटल के औसत तापमान तथा समुद्री तल के औसत तापमान दर्शाने वाले सामासिक–वैश्विक रिकार्ड तैयार करने के कई नये प्रयास हुए हैं। इन सभी अध्ययनों से निष्कर्ष यही निकलता है कि यंत्रीय पर्यवेक्षण के आधार पर 19वीं सदी के मध्य से पहले का औसत वैश्विक तापमान का सही रेकार्ड निकालना संभव नहीं है।
- तथापि एक तथ्य पर आम सहमति है कि 19वीं सदी के अंत से औसत वैश्विक तापमान में 0.05 से 0.15° सेंटीग्रेड की बढ़ोतरी हुई है। यह वृद्धि एक समान गति से नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त दोनों गोलार्द्ध के औसत तापमान-वृद्धि में व्यापक अंतर रहा है। उत्तरी गोलार्द्ध, जिसमें भूपटल का अधिकांश भाग है, में तापमान वृद्धि की दो अवधियों को दर्ज किया गया है– एक, सन् 1920 से 1940 के दशक के शुरुआत तक तथा दूसरा सन् 1970 के दशक के मध्य से वर्तमान समय तक। दक्षिणी गोलार्द्ध के अधिकांश भागों में महासागर हैं। इसके तापमान में प्रायः एक समान गति से वृद्धि हुई है।
- वर्षाः ग्रीन हाउस प्रभाव के कारण वैश्विक तापमान में परिवर्तन से वैश्विक जल–चक्र में परिवर्तन आया है, जिसके फलस्वरूप वर्षा के पैटर्न और औसत वैश्विक वर्षा में परिवर्तन हुआ है। हाल में विश्व के कई भागों में औसत वर्षा में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखा गया है।
- अन्य परिवर्तनः वर्षा के साथ-साथ वायु और आर्द्रता में भी परिवर्तन हुए हैं, किंतु ये कारक इतने छोटे हैं कि इससे वैश्विक स्तर पर कोई निष्कर्ष निकलना अर्थपूर्ण नहीं होगा। तथापि बादल घिरने और आर्द्रता में परिवर्तन देखे गये हैं।

बेलाजियो घोषणा पत्र

गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के लिए एक असाधारण दस्तावेज जारी किया गया है, जिसे बेलाजियो घोषणा पत्र कहा जाता है। इसमें दुनिया भर में मोटर वाहनों तथा यातायात ईंधनों के लिए नियामक सिद्धांत दिये गये हैं। विगत वर्ष एलर्जी फाउंडेशन के तत्वाधान में इटली के बेलाजियो शहर में आयोजित एक सम्मेलन में उक्त दस्तावेज तैयार किया गया। इसमें जापान, अमेरिका, चीन तथा विभिन्न यूरोपीय देशों के विशेषज्ञ तथा नियामक विविध सिद्धांतों की स्थापना के लिए इकट्ठा हुए। घोषणाओं में 43 प्रमुख सिद्धांत बनाये गये हैं।

प्रमुख सिद्धांत जो इस प्रकार हैं:

(i) विकसित व विकासशील दोनों तरह के देशों को विश्व में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ प्रौद्योगिकी व ईंधनों का उपयोग करना चाहिए।

(ii) पुरानी तकनीक के लिए विकासशील बाजारों में कमजोर नियमों के साथ डंपिंड ग्राउंड बनाने के लिए उन्नत प्रौद्योगिकी के लिए बाजार विकसित करने पर जोर देना चाहिए।

(iii) वस्तु-विनिमय, शहरी वायु गुणवत्ता तथा ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

(iv) प्रौद्योगिकी से संबंधित निर्णयों में किसी उत्पाद के उत्पादन, वितरण व विक्रय के लिए जीवन-चक्र का ध्यान रखना चाहिए।

(v) उत्पादों के अंदर होने वाले उत्सर्जन के लिए निर्माताओं को जवाबदेह बनाना चाहिए।

जलवायु संबंधी आदर्श रेकार्ड

जहां ग्रीन हाऊस प्रभाव के बढ़ने से पृथ्वी के तापमान में वृद्धि हो रही है अथवा नहीं, यह रूचि का विषय है। वहीं यह निर्धारित करने की परम आवश्यकता है कि यह परिवर्तन क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर पर किस प्रकार घटित हो रहा है। क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर पर यह परिवर्तन सबसे अधिक महसूस किया जायेगा। इस स्तर पर इसके आकलन हेतु कार्यनीति बनायी जा रही है।

क्षेत्रीय स्तर पर जलवायु में परिवर्तन

जलवायु को विभिन्न श्रेणियों में बांटकर उन्हें अध्ययन करने के प्रयास

CHRONICLE IAS ACADEMY

हुए हैं। किंतु पृथ्वी के प्रत्येक स्थान की अपनी खासियत है। किसी स्थान की जलवायु उस स्थान की ऊंचाई, अक्षांश, समुद्र से दूरी तथा स्थानीय भौगोलिक कारकों से प्रभावित होती है। अल्पकालिक जलवायु पैमाना, जो एक माह से लेकर एक ऋतु तक के जलवायु का औसत बताता है, पर देखने से पता चलता है कि सूर्य के उत्तर एवं दक्षिण की ओर झुकाव से जलवायु में व्यापक परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन इतने नियमित रूप से होता है कि इसे हम अनदेखी कर देते हैं।

ओजोन संरक्षण

ओजोन (o_3) एक ऐसी गैस है, जो ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं से बनी है। ओजोन वायुमण्डल की एक सूक्ष्म परत है जो समुद्री सतह से 60 किमी. की ऊँचाई तक विविध साँद्रता में पाई जाती है। ओजोन की यह पतली पर्त सूर्य के हानिकारक पराबैंगनी प्रकाश को पृथ्वी पर पहुँचने से रोकती है।

आज वैज्ञानिकों के समक्ष ओजोन परत के क्षरण की गंभीर समस्या है जो कि विभिन्न पारिस्थितिकीय असंतुलनों द्वारा पर्यावरण को अपूर्णनीय क्षति पहुँचा रही है। ओजोन परत के क्षरण की समस्या पर विश्व भर का ध्यान आकर्षित करने के लिये संयुक्त राष्ट्र ने अपने पर्यावरण कार्यक्रमों के अन्तर्गत 16 सितम्बर का दिन 'विश्व ओजोन दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय किया है। विश्व के तमाम देशों से ओजोन को क्षति पहुँचाने वाली 'हेलोन' गैस व क्लोरो फ्लोरो कार्बन का कम से कम उपयोग करने की अपील की जा रही है।

क्लोरो-फ्लोरो कार्बन क्लोरीन, फ्लोरीन और कार्बन परमाणुओं के यौगिकों का एक संघटन है, जिसका उपयोग रेफ्रिजरेटरों, वातानुकूलन संयंत्रों, एयरोसॉल प्रणोदकों, एयरोस्पेस इत्यादि में होता है। इन उद्योगों द्वारा क्लोरो -फ्लोरो कार्बन गैसें वायुमण्डल में पहुँचकर ओजोन पर्त को नुकसान पहुँचाती हैं। ओजोन पर्त को नुकसान पहुँचाने वाली ये गैसें ही ग्रीन हाउस गैसें कहलाती हैं। वायुमण्डल में इन गैसों की प्रचुरता सूर्य की ऊष्मा को पृथ्वी के वायुमण्डल में रोक लेती हैं। जिस कारण पृथ्वी के तापमान में वृद्धि होने लगती है। इसी प्रघटना को ग्लोबल वार्मिंग (वैश्विक ऊष्मन) कहते हैं।

जलवायु संबंधी परिवर्तन के असर

कृषि और वानिकी पर संभावित असर: विगत कई दशकों में क्षेत्र विशेष में तापमान बढ़ने के कारण आर्द्रता में कमी आयी है। फलस्वरूप क्षेत्र सूखा-ग्रस्त होते जा रहा है। इससे मिट्टी का अपरदन बढ़ने और फसल नष्ट होने की संभावना बढ़ती जा रही है। आर्द्रतायुक्त क्षेत्रों में शीतोष्ण क्षेत्रीय स्थानों पर अक्सर आने वाले प्रलयकारी तूफानों के कारण आर्द्रता में और वृद्धि हो रही है। बाढ़, लगातार पड़ रहे सूखे, दावानल तथा कीटनाशकों के कारण कृषि पर जलवायु के असर में व्यापक परिवर्तन आया है। वातावरण में लगभग दुगुनी हो गयी CO_2 की मात्रा का फसल उत्पादन पर संभावित असर के अध्ययन में दिखाया गया है कि गर्मी के दिनों में सूखा पड़ने से उत्तरी मध्य अक्षांश क्षेत्रों में उत्पादन में 10-30 प्रतिशत की संभावित कमी होने की आशा है। जलवायु परिवर्तन का असर कृषि पर पड़ने से कृषि उत्पादन के मूल्यों में करीब 10 प्रतिशत की वृद्धि होने की संभावना है।

विश्व के शीतोष्ण एवं अर्द्ध–शीतोष्ण क्षेत्रों में (जहां विश्व के कई अति विकसित देश अवस्थित हैं) जलवायु में भारी परिवर्तन होने की संभावना है। यूथोपिया के साहेल क्षेत्रों में सूखा के अतिरिक्त अफ्रीका के अन्य देश भी 1982-83 के दौरान एल-नीनो के कारण सूखाग्रस्त थे। इस घटना के कारण प्रशांत महासागर के पूर्वी भागों में समुद्रतल के जल स्तर में असामान्य रूप से वृद्धि हुई है।

विश्व के कई भागों में ग्रीष्म ऋतु की अवधि बढ़ती जा रही है। इससे खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की संभावना है। सही कृषि प्रणाली अपनाने से फसल पकने की अवधि में बढ़ोतरी हो जायेगी, जिससे उत्पाद बढ़ जायेगा।

हमारे अनुमान के अनुसार कुल मिलाकर विश्व में कृषि की स्थिति संतुलित रहने की संभावना है। जलवायु परिवर्तन का दुष्प्रभाव उस देश पर पड़ने की संभावना है, जो जलवायु पर निर्भर है। इसके अंतर्गत अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के कुछ शुष्क और अर्द्ध शीतोष्ण क्षेत्र तथा दक्षिण पूर्व एशिया तथा मध्य अमरीका के शीतोष्ण तथा विषुवत रेखीय क्षेत्र प्रभावित होंगे।

पूर्व सोवियत संघ का दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व यूरोपीय भागों में खासकर जाड़े की वर्षा में बीसवीं सदी के अंत तक 20 प्रतिशत की कमी आयी है। इन भागों में ज्यादा सूखा पड़ने की आशा है। इससे खाद्यान्न उत्पादन में औसत 10-20 प्रतिशत कमी होने की संभावना है।

जलवायु संबंधी परिवर्तन से वन क्षेत्र में भारी बदलाव होने की संभावना है। उत्तरी गोलार्द्ध में कई सौ किलोमीटर उत्तर में यह बदलाव हो सकता है। उत्तरी वनों, शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेश के वनों पर जलवायु संबंधी परिवर्तन का व्यापक असर पड़ता है। वनों की स्थिति में परिवर्तन का असर मानव और प्राणी दोनों पर पड़ने की संभावना है। वनों के द्वारा CO_2 का व्यापक उपयोग किया जाता है।

पारिस्थितिकी तंत्र पर संभावित असर : जलवायु परिवर्तन का दुष्प्रभाव वन क्षेत्र पर पड़ने की संभावना है। जिससे पादप और प्राणियों की संख्या पर भी असर पड़ेगा। जलवायु संबंधी परिवर्तन की गति इतनी तीव्र है कि कई पारिस्थितिकी इस परिवर्तन को आत्मसात करने में सक्षम नहीं हो सकेगी। कई प्राणी विलुप्त हो जाएंगे जिससे प्राणी जगत के वैविध्य को खतरा पहुंचेगा। ऊंचे स्थानों पर वनस्पति नष्ट हो जायेगी। ऐसे स्थान ध्रुवीय क्षेत्र, टुण्ड्रा और उत्तरी वन हैं, जहां वनों में 20 प्रतिशत की कमी आयेगी। पूर्व सोवियत संघ के एशियाई भाग में वनों की कमी से इसकी भूमि सीमा उत्तर में 500-600 किमी. बढ़ जायेगी। यूरेशिया से टुण्ड्रा क्षेत्र का सम्पूर्ण रूप से लुप्त होने की संभावना है।

सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणाम वहां सबसे अधिक होगा, जहां समाज और पारिस्थितिकी की एक दूसरे पर निर्भरता है।

जल चक्र और जल संसाधन पर संभावित असर : कई क्षेत्रों में अधिक वर्षा होने लगेगी, जिससे कृषि उत्पाद और पारिस्थितिकी में बदलाव आयेगा। कई क्षेत्रों में मिट्टी में नमी की कमी हो जायेगी। इनमें अफ्रीका जैसे क्षेत्र हैं, जहां की मिट्टी में पहले से नमी की कमी है। सक्रामेंटो नदी घाटी के अध्ययन से पता चलता है कि वैश्विक ताप वृद्धि से नदी के ऊंचाई के अपवाह क्षेत्र में बर्फ के ज्यादा पिघलने से जल की मात्रा में वृद्धि हुई। ताप वृद्धि के कारण बर्फ पिघलने से अपवाह क्षेत्र में वृद्धि होती है। बर्फ 30-68 प्रतिशत अधिक पिघल रहा है। ताप वृद्धि से नमी में 14-36 प्रतिशत की कमी होने की संभावना है।

जलवायु–परिवर्तन का मानव के आवास, ऊर्जा, परिवहन, उद्योग स्वास्थ्य और वायु का संभावित असर : जलवायु परिवर्तन के कारण समुद्र के जल स्तर उठने से बाढ़ आने तथा वर्षा में परिवर्तन से व्यापक स्तर पर आप्रवासन होने की संभावना है। शहरी क्षेत्रों में जल आपूर्ति की कमी के कारण भयंकर दुष्परिणाम होने की संभावना है। ताप बढ़ने से संक्रामक बीमारियों के फैलने की संभावना बढ़ जायेगी। वर्षा की मात्रा एवं ताप में परिवर्तन से ऊंचे स्थानों में विषाणुओं से फैलने वाली बीमारियां बढ़ जायेंगी।

जलवायु संबंधी परिवर्तन से निदान के लिए अपनायी गयी रणनीति का असर ऊर्जा, परिवहन और उद्योग क्षेत्रों पर पड़ेगा, न कि जलवायु संबंधी परिवर्तन का। वैश्विक तापवृद्धि का असर जल संसाधन और बायोमास पर पड़ने की संभावना है। जल संसाधन और बायोमास ऊर्जा के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ऊर्जा उत्पादन, उद्योग तथा परिवहन हेतु जैव ईंधन जलाने से वायु प्रदूषित होगी।

महासागर पर प्रभाव : वैश्विक ताप वृद्धि से महासागर के तापमान

CHRONICLE IAS ACADEMY

में वृद्धि हो रही है। फलस्वरूप, समुद्र के जल स्तर में वृद्धि, सागर के जल के चक्रण में परिवर्तन और समुद्री पारिस्थितिकी में परिवर्तन की संभावना है। इसके भयंकर सामाजिक-आर्थिक परिणाम हो सकते हैं।

वर्ष 2050 तक समुद्र के जल स्तर में 30-50 सेमी. की वृद्धि होने की संभावना है। जिसके कारण समुद्र तट के ढहने, खारापन बढ़ने, नदी के मुहानों पर ज्वार–भाटा उठने, उत्पादक भूमि पर दुष्प्रभाव पड़ने, मीठे जल के स्रोतों का गंदा होने तथा बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में लाखों लोगों के पलायन का खतरा बढ़ जायेगा।

जलवायु में परिवर्तन से सबसे अधिक खतरा समुद्र के तटीय क्षेत्रों को है। इन क्षेत्रों में बांग्लादेश, नील डेल्टा के कृषि क्षेत्र, प्रशांत महासागर के छोटे-छोटे द्वीप, कैरिबायाई खाड़ी एवं मालदीव, तुवालु जैसे छोटे द्वीपीय देश तथा कई बड़े बंदरगाह हैं। ग्रीन हाऊस गैस की मात्रा में वृद्धि के कारण समुद्रतल के तापमान में विश्व स्तर पर औसत वृद्धि 0.2° सेंटीग्रेट से 2.5° सेंटीग्रेट तक हो सकती है। जिससे ऊर्जा संतुलन बिगड़ने की संभावना बढ़ जायेगी। समुद्र तल के ताप वृद्धि और इसके ऊपर उठने का सबसे व्यापक दुष्परिणाम तटीय क्षेत्र में सुदूर इलाकों पर पड़ेगा।

ऊर्जा संतुलन में परिवर्तन तथा महासागर में जल चक्रण में परिवर्तन का सीधा असर समुद्री पर्यावरण के उत्पाद पर पड़ेगा। सकल प्राथमिक उत्पाद का 45 प्रतिशत गहरे समुद्र, तटीय क्षेत्र, उच्च ध्रुवीय प्रदेश से प्राप्त होता है। वैश्विक ताप वृद्धि के कारण समुद्री पारिस्थितिकी में परिवर्तन का असर इस उत्पादकता पर पड़ेगा।

हिम जलवायु शोध से पता चलता है कि वैश्विक ताप वृद्धि के कारण समुद्र का उत्पादक क्षेत्र 7 प्रतिशत सिमट कर रह जायेगा। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि समुद्री प्राथमिक उत्पाद में 5 से 10 प्रतिशत तक गिरावट आयेगी। इससे उत्पादन क्षेत्र तथा व्यावसायिक रूप से महत्वपूर्ण मछलियों के स्वाभाविक निवास स्थान में परिवर्तन होगा।

मौसम के अनुसार बर्फ जमने पर संभावित असर : जलवायु में अनुमानित परिवर्तन का असर जल मंडल के क्षेत्रफल तथा आयतन पर पड़ेगा। इनके फैलाव सिकुड़ते जा रहे हैं। इसका असर पेय जल की गुणवत्ता, समुद्री जल के स्तर तथा तटीय क्षेत्र की प्रकृति पर पड़ेगा। इसका असर समाज की गतिविधि तथा अर्थव्यवस्था पर भी पड़ेगा। जल मंडल की जैसी स्थिति होगी असर उतना ही व्यापक होगा। मौसम के हिमपात के क्षेत्र और अवधि पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा। इससे जल मंडल तथा जल संसाधन को क्षति पहुंचेगी।

अनुमानित वैश्विक ताप वृद्धि के कारण हिम तेजी से गलेगा और हिम चट्टानें उत्तर की ओर खिसकेंगी। वैश्विक ताप में 2° सेंटीग्रेट की वृद्धि से जलवायु सीमा के दक्षिणी छोर में परिवर्तन होगा और यह उत्तर–पूर्व की ओर खिसकेगा, जो साइबेरिया में करीब 500-700 मिश्रित प्रभाव पड़ेगा।

वर्ष 2007 में प्रकाशित जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी अंतर सरकारी पैनल की चौथी आकलन रिपोर्ट में पृथ्वी के भविष्य की गंभीर तस्वीर दिखाई गयी है। रिपोर्ट में कहा गया है कि वैश्विक तापन का पृथ्वी की जलवायु पर घातक प्रभाव पड़ सकता है।

प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक समन्वय समिति जिसे जलवायु परिवर्तन पर प्रधानमंत्री की परिषद के नाम से जाना जाता है, का गठन जून, 2007 में जलवायु परिवर्तन के मूल्यांकन, अनुकूलन और शमन के लिये राष्ट्रीय कार्यवाही का समन्वय करने के लिये किया गया। इसके द्वारा यह निर्णय भी लिया गया कि जलवायु परिवर्तन की चुनौती का सामना करने के लिये भारत द्वारा की गयी कार्यवाही के साथ-साथ प्रस्तावित कार्यवाही को शामिल कर एक राष्ट्रीय दस्तावेज तैयार किया जाये, जिसे जलवायु परिवर्तन पर भारत की राष्ट्रीय रिपोर्ट के रूप में तैयार किया जाये।

पृथ्वी सम्मेलन 2002

पृथ्वी की जीवन दायिनी पारिस्थितिकी में भयंकर गिरावट को ध्यान में रखकर धारणीय विकास सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सबर्ग में 26 अगस्त से 4 सितम्बर तक विश्व के नेता एकत्र हुए। इसमें धारणीय विकास हेतु प्रयास करने, भविष्य को समृद्ध बनाने तथा प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए पहल की गयी।

जोहान्सबर्ग सम्मेलन मानव समुदाय को भयंकर त्रासदी से बचाने के लिए एक अवसर था। इनमें जिन मुद्दों पर चर्चा हुई, वे इस प्रकार थीं– विश्व के एक तिहाई लोगों की आमदनी प्रत्येक दिन दो डालर से कम है, जीवाश्म ईंधन का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है, उत्पादन और उपभोग की दोषपूर्ण पद्धति के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अस्वाभिक रूप से क्षय हो रहा है, विश्व के तीन–चौथाई भागों में क्षमता से ज्यादा मत्स्य उत्पादन हो रहा है, पर्वतीय हिमानी पिघलती जा रही है और विगत दशक में वेनेजुएला के क्षेत्रफल से अधिक वन क्षेत्र को नष्ट किया गया है।

अभी तक हुए समझौते

जोहान्सबर्ग सम्मेलन की तैयारी हेतु बाली में हुई बैठक में कार्यान्वयन योजना के लिए मसौदा तैयार की गई थी, इसका तीन-चौथाई स्वीकृत हो गया। जिन मुद्दों पर सहमति नहीं बन पाई उनमें व्यापार-वित्त, तथा नई समय सीमा और लक्ष्य निर्धारण थे। जिन मुद्दों पर सहमति नहीं बन पाई उनमें विकासशील तथा विकसित देशों एवं विभिन्न क्षेत्रों के बीच टकराहट थी।

निम्नलिखित मुद्दों पर विश्व की सरकारों के बीच सहमति है:

- पृथ्वी सम्मेलन में स्वीकृत धारणीय विकास हेतु तैयार की गयी रूपरेखा, जिसे एजेंडा 21 कहते हैं, को कार्यान्वित करने की वचनबद्धता की पुन: घोषणा।
- अधिक से अधिक लोगों को स्वच्छ पेय जल तथा उचित आवास उपलब्ध कराना। वर्तमान में एक करोड़ बीस लाख लोग पेय जल तथा दो करोड़ चालीस लाख लोग सफाई की समस्या से जूझ रहे हैं। वर्ष 2005 तक एकीकृत जल संसाधन प्रबंधन तथा जल क्षमता वृद्धि योजना लागू करने के प्रति सदस्य देशों के बीच सहमति हुई। इससे सार्वजनिक संस्थानों विशेषकर विद्यालयों सहित घर में स्वच्छता में वृद्धि होगी।
- ऐसे करोड़ों लोग हैं, जिन्हें विद्युत ऊर्जा की सुविधा प्राप्त नहीं है, उन्हें यह सुविधा मुहैया कराना चाहिए। ऊर्जा क्षमता की वृद्धि तथा पुनर्दोहन करने लायक ऊर्जा के उपयोग में भागीदारी पर सदस्य देश सहमत थे।
- सभी को मौलिक स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराना लोगों के लिए दवा उपलब्धता में वृद्धि, टीके उपलब्ध कराना, पर्यावरण से होने वाले स्वास्थ्य खतरों को कम करना तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिए पहल करना। सरकारों ने विश्व स्तर पर एड्स, क्षय रोग और मलेरिया को दूर करने तथा गैसोलिन और शीशायुक्त रंग के प्रचलन पर रोक लगाने का संकल्प किया।
- लकड़ी कटाई तथा वन उत्पाद के अवैध व्यापार पर रोक लगाने के

प्रमुख जलवायु सम्मेलन

1. 1972: संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्टाकहोम में पर्यावरण से संबंधित एक सम्मेलन का आयोजन किया। तत्पश्चात् पर्यावरण एक मुद्दा बन गया।
2. जून 1992: रियो-डि-जनेरियो के पृथ्वी सम्मेलन में 100 राष्ट्राध्यक्षों ने शिरकत की और 'टिकाऊ विकास के लिए 'एजेंडा-21' स्वीकृत किया गया।

3. जून 97: संयुक्त राष्ट्र की आम सभा की विशेष बैठक 'पृथ्वी सम्मेलन +5' आयोजित हुई। बैठक में 'एजेंडा-21 को लागू करने संबंधी कार्यक्रम पर आम सहमति बनी।

4. 1999: सिएटल सम्मेलन से 'विश्व व्यापार सम्मेलन' की पर्यावरणीय एवं सामाजिक नीतियां आलोचना के दायरे में आयीं।

5. दिसंबर 2000: संयुक्त राष्ट्र की आमसभा ने निर्णय लिया कि टिकाऊ विकास के मुद्दे पर 2002 में एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जायेगा।

6. अप्रैल 2001: शिखर सम्मेलन के लिए प्रारंभिक समिति की पहली बैठक में प्रक्रिया संबंधी मामलों पर विचार किया गया।

7. सितंबर-नवंबर 2001: 5 क्षेत्रीय प्रारंभिक समितियों की बैठक हुयी, जिसमें प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित पहले दस वर्ष के दौरान 'टिकाऊ विकास' को प्राप्त करने की दिशा में हुई प्रगति और अड़चनों की समीक्षा की गयी।

8. मार्च-अप्रैल 2002: आगे की कार्यवाही पर विचार करने के लिए न्यूयार्क में प्रारंभिक समिति की तीसरी बैठक हुई।

9. मई-जून 2002: इंडोनेशिया में प्रारंभिक समिति की मंत्रीस्तरीय चौथी बैठक हुयी। इसमें शिखर-सम्मेलन के दौरान दुनियां के नेताओं द्वारा बातचीत के दौरान किये जाने वाले मुद्दो पर सहमति हुई।

10. सितंबर 2001: दक्षिण अफ्रीका के जोहांसबर्ग सम्मेलन में निम्न मुद्दों पर सहमति बनी-

   (i) जल, ऊर्जा आदि से संबंधित लक्ष्यबद्ध और समयबद्ध कार्यक्रमों पर सहमति;

   (ii) 2020 तक रसायनों को इस प्रकार तैयार व प्रयोग किया जाएगा, जिससे मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े;

   (iii) 'टिकाऊ ऊर्जा प्रोजेक्ट' में मदद देने संबंधी 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के साथ सहमति बनाना या अमेरिका द्वारा टिकाऊ कृषि पर 900 करोड़ डालर खर्च की घोषणा वर्ष 2003 के लिए करना।

11. 11 जून 2004 : स्टॉकटोम सम्मेलन में 12 खतरनाक जैव कीटनाशक एवं औद्योगिक प्रदूषण पर रोक लगाने का निर्णय लिया गया।

12. 28 नवम्बर-2 दिसम्बर 2006 : मांट्रियल में संयुक्त राष्ट्र का ग्यारहवाँ जलवायु परिवर्तन सम्मेलन हुआ। इसमें एक पर्यावरण कोष बनाने व विकसित तकनीक हस्तांतरण पर सहमति कायम हुई।

13. 30 अप्रैल-4 मई 2007 : थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में सम्पन्न जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने सहमति व्यक्त की कि पृथ्वी के बढ़ते तापमान और जलवायु परिवर्तन से आये संकट को टालने के लिये अगले 50 वर्षों में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 85% तक की भारी कटौती करनी पड़ेगी।

14. 3-14 दिसम्बर 2007 : वर्ष 2009 में ग्लोबल वार्मिंग के विरूद्ध जारी अभियान में सभी देशों को शामिल करने हेतु आम सहमति के उद्देश्य से 3-14 दिसम्बर, 2007 तक इंडोनेशिया के काली द्वीप पर एक महत्वपूर्ण बैठक आयोजित की गई।

15. दिसम्बर 2009 : वर्ष 2009 में डेनमार्क के शहर कोपेनहेगन में जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्मेलन आयोजित किया गया।

16. दिसम्बर 2010 : मैक्सिको के कानकुन शहर में 29 नवम्बर से 10 दिसम्बर, 2010 के मध्य संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन का आयोजन हुआ।

लिए कार्रवाई की मांग की गयी। जैव विविधता को अक्षुण्ण रखने के लिए विकासशील देशों को वित्तीय और तकनीकी मदद देने की भी बात कही गयी।

- विनाशकारी रासायनिक पदार्थों के अवैध व्यापार पर रोक लगाने तथा उनके अंतर्राष्ट्रीय प्रबंधन पर भी सहमति हुई।
- समुद्री संसाधनों तथा जल कृषि के धारणीय विकास के प्रति पारिस्थितिकी अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए समुद्री संसाधनों की सुरक्षा तथा प्रबंध के लिए भी सहमति बनी।

मुख्य समझौते

जोहान्सबर्ग का पृथ्वी सम्मेलन प्रतिरोध और मतभेद के चलते सफल नहीं हो सका। किंतु सम्मेलन के अंत में हुए समझौते पर इसके कारण बाधा उत्पन्न नहीं हुई। दिनांक 4 सितम्बर, 2002 को संयुक्त राष्ट्र के व्यापक योजना पर दुनिया के 200 देशों ने अपनी मुहर लगा दी। योजना में यह बात स्पष्ट की गयी है कि पर्यावरण को क्षति पहुंचाये बिना सरकारें गरीबी को कम करने के लिए प्रयास करेंगी।

वर्ष 2000 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहस्राब्दि सम्मेलन में धारणीय विकास का मूल मंत्र अपनाकर पृथ्वी के संसाधनों को अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखते हुए वर्ष 2015 तक जिन लोगों की आमदनी दो डॉलर से कम है, उनमें से कम से कम आधे के स्तर को ऊपर उठाने का लक्ष्य रखा गया है।

भविष्य की समस्याओं के उन्मूलन हेतु राजनीतिक घोषणा और वास्तविक कार्यान्वनयन का मणिकांचन संयोग होना शेष है।

सहमति के मुख्य बिंदु

- जल/स्वच्छता: स्वास्थ्य की सुविधा जिन्हें नहीं है, उनमें से आधे लोगों को वर्ष 2015 तक स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराया जायेगा। इस लक्ष्य का अमरीका ने विरोध किया। यह लक्ष्य वर्ष 2015 तक आधे लोगों को पेय जल उपलब्ध कराने के लक्ष्य के अनुपूरक है।
- ऊर्जा: अधिक लोगों को कम खर्चे में ऊर्जा आपूर्ति पर सहमति बनी, किंतु सौर्य या पवन ऊर्जा के दोहन के संबंध में सहमति नहीं बन पायी। यूरोपीय संघ लक्ष्य निर्धारित करने के पक्ष में थे, किंतु अमरीका और तेल उत्पादक देश इस पर राजी न हो सका।
- मछली: समुद्र के पारिस्थितिकी तथा गरीब देशों में मछली जैसे भोजन के महत्वपूर्ण साधन को ध्यान में रखते हुए वर्ष 2015 तक मछली के कम हो रहे भंडार को संतुलित करने की वचनबद्धता व्यक्त की गयी।
- रासायनिक पदार्थ: इस बात पर सहमति हो सकी कि वर्ष 2020 तक रासायनिक पदार्थों का उपयोग इस प्रकार किया जाएगा, जिससे मानव और पर्यावरण पर इसके दुष्प्रभाव को न्यूनतम किया जा सके। विनाशकारी अवशिष्ट पदार्थों के सही प्रबंधन पर जोर दिया जाएगा।
- स्वास्थ्य: इस बात पर सहमति हुई कि पेटेन्ट कानून के अनुसार रोक न लगाते हुए विश्व स्वास्थ्य संगठन के समझौते के अनुरूप गरीब देशों

में सभी को दवा उपलब्ध करायी जाये, क्योंकि एड्स जैसे महंगी दवा वे खुद नहीं खरीद सकते।

- महिला: मानव अधिकार तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के बीच तालमेल बिठाते हुए स्वास्थ्य सुविधाएं सभी को उपलब्ध करायी जायें।
- अनुदान: गरीब देश अपने बल पर अपनी विकास आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। इसके लिए विकसित देशों को अपनी आमदनी का 0.7 प्रतिशत गरीब देशों को अनुदान के रूप में देना चाहिए। सन् 1970 में निर्धारित किये गये इस लक्ष्य को सिर्फ 5 देश प्राप्त कर सके।
- वैश्वीकरण: योजना के अंतर्गत यह बात स्पष्ट की गयी कि वैश्वीकरण के लाभ और हानि दोनों हैं। वैश्वीकरण से जहां एक ओर विश्व अर्थव्यवस्था में तेजी तथा लोगों के जीवन स्तर में सुधार आया है, वही गरीब देशों को विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।
- व्यापार: व्यापार तथा पर्यावरण में सुधार आया है, किंतु विश्व व्यापार संगठन के प्रावधान पर्यावरण समझौतों की अनदेखी करते हैं। क्योटो प्रोटोकॉल के भंग होने का खतरा बना रहता है। संपन्न देश व्यापार सब्सिडी को कम करने की अपनी वचनबद्धता दुहरायी।
- जैव विविधता: दुर्लभ प्राणी तथा पादप के नष्ट होने की गति को वर्ष 2010 तक कम करने का लक्ष्य रखा गया है।
- प्रशासन: धारणीय विकास के लिए राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अच्छी सरकार की आवश्यकता है। संपन्न देशों ने भ्रष्टाचार और प्रजातंत्र से अनुदान को जोड़ना चाहिए।
- रणनीति: भविष्य की पीढ़ी के लिए संसाधनों को सुरक्षित रखने के लिए देशों में वर्ष 2005 तक रणनीति बनाने की पहल करने पर सहमति जतायी।
- गरीबी: विश्व के देशों ने सबसे बड़ी समस्या, जिससे गरीबी को दूर करने हेतु आपसी तालमेल पर सहमत हुए। स्वेच्छा से राशि का योगदान किया जा सकता है।
- सावधानी: पृथ्वी के पारिस्थितिकी में क्षति के ठोस सबूत न मिलने पर भी पृथ्वी के पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति वचनबद्धता व्यक्त की गयी।
- संयुक्त किंतु अधिक उत्तरदायित्व: विश्व पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति वचनबद्धता दुहराते हुए देशों ने यह बात दुहरायी कि संपन्न देश अधिक वित्तीय भार उठायेंगे।

रियो के बाद प्रगति

सन् 1992 में रियो में आयोजित पृथ्वी सम्मेलन में 'धारणीय विकास' पद अस्तित्व में आया। इस सम्मेलन में दुनिया के 108 देशों के राष्ट्राध्यक्ष ने भाग लेकर एजेंडा–21 को स्वीकृति दी। एजेंडा–21 धारणीय विकास के लिए कार्ययोजना है। इस पृथ्वी सम्मेलन के बाद निम्नलिखित मुख्य प्रगति हुई:

- सामाजिक विकास: पृथ्वी सम्मेलन के बाद सन् 1994 में मिस्र में जनसंख्या एवं विकास सम्मेलन, सन् 1995 में कोपनहेगन में सम्मेलन, 1995 में बीजिंग में महिला सम्मेलन तथा सन् 1996 में इस्तानबुल में हैबिटैट-11 सम्मेलन के आयोजन हुए। सभी में धारणीय विकास हेतु विशिष्ट क्षेत्रों में एजेंडा-21 लागू करने की बात कही गयी।

  सन् 2000 के सितम्बर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहस्राब्दि सम्मेलन में विश्व के 147 देशों के नेताओं ने एजेंडा–21 लागू करने हेतु समयबद्ध कार्यक्रम अपनाने की मांग दुहरायी।
- वित्त एवं व्यापार: जी ई एफ, विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम तथा यू एन ई पी ने पृथ्वी सम्मेलन के बाद पर्यावरण की समस्या से जूझ रहे विकासशील देशों में पर्यावरण कार्यक्रम अपनाने हेतु बहुउद्देशीय ऋण सुविधा दिलाने की मांग की।
- मार्च 2002 में मोनटेरी, मैक्सिको में आयोजित विकास हेतु वित्तीय सहायता देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें विश्व की सरकारों ने विकासशील देशों को धारणीय विकास हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करने की मांग दुहरायी। दाता देशों ने वर्ष 2006 तक 30 बिलियन डॉलर की अतिरिक्त सहायता देने का वचन दिया।

जलवायु परिवर्तन से ग्रसित 'सुंदरवन डेल्टा'

बंगाल की खाड़ी तट पर स्थित दुनिया का सबसे बड़ा डेल्टा 'सुंदरवन डेल्टा' आज तेजी से जलवायु परिवर्तन का शिकार हो रहा है। यहां पर तापमान में प्रतिवर्ष 0.9 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हो रही है। सुंदरवन में 102 द्वीप हैं और इसके 10,000 वर्ग किमी. पर मैग्रोव का जंगल फैला हुआ है। समुद्री तूफानों तथा तापमान वृद्धि की समस्या से ग्रस्त इस क्षेत्र में पर्यावरणीय खतरे की घंटी बज चुकी है।

जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र का कोपेनहेगन सम्मेलन

डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में विश्व में अब तक का सबसे बड़ा जलवायु परिवर्तन सम्मेलन 'कॉप-15' 7 से 19 दिसम्बर, 2009 को सम्पन्न हुआ। उल्लेखनीय है कि क्योटो संधि की अवधि वर्ष 2012 में समाप्त हो रही है। इसलिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने क्योटो संधि के स्थान पर किसी नये बाध्यकारी समझौते के लिये कॉप-15 का आयोजन किया गया था। इस सम्मेलन में 192 देशों के प्रतिनिधियों ने जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की। इसमें एक सर्वसम्मन बाध्यकारी समझौते पर पहुंचने का प्रयास किया गया, परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली।

कानकुन सम्मेलन

मैक्सिको के कानकुन शहर में 29 नवम्बर से 10 दिसम्बर, 2010 के मध्य जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन आयोजित हुआ। आधिकारिक तौर पर इस सम्मेलन को "संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन पर फ्रेमवर्क कन्वेंशन भागीदारों का 16वां सत्रीय सम्मेलन" नाम दिया गया। कानकुन सम्मेलन में 194 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य जलवायु परिवर्तन पर एक नवीन संधि पर सर्वसम्मति कायम करना, उत्सर्जन की मात्रा तय करना तथा तापमान वृद्धि को पूर्व औद्योगिक काल के तापमान से 2 डिग्री कम तक बनाये रखने पर सहमत होना था।

उपलब्धियाँ

- वर्ष 2020 तक 100 अरब डॉलर एकत्र कर गरीब देशों को दिये जायेंगे ताकि ये देश जलवायु परिवर्तन के नतीजों से निपट सकें।
- इस सम्मेलन में जो व्यापक पटल हये हैं उनमें स्वच्छ ऊर्जा उत्पादन एवं उत्सर्जन प्रौद्योगिकी भागीदारी प्रणाली पर व्यापक समझौता भी है।
- वृक्षों की कटाई रोकने के लिये भी प्रावधान सुनिश्चित किये गये हैं। जलवायु संरक्षण की योजना बनाने वाले देशों की सहायता के लिये विशेष समिति गठित होगी।
- इस बात भी बल दिया गया कि जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित सभी कार्यवाहियों में मानवाधिकारों को संरक्षण प्रदान किया जायेगा।

मौसम संबंधी परिवर्तन

- मौसम संबंधी परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क सम्मेलन विचारार्थ सन्

1992 के पृथ्वी सम्मेलन में रखा गया और इसे 21 मार्च, 1994 को कार्यरूप दिया गया। इस सम्मेलन में 165 हस्ताक्षरकर्ता तथा 186 प्रतिभागी सदस्य हैं। किंतु औद्योगिक राष्ट्र स्वेच्छा से ग्रीन हाऊस गैसों को वर्ष 2000 तक 1990 के स्तर तक कम करने पर सहमत नहीं हुए।

- दिसम्बर, 1997 में क्योटो सम्मेलन में वर्ष 2008-2012 तक छह ग्रीन हाऊस गैसों को सन् 1990 के स्तर से 5 प्रतिशत कम करने के लिए, जो प्रस्ताव पारित हुआ उसे औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्र लागू करने के लिए वैधानिक रूप से बाध्य होंगे। इस पर 84 देशों ने हस्ताक्षर किया और 54 देशों ने अनुमोदित किया। इसे लागू होने के लिए 55 देशों का अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए। औद्योगिक रूप से विकसित केवल दो देशों ने समझौता पर हस्ताक्षर किया।

जैव विविधता : जैव विविधता पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन को हस्ताक्षर हेतु सन् 1992 में पृथ्वी सम्मेलन के दौरान प्रस्तुत किया गया। इसे 183 देशों द्वारा हस्ताक्षर करने पर 29 दिसम्बर, 1993 में लागू किया गया। सम्मेलन के अंतर्गत सदस्य देशों का दायित्व होगा कि निवास स्थल की सुरक्षा एवं अन्य उपायों द्वारा प्राणी और वनस्पति जगत का संरक्षण किया जाये। जनवरी 2000 में निवास स्थल उत्क्रमण को रोकने तथा आधुनिक जैव तकनीकी के सुरक्षित उपयोग हेतु जैव सुरक्षा पर कार्टागेना सम्मेलन का आयोजन हुआ।

मरुभूमि का विस्तार : पृथ्वी सम्मेलन के दौरान मरुभूमि के विस्तार को रोकन हेतु संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन हुआ और इसे दिसम्बर 1996 में लागू किया गया। मरुभूमि के विस्तार अथवा शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों का मरुभूमि में परिवर्तन से 90 करोड़ लोगों की जीविका एवं उनके हेतु खाद्य पदार्थों की आपूर्ति पर असर पड़ेगा, खासकर अफ्रीका में। सम्मेलन में समस्या से निपटने के लिए परस्पर सहयोग पर आधारित दृष्टिकोण विकसित करने की बात कही गयी है। किंतु इसे लागू करने के लिए संसाधनों का अभाव है।

उत्प्रेरक- नया प्रदूषणकारी तत्व: वर्तमान समय में प्लेटिनम वर्ग तत्वों में प्लेटिनम, पेलेडियम, रुवेनियम, ओसमियम, रोहडियम आदि का उपयोग आभूषण, औषधि एवं उद्योग में वृहद् स्तर पर किया जा रहा है। प्लेटिनम एवं पेलेडियम का वृहद् स्तर पर रसायन उद्योग में भी उत्प्रेरक के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्लेटिनम वर्ग के तत्वों खासकर प्लेटिनम, पेलेडियम एवं रोहडियम का उपयोग वर्तमान में स्वचालित वाहन उद्योगों में भी उत्प्रेरक के रूप में किया जा रहा है। वाहनों को स्टार्ट करते समय जिस उत्प्रेरक का प्रयोग किया जाता है उसमें काफी मात्रा में प्लेटिनम वर्ग के तत्वों का वातावरण उत्सर्जन होता है जो मानव स्वास्थ्य के लिए काफी हानिकारक है। वास्तव में इस प्रकार के उत्प्रेरक पी.जी.ई. का विकिरण कर वातावरण में परिवर्तन करते हैं। यह निष्कर्ष निकाला गया कि व्यस्त सड़कों के आस-पास की मिट्टियों में प्लेटिनम की सांद्रता 20 गुना बढ़ गयी है जो उसकी उर्वरा शक्ति को प्रभावित करती है।

विषैला रासायनिक पदार्थ : देश की सीमा से बाहर जाने वाले 40 लाख टन उत्सर्जी पदार्थों को नियंत्रित करने के लिए यू एन ई पी की देखरेख में सन् 1989 में बसेल सम्मेलन का आयोजन किया गया। सन् 1995 में इस सम्मेलन के तहत विकसित राष्ट्रों से विकासशील राष्ट्रों में विषैले रासायनिक उत्सर्जी पदार्थों के आयात को प्रतिबंधित किया गया। सन् 1998 में विनाशकारी रासायनिक पदार्थों तथा कीटनाशकों के आयात संबंधी सूचनाओं के आदान-प्रदान हेतु खाद्य एवं कृषि संगठन तथा यू एन ई पी के तत्वावधान में आयोजित सम्मेलन में 100 देशों ने भाग लिया।

पी सी वी, डाईऑक्सिन और डी डी टी सहित 'डर्ट डोजन' के नाम से प्रसिद्ध 12 हानिकारक रासायनिक पदार्थों के प्रयोग तथा अन्य विनाशकारी जैव रसायन के उपयोग को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के तहत धारणीय विकास पर वर्ष 2001 में स्टॉकहोम सम्मेलन का आयोजन हुआ।

वन : वनों की सुरक्षा हेतु रियो सम्मेलन में स्वीकृत सिद्धांतों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ धारणीय विकास आयोग के तहत अंतर्राष्ट्रीय वन सुरक्षा सम्मेलन के अंतर्गत मार्च 1997 में सौ से अधिक देशों ने भाग लिया। इसे लागू करने तथा इस पर सहमति बनाने के लिए इसे अंतर सरकारी पैनल का रूप दे दिया गया है। इस पैनल के तहत जून 1997 में पांच सत्रों का आयोजन किया गया। वर्ष 2001 में संयुक्त राष्ट्र वन सुरक्षा मंच के प्रथम सत्र में वनों की कटाई को रोकने तथा वनों के विकास हेतु संसाधन जुटाने के लिए प्रस्ताव पर जोर दिया गया।

ओजोन परत में क्षय : ओजोन परत के क्षरण की समस्या पर विश्व भर का ध्यान आकर्षित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने अपने पर्यावरण कार्यक्रमों के अंतर्गत 16 सितंबर का दिन 'विश्व ओजोन दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय लिया है। पृथ्वी सम्मेलन से पूर्व सन् 1987 में ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थों के प्रयोग को प्रतिबंधित करने के संबंध में एक सफल सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस संधि के फलस्वरूप, जहां 1986 में 11 लाख टन क्लोरोफ्लोरो कार्बन का उपयोग होता है, वहीं यह मात्रा घटकर 1987 में 156,000 टन हो गयी। 1995 से 'विश्व ओजोन दिवस' के तहत दुनियां के तमाम देशों से ओजोन को क्षति पहुंचाने वाली 'हैलोन' गैस और क्लोरो फ्लोरो कार्बन का कम से कम उपयोग करने की अपील की जा रही है। ऊपरी वायुमंडल में स्थित ओजोन परत में छिद्र का पता लगते ही 'क्लोरो-फ्लोरो कार्बन' (सी.एफ.सी.) को ओजोन शत्रु का नाम दे दिया गया है। मांट्रियल में 1987 में और लंदन में 1990 में विभिन्न देशों की बैठकों में इसके उत्पादन को पूर्णत: समाप्त करने की समय-सीमा सन् 2000 तक निर्धारित की गयी। लेकिन यूरोपीय समुदाय के देशों द्वारा यह समय सीमा पांच वर्ष और पहले कर दी गयी। लेकिन फिर भी इसके अपेक्षित परिणाम नहीं मिले।

छोटे द्वीप : पृथ्वी सम्मेलन में निर्धारित कार्यक्रम के अनुरूप वर्ष 1994 में छोटे द्वीपीय देशों को ध्यान में रखकर बारबाडोस सम्मेलन का आयोजन हुआ। ये देश अपने आकार और अलग-थलग पड़ी भौगोलिक स्थिति के कारण विकास की दिशा में अवरोध, जलवायु संबंधी परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाओं से सूझ रहे हैं। सौ से अधिक देशों के साथ साझेदारी के रूप में वन समस्याओं से निपटने के लिए अपनी सहमति जतायी। सन् 1999 में संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा में उक्त सम्मेलन के बाद पांच वर्षों में हुई प्रगति की समीक्षा के तहत, इस बात को स्पष्ट किया गया कि जहां ये द्वीपीय देश सम्मेलन के उद्देश्य के अनुरूप कार्य कर रहे हैं, वहीं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय संसाधन जुटाने की अपनी वचनबद्धता पर कायम नहीं हो सका है।

हालांकि विभिन्न स्तरों पर प्रगति हुई है, किंतु पृथ्वी की जलवायु में अभी भी अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। ■■■

7 वैश्विक तापवृद्धि

वैश्विक तापवृद्धि एक अति गंभीर वैश्विक पर्यावरणीय समस्या है। इस घटना के अध्ययन हेतु व्यापक शोध कार्य हुए हैं। नि:संदेह यह एक ज्वलंत मुद्दा है।

सूर्य की किरणें जो पृथ्वी पर पहुंचती हैं, उस विकिरण के तरंग दैर्ध्य की लंबाई 0.58 से 0.69 एंग्स्ट्रॉम तक होती है। इसका एक अंश वायुमंडल तथा पृथ्वी की परतों द्वारा अवशोषित हो जाती है और शेष पृथ्वी की परतों से परावर्तित होकर लौट जाती हैं। परावर्तित विकिरण के तरंग दैर्ध्य की लम्बाई 10 एंग्स्ट्रॉम होती है। जलवाष्प के साथ वायुमंडल में उपस्थित गैसें CO_2, CFC, CH_4, N_2O, इत्यादि इन परावर्तित विकिरण को अवशोषित कर लेती हैं। इससे 'ग्रीन हाऊस' की भांति वायुमंडल गर्म हो जाता है। वस्तुत: ग्रीन हाऊस प्रभाव के कारण ही वायुमंडल का तापमान शून्य से कम नहीं होता। इस घटना के कारण ही वायुमंडल में पर्याप्त तापमान रहने से जीवों का अस्तित्व बना रहता है।

ग्रीन हाऊस के पर्याप्त मात्रा में निकलने के कारण संतुलन बिगड़ गया है और पृथ्वी का तापमान सामान्य से अधिक बढ़ गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुल मिलाकर पृथ्वी का तापमान बढ़ने का क्रम जारी है। अभी तक के आठ सबसे गर्म वर्षों में से सात वर्ष, विगत दस वर्ष के अंदर हुए हैं। वर्तमान में विश्व का औसत तापमान 15^oC है। विगत 130 वर्षों से ग्रीन हाऊस प्रभाव के कारण पृथ्वी के ताप में 0.3^oC से 0.6^oC तक की दर से वृद्धि हुई है। सन् 1901 से 1980 के बीच भारत में 0.5^oC की ताप वृद्धि हुई है। वैश्विक ताप में 1 या 2^oC की वृद्धि विनाशकारी होगी।

वैश्विक तापन से वनस्पतियों में वृद्धि

नासा के द्वारा उपग्रहों से प्राप्त आंकड़ों की सहायता से किये गये एक अध्ययन के पश्चात् यह आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया है कि वैश्विक तापन के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में हरियाली छा रही है। इस अध्ययन के अनुसार 1981 के उपरांत 40^0 उत्तरी अक्षांश के ऊपर पौधों एवं वनस्पतियों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में 1970 के पश्चात् तापमान में 0.8^0 की वृद्धि हुई है। परिणामत: वनस्पतियों के क्षेत्रफल में वृद्धि तो नहीं हुई, परंतु उनके घनत्व में तीव्रता से वृद्धि हुई है।

इस अध्ययन दल ने पत्तों के उगने एवं झड़ने के कारणों तथा वृद्धि मौसम का लंबाई पर प्रभाव का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन के उपरांत यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया गया कि यूरेशिया में पत्तों की वृद्धि का मौसम 18 दिन का होता है, जबकि उत्तरी अमेरिका में यह केवल 12 दिन का ही होता है। वनस्पतियों में यह वृद्धि वैज्ञानिकों द्वारा अच्छी नहीं मानी जा रही है, क्योंकि हरियाली में वृद्धि से कार्बन चक्र तो प्रभावित हो ही सकता है, साथ में पृथ्वी के लिए सभी प्रकार के पौधे भी लाभदायक नहीं हैं।

वर्तमान में ग्लोबल वार्मिंग के फलस्वरूप ऊष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में स्थित दुनिया के सबसे बड़े ग्लेशियर के साथ-साथ रूस, यूरोप, अमेरिका, भारत, न्यूजीलैंड आदि अनेक देशों में भी ग्लेशियर लगातार पिघल रहे हैं। अलास्का का विशाल बोरिंग और कोलंबिया ग्लेशियर पिछली शताब्दी के दौरान 10 किमी. से अधिक सिकुड़ चुके हैं। भारत का गंगोत्री ग्लेशियर भी पिछले कुछ वर्षों से लगातार पीछे खिसक रहा है। इन ग्लेशियरों के पीछे खिसकने की दर 17 मीटर प्रतिवर्ष रही है। वैज्ञानिकों के अनुसार 'पृथ्वी के बढ़ते तापमान के कारण समुद्र के तापमान में भी वृद्धि हुयी है, जिसे समुद्र ने इस एकत्रित ऊष्मा को वापस वातावरण में निष्कासित किया है जिसके कारण अधिक तीव्रता वाले आंधी और तूफानों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुयी है।

नई दिल्ली के आई.आई.टी. स्थित 'वायुमंडल विज्ञान केंद्र' के वैज्ञानिकों के अनुसार भारत में प्रति एक सौ वर्ष में हवा में 0.57 डिग्री सेल्सियस गर्मी बढ़ रही है। इस तरह की गर्मी पूरे भारतीय प्रायद्वीप- पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश और श्रीलंका आदि में विशेष रूप से अधिक गति से बढ़ती देखी गयी है। यूनिवर्सिटी ऑफ मेरीलैंड के 'पर्यावरण विज्ञान केंद्र के द्वारा किये गये अध्ययनों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो गयी है कि ग्लोबल वार्मिंग के फलस्वरूप समुद्र की सतह में एक मिलीमीटर की वृद्धि लगभग डेढ़ मीटर समुद्री तट को लील लेगी। यानी इक्कीसवीं सदी के अंत तक अगर समुद्र एक मीटर बढ़ा तो डेढ़ लाख किमी. समुद्र तट सागर के गर्भ में समा जायेगा। इस प्रकार अमेरिका की मुख्यत: मध्य अटलांटिक और मिसीसिपी खाड़ी के निकट की 36,000 वर्ग किमी. की तटवर्ती जमीन सागर के अंतर्गत आ जाएगी। 'अमेरिका पर्यावरण एजेंसी' के मुताबिक ग्लोबल वार्मिंग के फलस्वरूप 2025 तक वहां मेसाचुसेंटस की 3000 से 4000 हेक्टेयर जमीन समुद्र में डूब जायेगी। कुल मिलाकर अगर औसतन आधा मीटर भी समुद्र उठा तो अमेरिका की तटवर्ती जमीनें डूबने से 20 अरब से 150 अरब डालर तक का नुकसान होगा। ऐसा भी अनुमान लगाया गया है कि एक मीटर समुद्र की सतह बढ़ने से हमारे पड़ोसी देश 'मालद्वीव' के 1196 टापुओं में से, जो अधिकतर समुद्र की सतह से बस दो मीटर ऊपर बसे हैं, उनको समुद्री तूफान डुबो देंगे।

ग्लोबल वार्मिंग के संबंध में 100 से अधिक देशों के वैज्ञानिकों तथा सरकारी प्रतिनिधि मंडलों के इंटर गवर्नमेंटल पैनल द्वारा तैयार नवीनतम रिपोर्ट में कहा गया है कि वर्ष 2080 तक समुद्री जल का स्तर 40 से.मी. तक बढ़ने का अनुमान लगाया गया है, जिससे द.पू. एशिया में 21 करोड़ अफ्रीका में 14 करोड़ तथा शेष विश्व में 3 करोड़ लोग प्रभावित होंगे।

वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस ऑक्साइड तथा क्लोरोफ्लोरोकार्बन की मात्रा में वृद्धि से पृथ्वी के सतह तथा निचले वायुमंडल में तापवृद्धि को ग्रीन हाऊस प्रभाव कहा जाता है। शीशे के पल्ले की तरह इन गैसों से होकर विकिरण तो पृथ्वी पर आ सकता है किंतु वापस नहीं जा सकता है।

यदि प्रमुख ग्रीन हाऊस गैस की मात्रा में वृद्धि की वर्तमान गति कायम रहती है तो आगामी 50 वर्षों में पृथ्वी के तापमान में 1.5^oC से 4.5^oC तक की वृद्धि होगी। इससे वर्षा के क्रम में परिवर्तन, ऋतुचक्र में परिवर्तन, समुद्र के जल स्तर में वृद्धि तथा प्राकृतिक आपदाओं की संख्या में वृद्धि होने की संभावना बढ़ जाएगी।

जलवायु संतुलन कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि जितना ताप सूर्य से प्राप्त होता है उतना ही वायुमंडल में छोड़ा जाए। तथापि परिस्थिति जटिल हो गई है। ताप और मौसम में सतत परिवर्तन हो रहा है। इसलिए यह बहस का मुद्दा है कि कितने मानवीय हस्तक्षेप से वायुमंडल गर्म हो जाएगा। उदाहरणार्थ, एक पक्ष तो यह है कि जो वस्तु जितनी जल्दी गर्म होती है, वह उतनी ही जल्दी ठंडी हो जाती है। इस प्रक्रिया में कितना अतिरिक्त ताप छोड़ा जाता है, यह विवादास्पद है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

वैश्विक तापवृद्धि की निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या की जा सकती है:

चट्टान और समुद्र से विकसित होने वाले ताप का तरंगदैर्ध्य निर्वात में विकसित ताप के तरंगदैर्ध्य से भिन्न होता है। परावर्तित ताप को दीर्घ तरंग विकिरण कहते हैं। इस द्वन्द्व से सामान्य ग्रीन हाऊस प्रभाव उत्पन्न होता है। इसका असर पृथ्वी के जीवन यापन पर पड़ता है। दीर्घ तरंग विकिरण वायुमंडल से बाहर नहीं जा पाता है क्योंकि वायुमंडल में उपस्थित पदार्थ और गैसें इसे अवशोषित कर लेती हैं, इनमें जलवाष्प अर्थात बादल का प्रमुख स्थान है। बादल के पश्चात् अवशोषक तत्व कार्बन डाइऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस ऑक्साइड तथा ओजोन हैं। ये गैस दीर्घ तरंग विकिरण के अवशोषण तथा इनमें होकर लघु तरंग विकिरण के आने से आवर्धित हो जाती हैं। इस प्रकार ताप उनसे बाहर जा नहीं पाता। फलत: ग्रीन हाऊस प्रभाव उत्पन्न होता है।

दीर्घ और लघु तरंग विकिरण के अवशोषण के कारण उत्पन्न ग्रीन हाऊस प्रभाव से पृथ्वी अन्य कारणों की अपेक्षा ज्यादा गर्म होती है। सामान्य धारणा यह है कि पृथ्वी अपने सामान्य तापमान से 33^oC (19^oF) ज्यादा गर्म है। पृथ्वी के तापमान में वृद्धि ग्रीन हाऊस प्रभाव के कारण ही है। सन् 1750 में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के बाद पृथ्वी के तापमान में यह अंतर आया है। अन्यथा स्थिति सामान्य रहने पर भी किसी भी ग्रीन हाऊस गैस की मात्रा में वृद्धि होने से पृथ्वी के तापमान में वृद्धि होगी। इसी वातावरण परितर्वरन के कारण पूर्वी अफ्रीका की टैंगानिका झील की तमाम मछलियों तथा शैवालों को हानि हो रही है। इस झील का तापमान लगभग 1.5 बढ़ गया है।

यद्यपि वर्तमान में हम जानते हैं कि मानवीय गतिविधियों के कारण कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि हुई है तथापि हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भूतकाल में किन कारणों से कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में वास्तविक वृद्धि अथवा कमी हुई।

विश्व में प्रतिदिन सतत व्यापक एवं बहुस्तरीय रसायनिक प्रतिक्रिया होती है जिसके कारण वायुमंडल में गैसों की स्थिति में नियमित रूप से परिवर्तन होता रहता है। यदि यह परिवर्तन संतुलित हो तो घबराने की कोई बात नहीं है किंतु गैसों की स्थिति में परिवर्तन हमेशा असंतुलित रहा है और आगे भी ऐसे ही बने रहने की संभावना है।

ग्रीन हाऊस गैसें

ग्रीन हाउस प्रभाव के लिए जिम्मेवार मुख्य गैस हैं CO_2, CH_4, N_2O, CFC, तथा जलवाष्प। ये विकरित किरणों को अवशोषित कर लेती हैं। फलत: तापमान में वृद्धि होती है।

कार्बन डाईऑक्साइड : यह सिद्ध हो चुका है कि भूगर्भीय भूतकाल में वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की प्रचुर मात्रा थी। सतत ज्वालामुखीय विस्फोट के कारण बहुत सी गैस उत्पन्न हुई। इन गैसों के मिश्रण के कारण वायुमंडल से ताप निकल नहीं पाता था। फलत: पृथ्वी का वायुमंडल हमेशा गर्म रहता था। किंतु जब पृथ्वी पर सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हुई तो ये कार्बन डाईऑक्साइड, सूर्य के किरण तथा नाइट्रोजन का उपयोग करने लगे। वे ऑक्सीजन को वायु मंडल में उत्सर्जित करने लगे। करोड़ों वर्ष के बाद पृथ्वी पर पेड़ उगे। ये पेड़-पौधे कार्बन डाईऑक्साइड लेने लगे। कार्बन डाईऑक्साइड से कार्बन ग्रहण किया जिससे पौधों के तनों-पत्तियों का निर्माण हुआ। इसके बाद हरे भरे जंगल अस्तित्व में आए।

किंतु यह तो व्यापक तथ्य का एक अंग है। कार्बन डाईऑक्साइड का उपयोग प्रकाश संश्लेषण के दौरान किया जाता है। किंतु पौधों के सूखने, काटने, जलाने अथवा पशुओं के द्वारा खाए जाने पर गैस पुन: निष्कासित हो जाते हैं। ऐसी ही प्रक्रिया समुद्रों में भी घटित होती हैं। करोड़ों समुद्री जीव जिन्हें प्लैंकटन के नाम से जाना जाता है वे भी अपने निर्माण व विकास में कार्बन डाईऑक्साइड का उपयोग करते हैं। पृथ्वी के दो तिहाई भाग में स्थित सागर में इनके जन्म, उपयोग तथा मृत्यु अहर्निश होते रहते हैं। संक्षेप में, इस प्रक्रिया में कितनी मात्रा में कार्बन की प्राप्ति या क्षति होती है, यह कहना मुश्किल है। किंतु इतना तो तय है कि जब ये जीव मरते हैं तो कुछ कार्बन वायुमंडल में आ ही जाता है। इन जीवों के शरीर मृत्योपरांत समुद्र की तलहटी पर आ जाते हैं और कार्बन तलहटी के कीचड़ में मिल जाता है। आकलन से पता चलता है कि समुद्र कार्बन डाईऑक्साइड को अवशोषित करने के साथ ही इसका एक तिहाई भाग वायुमंडल में छोड़ देता है।

कार्बन डाईऑक्साइड को ग्रहण कर उसे कार्बन में बदलने की करोड़ों वर्षों से चल रही इस प्रक्रिया के कारण पृथ्वी के वायुमंडल में गैसों की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। यदि वायुमंडल में यह परिवर्तन नहीं हुआ तो आज वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की प्रचुर मात्रा विद्यमान होती जिससे वर्तमान में पृथ्वी का तापमान जितना है उससे 45^oC (113^oF) अधिक होता।

क्योटो प्रोटोकॉल की ओर बढ़ते कदम

एक रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2012 तक यूरोपीय संघ का कार्बन उत्सर्जन व्यवसाय वार्षिक 1.8 बिलियन यूरो होने की संभावना है जो डालर मूल्य में 1.93 बिलियन बैठ रहा है।

यूरोपीय संघ की योजना के अनुसार कारखानों से उत्सर्जित कार्बन डाईक्साइड को नियंत्रित किया जाना है तथा उन्हें यूरोपीय ब्लॉक की अन्य कंपनियों को अपने कार्बन ट्रेडिंग के अधिकार को बेचने की अनुमति दी गयी है। इस प्रक्रिया से कार्पोरेट सेक्टर को लाभ होगा। वे प्रदूषण नियंत्रण की लागत घटाकर अपना अधिकार दूसरे को बेचकर भारी मुनाफा कमाने में सक्षम होंगे। यूरोपीय संघ का मानना है कि क्योटो प्रोटोकॉल के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है। क्योटो प्रोटोकॉल की योजना के तहत यूरोपीय ब्लॉक को नब्बे के दशक की अपेक्षा ग्रीन हाउस गैस के उर्त्सजन में 2012 तक 8 प्रतिशत कमी लाना है।

ज्यों-ज्यों जीवन का विकास हुआ ऑक्सीजन की मात्रा में बढ़ोत्तरी तथा कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में कमी आती गई। मानव सहित प्राणी अपने जीवन के अस्तित्व के लिए ऑक्सीजन लेते हैं और कार्बन डाईऑक्साइड छोड़ते हैं। एक बार जब यह संतुलन प्राप्त किया गया तो विगत शताब्दियों के जैसी जलवायु अस्तित्व में आयी। जब आदमी ने सीधा चलना सीखा तथा वायुमंडल में नाइट्रोजन सबसे अधिक मात्रा में थी। उस समय तक वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा बहुत सीमित हो गई थी और ऑक्सीजन की प्रतिशतता 21 हो गई।

वस्तुत: कार्बन डाईऑक्साइड की वायुमंडल में प्रतिशतता घटकर 0. 03 हो गई। विगत दो सौ वर्षों में इसका आयतन वायुमंडल में दस लाख में 280 भाग के अनुपात में रहा था। ग्रीन हाऊस प्रभाव के बिना इस गैस के कारण वायुमंडल गर्म तो हुआ किंतु इसका ताप असहनीय नहीं हुआ। विगत दो सौ वर्षों में मानवीय गतिविधियों के कारण वायुमंडल के प्रति दस लाख भाग आयतन में कार्बन डाईऑक्साइड का अंश 280 से बढ़कर सन् 1995 तक 360 हो गया। औद्योगिक क्रांति से आजतक इसकी यात्रा में 27% की वृद्धि हुई है। विकासशील देशों में जैसे ही औद्योगिक गतिविधियां बढ़ती हैं वैसे ही उसके वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा बढ़ने लगती है। वर्तमान में प्रति दस लाख में प्रतिवर्ष 3 अंश की वृद्धि होती है।

मिथेन : वायुमंडल में मिथेन की मात्रा बहुत कम है। इसलिए इसका आकलन प्रति दस लाख पर नहीं प्रति सौ करोड़ अंश आयतन पर किया जाता है। प्रति अंश आयतन के हिसाब से वायुमंडल को यह कार्बन डाईऑक्साइड की तुलना में 21 गुना ज्यादा गर्म करता है। विगत दो सौ वर्षों

वैश्विक तापन से वनस्पतियों में वृद्धि

नासा के द्वारा किए गये एक अध्ययन के पश्चात यह तथ्य सामने आया है कि वैश्विक तापन के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में हरियाली छा रही है। इस अध्ययन के अनुसार 1981 के उपरांत 40^0 उत्तरी अक्षांश के ऊपर पौधों एवं वनस्पतियों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में 1970 के पश्चात् तापमान में 0.8^0 की वृद्धि हुई है। इसके परिणामत: वनस्पितियों के क्षेत्रफल में वृद्धि नहीं हुई परन्तु उनके घनत्व में तीव्रता से वृद्धि हुई है। इस अध्ययन दल ने पत्तों के उगने एवं झड़ने के कारणों तथा वृद्धि मौसम की लंबाई पर प्रभाव का भी अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के उपरान्त यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया गया कि यूरेशिया में पत्तों के वृद्धि का मौसम 18 दिन होता है जबकि उत्तरी अमरीका में यह केवल 12 दिन का होता है।

वनस्पितियों की वृद्धि वैज्ञानिकों द्वारा अच्छी नहीं मानी जाती है, क्योंकि हरियाली में वृद्धि से कार्बन चक्र तो प्रभावित हो ही सकता है साथ ही पृथ्वी के लिए सभी प्रकार के पौधे भी लाभदायक नहीं हैं।

CO_2 उत्सर्जन करने वाले प्रमुख देश - 2008

रैंक	देश	वार्षिक CO_2 उत्सर्जन (हजार मीट्रिक टन में)	विश्व में प्रतिशत
1	चीन	7, 031, 916	23.33%
2	अमेरिका	5, 461, 014	18.11%
3	यूरोपीय संघ	4, 177, 817.86	14.04%
4	भारत	1, 742, 698	5.78%
5	रूस	1, 708, 653	5.67%
6	जापान	1, 208, 163	4.01%
7	जर्मनी	7, 86, 660	2.61%
8	कनाडा	5, 44, 091	1.80%
9	ईरान	5, 38, 404	1.79%
10	यूनाइटेड किंगडम	5, 22, 856	1.73%

में कार्बन की मात्रा में जहां 27% की वृद्धि हुई है वहीं मिथेन में 145% की। प्रति सौ करोड़ अंश आयतन में यह 145 से बढ़कर 700 अंश हो गया है। ग्रीन हाऊस प्रभाव बढ़ाने में इसका योगदान 15 से 20% रहा है।

मिथेन की मात्रा में तीव्र वृद्धि के बावजूद वैज्ञानिक कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि की तुलना में इसकी वृद्धि से कम चिंतित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कार्बन डाईऑक्साइड वायुमंडल में दीर्घकाल तक ज्यों का त्यों रहता है। यह 50 से लेकर 200 वर्षों तक अस्तित्व में रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि वायुमंडल में एक बार कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि होती है तो फिर उसे कम करना कठिन हो जाता है। वहीं दूसरी ओर रसायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा मिथेन 12-17 वर्ष में नष्ट हो जाता है। अत: मिथेन से होने वाली संभावित क्षति को कम करना आसान है। मिथेन पर कम ध्यान देने की वजह यह है कि इसकी उत्पादन प्रक्रिया जटिल और इसके उत्पादन को राजनीति इच्छा शक्ति के बावजूद नियंत्रित करना कठिन है।

औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के साथ ही वायुमंडल में मिथेन की मात्रा में वृद्धि होने लगी और जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ इसकी मात्रा में वृद्धि होती गई। यदि मानवीय गतिविधियों के कारण हो रही इस वृद्धि पर अंकुश नहीं लगाया गया तो स्थिति बदतर होती जाएगी।

वैश्विक तापमान से भारत को सबसे ज्यादा खतरा

मई 2002 में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) तथा सेंटर फॉर एटमोस्फियरिक सांइसेज (सीएएस) द्वारा कराए गए अध्ययनों से पता चलता है कि वैश्विक तापमान अर्थात ग्लोबल वार्मिंग का सबसे ज्यादा खराब असर उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों विशेषकर भारत पर पड़ेगा।

'ग्लोबल वार्मिंग' से संबंधित इन अध्ययनों से भयावह स्थिति का खुलासा हुआ कि हिमालय के शिखरों पर जमी बर्फ तेजी से पिघलने लगेगी, बंगाल की खाड़ी और उड़ीसा के तटों पर तूफान का खतरा कई गुणा बढ़ जाएगा। पंजाब एवं हरियाणा जैसे उत्तर भारतीय क्षेत्रों में फसलों की उत्पादकता तो कम होगी ही मानसून कब, कहां और कितना बरसेगा इसका अन्दाजा लगाना मुश्किल हो जाएगा। मौसम छोटे होंगे और सूखे व बाढ़ की मार कहीं अधिक होगी।

सी.ए.एस के प्रख्यात वैज्ञानिक मुरारी लाल के अनुसार ताजा अध्ययनों से साफ संकेत मिले हैं कि तापमान में वृद्धि से समुद्र तल तो ऊंचा होगा ही, तूफान की प्रहारक क्षमता और गति भी 20 फीसदी तक बढ़ जाएगी। इस तरह के तूफान दक्षिण भारतीय तटों के लिए विनाशकारी साबित होंगे।

वैश्विक तापमान के भारत पर असर की एक खास बात यह रहेगी कि तापमान सर्दियों के मौसम में ज्यादा बढ़ेगा। स्पष्ट है कि सर्दियां उतनी कड़क नहीं होगी जितनी की होती है, जबकि गर्मियों व मानसून के मौसम में तापमान में ज्यादा बदलाव नहीं आएगा। मौसम छोटे होते जाएंगे जिसका सीधा असर वनस्पति पर पड़ेगा और कम समय में उगने वाली सब्जियों व फलों को तो पकने का भी पूरा समय नहीं मिल पाया करेगा।

सेंटर फॉर एटमोरकरिक साइंसेज के एक अध्ययन पत्र के अनुसार सन् 2050 तक भारत का धरातलीय तापमान 3 डिग्री सेल्सियस से ज्यादा बढ़ चुका होगा। सर्दियों के दौरान यह उत्तरी व मध्य भारत में 3 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ेगा तो दक्षिण भारत में केवल 2 डिग्री तक। इससे हिमालय के शिखरों से बर्फ पिघलने लगेगी और वहां से निकलने वाली नदियों में जल बहाव तेज हो जाएगा। इस सबका मानसून पर यह असर पड़ेगा कि मध्य भारत में सर्दियों के दौरान वर्षा में 10 से 20 प्रतिशत की कमी आएगी और उत्तरी पश्चिमी भारत में 30 प्रतिशत तक।

सदी के अन्त तक भारत में वर्षा 7 से 10 प्रतिशत बढ़ेगी, लेकिन सर्दियों में यह कम हो जाएगी। पानी कुछ ही दिनों में इतना बरसेगा कि बाढ़ का खतरा आम हो जाएगा। इसका सीधा असर भारत के जल स्रोतों पर पड़ेगा और जल आपूर्ति का संकट और भयावह हो सकता है।

मिथेन की मात्रा में वृद्धि होने के अन्य कारण भी हैं। धान के उत्पादन के कारण मिथेन की मात्रा में वृद्धि होती है। वैज्ञानिक कृषि की नई तकनीक खोजने में व्यस्त हैं जिससे उत्पादन प्रक्रिया में मिथेन की मात्रा को नियंत्रित किया जा सके।

गड्ढों में कूड़ा-कचरा के सड़ने से भी मिथेन उत्पन्न होता है। यह मिथेन निष्कासन तथा जीवाश्म ईंधन जलाने की आवश्यकता को कम करता है। कोयला खान से भी मिथेन निकलता है।

नाइट्रस ऑक्साइड : नाइट्रस ऑक्साइड को लाफिंग गैस भी कहा जाता है। इसका उपयोग बेहोश करने में किया जाता है। यह भी एक ग्रीन हाऊस गैस है। यद्यपि ग्रीन हाऊस प्रभाव में इसकी भूमिका उतनी बड़ी नहीं है फिर भी वायुमंडल में इसका अस्तित्व 120 वर्षों तक रहता है। जहां औद्योगिक क्रांति से पूर्व यह वायुमंडल के आयतन में प्रति सौ करोड़ में 310 था, वहीं आज यह 13% है। परंतु इसके बढ़ने के सही कारण का पता नहीं चल पाया है। लकड़ी तथा अन्य ईंधन का दहन इसके लिए अंशत:

जिम्मेवार है। अमोनिया के उर्वरक उत्पादन में प्रयोग से गैस का बनना भी वायुमंडल में इसकी वृद्धि का कारण है। विभिन्न औद्योगिक प्रक्रियाओं में अम्ल के उत्पादन से भी नाइट्रस ऑक्साइड का निर्माण होता है। इसकी मात्रा को वायुमंडल में रोकने के लिए आधे कृत्रिम स्रोतों को बंद करना होगा। यह मुख्य मुद्दा नहीं है, मुख्य मुद्दा है इसकी मात्रा को कम करने हेतु प्रभावी निर्णय लेने के लिए राजनीतिज्ञों के पास पर्याप्त सूचना का अभाव। भविष्य में यह बात स्पष्ट होगी कि ग्रीन हाऊस प्रभाव में यह गैस कितनी बड़ी भूमिका निभाएगी।

क्लोरोफ्लोरो कार्बन : क्लोरोफ्लोरो कार्बन से ग्रीन हाऊस प्रभाव में वृद्धि एक कृत्रिम घटना है। यह गैस कई कार्यों में प्रयुक्त होता है किंतु इसके विनाशकारी परिणाम अब प्राप्त होने लगे हैं। सन् 1930 में इसके निर्माण से पूर्व यह गैस अस्तित्व में नहीं था। इसके निर्माण के पीछे शुभ उद्देश्य था। उद्योग जगत के लिए यह वर्षों तक लाभकारी रहा किंतु अब इसके घातक परिणाम मिलने लगे हैं।

इसका निर्माण अत्यंत संतुलित, विष रहित अज्वलनशील गैस जिसे दबाव पर द्रवित किया जा सकता है, के रूप में किया गया। इसका उपयोग रेफ्रीजरेटर, एयर कंडिशनिंग और एरोसोल स्प्रे में किया जाता है। घरेलू रेफ्रिजरेटर में इसका प्रयोग सर्वप्रथम वरदान सिद्ध हुआ। विभिन्न प्रयोग के लिए इसके विभिन्न रूपों का निर्माण हुआ। उदाहरणस्वरूप- क्लोरोफ्लोरो कार्बन 11 तथा 12 फोम रबड़ में ब्लोइंग एजेंट के रूप में तथा फर्निचर में पोलिथीन फोम में इसका प्रयोग किया जाता है।

क्लोरोफ्लोरो कार्बन का निर्माण हमारे जीवन को सरल बनाने के लिए किया गया था किंतु वास्तव में इससे मानव जीवन में जटिलता बढ़ी है। स्वास्थ्य और खाद्यान्न उत्पादन पर इसका बुरा असर पड़ा है। इससे ओजोन परत को क्षति पहुंच रही है तथा वैश्विक तापवृद्धि में यह सहायक है। सन् 1974 में पहली बार पता चला कि इससे ओजोन परत को क्षति पहुंची किंतु उस समय यह बात सिर्फ चर्चा तक सीमित थी। सन् 1978 में अमरीका ने एरोसोल में इसके प्रयोग पर पाबंदी लगा दी। किंतु जब सन् 1985 में पहली बार अंटार्कटिका के ऊपर ओजोन परत में छिद्र पाया गया तब असली कार्रवाई शुरू हुई। प्रारंभ में यह विश्वास ही नहीं होता था कि रेफ्रिजरेटर और एरोसोल में प्रयोग किया जाने वाला क्लोरोफ्लोरो कार्बन ओजोन परत को इस हद तक क्षति पहुंचाएगा। ओजोन परत की सुरक्षा अत्यंत आवश्यक है क्योंकि सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों के दुष्प्रभाव से यह हमारी रक्षा करता है।

विज्ञान के इस घटना ने राजनीतिज्ञों को सम्मेलन करने पर विवस कर दिया। यह घोषित किया गया कि ओजोन परत की क्षति से जनजीवन को खतरा है। दोनों ध्रुवों में आजोन परत के अध्ययन से पता चलता है कि प्रत्येक वर्ष ओजोन परत पतला होते जा रहा है। परिणामत: संपूर्ण विश्व में यह परत पतला होते जा रहा है।

विश्व की सरकारों ने सक्रियता दिखाई और सन् 1997 में मांट्रियल समझौते पर हस्ताक्षर हुआ। ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले कारकों की पहचान की गई और उसके स्थान पर ओजोन मित्र गैसों के प्रयोग को बढ़ावा देने की बात कही गई है।

किंतु क्लोरोफ्लोरो कार्बन से पर्यावरण को होने वाली क्षति के कारण वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ दोनों का ध्यान इस ओर गया। यह भी मान लिया गया है कि क्लोरोफ्लोरो कार्बन अपने आप में वैश्विक तापवृद्धि करने वाला गैस है। क्लोरोफ्लोरो कार्बन में उपस्थित क्लोरिन से ओजोन परत की ऊपरी सतह को सबसे अधिक नुकसान होने का खतरा है।

भूमि की सतह पर ओजोन खतरनाक गैस माना जाता है क्योंकि इससे मानव का फेफड़ा प्रभावित होता है तथा वनस्पति जगत के लिए यह विषैला पदार्थ है। इसकी मात्रा में आवश्यकता से अधिक वृद्धि हो रही है। निचले स्तर पर ओजोन के निर्माण में कार्बन मोनो ऑक्साइड और नाइट्रोजन के ऑक्साइड (कार के ईंधन के दहन से), मिथेन तथा अन्य हाइड्रोकार्बन सहायक

वैश्विक ताप वृद्धि पर रिपोर्ट

इसे आप एक चेतावनी के रूप में लें अथवा न लें, किंतु अमरीकी राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि वैश्विक तापवृद्धि से पृथ्वी की जलवायु में भयंकर परिवर्तन होगा। जैसा कि अचानक जलवायु परिवर्तन से आकस्मिक घटनाएं घटित होती हैं। जलवायु के कारकों में अचानक परिवर्तन से समय और मौसम के प्रतिकूल परिवर्तन हो सकते हैं।

जलवायु परिवर्तन पर किए गए प्राय: अध्ययनों में वैश्विक तापवृद्धि जैसी नियमित किंतु धीरे-धीरे घटने वाली घटनाओं को केंद्र बिन्दु बनाया गया। किंतु रिपोर्ट में कहा गया है कि सतत परिवर्तन के स्थान पर अब आकस्मिक परिवर्तन हो रहे हैं। कई स्थानों पर एक दशक के अंदर ही तापमान में $10^{o}C$ का अंतर आ गया है। अटलांटिक महासागर के उत्तरी भागों में तापवृद्धि की आधी से अधिक घटनाएं हुई। फलत: एक दशक के अंदर ही एक हिमयुग जैसा परिवर्तन आया। संपूर्ण विश्व में जलवायु में व्यापक परिवर्तन होने से तापवृद्धि हुई है। उसके बाद वैश्विक तापमान में अपेक्षाकृत कम नाटकीय परिवर्तन हुए हैं। इसके कारण वर्षा, तापवृद्धि तथा तूफान की घटनाओं को प्रभावित करने वाले अल निनो नहीं घटित हुई हैं। विगत दशकों में विश्व में तापवृद्धि से होने वाली समस्याओं को रिपोर्ट में दर्शाया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम: विश्व में तापमान में वृद्धि हो रही है। इससे दुनिया के हिमनदों के पिघलने की संभावना बढ़ गई है। हिमालय के हिमानियों के बर्फ पिघलने से व्यापक बाढ़ आने की संभावना बढ़ जाएगी जिससे हजारों प्राणियों के जान खतरे में पड़ सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ पर्यावरण कार्यक्रम के अघतन रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया है कि वैश्विक तापवृद्धि से न सिर्फ हिमालय की पारिस्थितिकी में परिवर्तन आया है अपितु इससे मानव जीवन भी खतरे में है। इसमें कहा गया है हिमालय के लगभग 50 झीलों का जल स्तर बढ़ जाएगा जिससे आगामी 5-10 वर्षों में निचले भागों में जल बढ़ जाएगा। सन् 1970 के दशक के मध्य से तापमान में $1^{o}C$ बढ़ोत्तरी होने से हिमालय के हिमनद तथा बर्फीले भाग पिघलने लगे हैं और इसके झीलों में जल भर गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर्यावरण कार्यक्रम ने चेतावनी दी है कि यदि समय पर उपाय नहीं किया गया तो जानमाल की व्यापक क्षति होगी और पुल तथा कृषि क्षेत्र नष्ट हो जाएंगे। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि झील में बाढ़ आने की घटना नई नहीं है। सन् 1985 में एक नेपाली झील में बाढ़ आने से 14 पुल टूटे तथा 15 लाख अमरीकी डालर का नुकसान हुआ।

उक्त कार्यक्रम के वैज्ञानिक अंतर्राष्ट्रीय पर्वत विकास केंद्र, काठमांडु के सहयोग से अध्ययन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि नेपाल और भूटान के करीब 44 झीलों में जल इस प्रकार तेजी से भर गए हैं कि बांध टूटने का खतरा मंडरा रहा है।

बाढ़ से पूर्व झीलों से जल निष्कासन हेत धन की आवश्यकता है। निष्कासित जल का उपयोग विद्युत उत्पादन तथा सिंचाई हेतु किया जा सकता है।

यद्यपि तीन झीलों में कार्यक्रम की शुरुआत हो चुकी है तथापि ऐसा अनुमान है कि प्रत्येक झील पर 30 लाख अमरीकी डालर का खर्च आएगा। कार्यक्रम नेपाल और भूटान की सरकारों को लोगों को तुरंत चेतावनी देने वाली प्रणाली विकसित करने हेतु सहायता दे रहा है जिससे लोग बाढ़ के खतरे से समय रहते हुए अपने को बचा सकें।

हैं। सूर्य की किरणों के साथ वाहन व अन्य मानवीय गतिविधियों के कारण उत्सर्जित गैसों से क्षति अधिक पहुंचती है। गर्म दिनों में इसका दुष्प्रभाव और भी घातक होता है।

क्लोरोफ्लोरो कार्बन का दीर्घकाल में वैश्विक तापवृद्धि पर कितना वास्तविक असर पड़ेगा, यह स्पष्ट नहीं है। सर्वप्रथम 1995 में ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थों की मात्रा का वायुमंडल में उत्सर्जन पर रोक लगाया गया जिसका दीर्घकालीन असर परिलक्षित होगा। इन विनाशकारी तत्वों से भूमंडल की रक्षा करने तथा ओजोन परत को सुरक्षित करने में कम से कम पचास वर्ष का समय लग सकता है। किंतु जलवायु परिवर्तन पर इसके असर की समीक्षा बड़ी सावधानी से करनी होगी।

एक उपयोगी पदार्थ को प्रतिबंधित करने में कठिनाई है। क्लोरोफ्लोरो कार्बन कई अर्थों में बहुत उपयोगी है। यदि उसका विकल्प ढूंढ़ लिया जाता है तो उसके भी कई अज्ञात दुष्परिणाम हो सकते हैं।

समस्या के समाधान हेतु निर्माताओं और राजनीतिज्ञों के बीच अभियान चलाने संबंधी कोई विवाद नहीं है। यह एक नई पहल है। पर्यावरणवादी सिर्फ समस्या को गिनाने और इसे तूल देने में दिलचस्पी नहीं दिखा रहे हैं। यह एक अच्छा संकेत है। इससे विश्व को क्लोरोफ्लोरो कार्बन तथा वैश्विक तापवृद्धि के दुष्प्रभाव से बचाया जा सकता है।

मांट्रियल समझौते के तहत क्लोरोफ्लोरो कार्बन के प्रयोग को चरणबद्ध तरीके से कम करने की राजनैतिक उत्तरदायित्व का ही परिणाम है कि ओजोन परत की क्षति को वैश्विक तापवृद्धि से अधिक महत्व दिया गया है। क्लोरोफ्लोरो कार्बन संबंधी समस्या को इसी मंच से उठाया गया न कि जलवायु परिवर्तन सम्मेलन के मंच से। जलवायु के लिए एक खतरा क्लोरोफ्लोरो कार्बन का एक विकल्प HFC है।

अंतर्राष्ट्रीय प्रयास : धरती को *हरित गृह प्रभाव* से उबारने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास शुरू हो गये हैं। परंतु, अभी तक की गयी कार्रवाई की समीक्षा से इसमें ईमानदारी एवं प्रतिबद्धता की कमी साफ झलकती है, जबकि विशेषज्ञों की राय में इन प्रयासों को शुरू करने में काफी देर हो चुकी है। हमें और हमारी धरती को इस देरी का खामियाजा भुगतना पड़ सकता है। *हरित गृह प्रभाव* पर अंकुश लगाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रथम संधि दिसम्बर 1997 में *'क्योटो सम्मेलन'* (जापान) के दौराई हुई। इस संधि पर अब तक 84 देश हस्ताक्षर कर चुके हैं, परन्तु अमेरिकी सीनेट ने इसे अभी तक अपनी मंजूरी नहीं दी है। इस संधि के तहत सन् 2008 से 2012 तक की अवधि में तीन प्रमुख *ग्रीन हाउस गैसों* अर्थात् कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मिथेन (CH_4) तथा नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) के 1990 के उत्सर्जन स्तर में औसतन पांच प्रतिशत कमी लाने का प्रावधान है। यह लक्ष्य प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि विकसित देशों द्वारा ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन पर कड़ी पाबंदी लगायी जाये। यह उनकी नैतिक जिम्मेदारी भी है, क्योंकि औद्योगिक क्रांति के दौरान उन्होंने ही सबसे अधिक कार्बन डाइऑक्साइड वायुमंडल में उत्सर्जित की है।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन पर रोक लगाने के लिए वैकल्पिक गैसों को तैयार करने हेतु धन की भी जरूरत है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वैकल्पिक प्रौद्योगिकी ढूंढ़ने, उसे विकसित करने तथा सभी देशों को मुहैया कराने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र पद्धति पर सन् 1994 में *'ग्लोबल एनवायरमेंट फैसिलिटी'* (G.E.F.) का गठन किया गया। 'जेफ' की आर्थिक सहायता से 120 देशों में 500 से भी अधिक परियोजनाएं चलायी जा रही हैं। भारत में भी 'जेफ' के सहयोग से कई पर्यावरण परियोजनाएं चलायी जा रही हैं। परन्तु, अपने कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए 'जेफ' को जितने धन की जरूरत है, वह इकट्ठा नहीं हो पा रहा है। हथियारों तथा सैनिक साजो-सामान पर बेपनाह खर्च करने वाले देश यह नहीं समझ पा रहे हैं कि देश की रक्षा की तुलना में धरती की रक्षा का उत्तरदायित्व कहीं अधिक जरूरी एवं महत्त्वपूर्ण है।

वैश्विक तापमान से भारत को सबसे ज्यादा खतरा

'ग्लोबल वार्मिंग' से संबंधित इन अध्ययनों से भयावह स्थिति का खुलासा हुआ कि हिमालय के शिखरों पर जमी बर्फ तेजी से पिघलने लगेगी, बंगाल की खाड़ी और उड़ीसा के तटों पर तूफान का खतरा कई गुणा बढ़ जाएगा। पंजाब एवं हरियाणा जैसे उत्तर भारतीय क्षेत्रों में फसलों की उत्पादकता तो कम होगी ही मानसून कब, कहां और कितना बरसेगा इसका अन्दाजा लगाना मुश्किल हो जाएगा। मौसम छोटे होंगे और सूखे व बाढ़ की मार कहीं अधिक होगी।

ताजा अध्ययनों से साफ संकेत मिले हैं कि तापमान में वृद्धि से समुद्र तल तो ऊंचा होगा ही, तूफान की प्रहारक क्षमता और गति भी 20 फीसदी तक बढ़ जाएगी। इस तरह के तूफान दक्षिण भारतीय तटों के लिए विनाशकारी साबित होंगे।

वैश्विक तापमान के भारत पर असर की एक खास बात यह रहेगी कि तापमान सर्दियों के मौसम में ज्यादा बढ़ेगा। स्पष्ट है कि सर्दियां उतनी कड़क नहीं होगी जितनी की होती है, जबकि गर्मियों व मानसून के मौसम में तापमान में ज्यादा बदलाव नहीं आएगा। मौसम छोटे होते जाएंगे जिसका सीधा असर वनस्पति पर पड़ेगा और कम समय में उगने वाली सब्जियों व फलों को तो पकने का भी पूरा समय नहीं मिल पाया करेगा।

मांट्रियल घोषणा

ओजोन परत की क्षति रोकने के लिए दुनिया के देश एकजुट हुए तथा उन्होंने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। इस घोषणा को मांट्रियल घोषणा के रूप में जाना जाता है। इसके तहत ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थों के प्रयोग का चरणबद्ध रूप से बंद करने की बात स्वीकार की गई। घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर 16 सितम्बर, 1987 को की गई। उनको समय-समय पर वैज्ञानिक तथा तकनीकी अनुमान के आधार पर दूर किया जाएगा।

सेंटर फॉर एटमोरकरिक साइंसेज के एक अध्ययन पत्र के अनुसार सन् 2050 तक भारत का धरातलीय तापमान 3 डिग्री सेल्सियस से ज्यादा बढ़ चुका होगा। सर्दियों के दौरान यह उत्तरी व मध्य भारत में 3 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ेगा तो दक्षिण भारत में केवल 2 डिग्री तक। इससे हिमालय के शिखरों से बर्फ पिघलने लगेगी और वहां से निकलने वाली नदियों में जल बहाव तेज हो जाएगा। इस सबका मानसून पर यह असर पड़ेगा कि मध्य भारत में सर्दियों के दौरान वर्षा में 10 से 20 प्रतिशत की कमी आएगी और उत्तरी पश्चिमी भारत में 30 प्रतिशत तक। भारत के 'विज्ञान एवं पर्यावरण' केंद्रों की एक ताजा रिपोर्ट के अनुसार भारत के कई क्षेत्रों में आम के पेड़ों पर बे-मौसम बौर आ जाना, असमय वर्षा और मौसम में अप्रत्याशित परिवर्तन जैसी घटनाएं ग्लोबल वार्मिंग की ही परिचालक हैं।

ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थ	ओजोन परत असर असर पर क्षति से
हाइड्रोजन, CFC, हैलोन्स	त्वचा को खतरा
कार्बन टेट्राक्लोराइड	आंख की बीमारी
मिथाईल क्लोरोफार्म	प्रतिरोधी तंत्र पर असर
हाइड्रोब्रोमोफ्लोरा कार्बन	प्लास्टिक पर दुष्प्रभाव
हाइड्रोक्लोरोफ्लोरो कार्बन	फसल और खाद्यान्न पर असर
ब्रोमो क्लोरो मिथेन	पैटोपैंकटोन पर असर समुद्री अहार शृंखला प्रभावित

सदी के अन्त तक भारत में वर्षा 7 से 10 प्रतिशत बढ़ेगी, लेकिन सर्दियों में यह कम हो जाएगी। पानी कुछ ही दिनों में इतना बरसेगा कि बाढ़ का खतरा आम हो जाएगा। इसका सीधा असर भारत के जल स्रोतों पर पड़ेगा और जल आपूर्ति का संकट और भयावह हो सकता है।

भारत में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन पर पर्यावरण मंत्रालय की रिपोर्ट

केन्द्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय द्वारा 11 मई, 2010 में 'भारत में ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन - 2007' नामक महत्वपूर्ण रिपोर्ट जारी की गई। रिपोर्ट के मुख्य बिन्दु निम्नवत है

- 1994-2007 के दौरान प्रति व्यक्ति उत्सर्जन 1.4 टन से बढ़कर 1. 7 टन हुआ, जबकि वैश्विक औसत 2 टन था।
- 1994-2007 के दौरान देश में ग्रीन हाउस गैसों का शुद्ध उत्सर्जन 12 अरब टन से बढ़कर 17 अरब टन हुआ अर्थात् इसमें 41.66 प्रतिशत की वृद्धि हुई।
- ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के मामले में भारत का अमेरिका, चीन, यूरोपीय संघ और रुस के बाद विश्व में पाँचवाँ स्थान है।
- भारत में ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में सर्वाधिक 58 प्रतिशत हिस्सा ऊर्जा क्षेत्र का, 22 प्रतिशत हिस्सा उद्योग क्षेत्र का, 17 प्रतिशत कृषि क्षेत्र का तथा अपशिष्ट पदार्थों की ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में हिस्सेदारी 3 प्रतिशत थी।
- 2007 में उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैसों में 74 प्रतिशत कार्बनडाई आक्साइड, 22 प्रतिशत मीथेन, और 4 प्रतिशत नाइट्रस आक्साइड का हिस्सा था।
- 2007 में अमेरिका व चीन में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन भारत से चार गुना अधिक था।

ओजोन क्षरण (**Ozone Depletion**)

सूर्य के प्रकाश में दृश्य रंग वाली किरणों के अतिरिक्त कम तरंगदैर्ध्य वाली अदृश्य किरणें भी होती हैं। तरंगदैर्ध्य (Wavelength) का कम होना इन तरंगों में ऊर्जा की अधिकता का परिचायक होता है। दृश्य परिक्षेत्र की किरणों में बैंगनी (Violet) रंग की किरणों की तरंगदैर्ध्य (Y) सबसे कम होती है, और चूंकि अधिक ऊर्जा वाली अदृश्य किरणें इनसे भी कम तरंगदैर्ध्य की होती हैं, अतः इन्हें *पराबैंगनी किरणें* (Ultra-violet Rays) कहते हैं। वायुमंडल के विभिन्न स्तरों (मंडलों) में से *समतापमंडल* (Stratosphere) में स्थित ओजोन गैसों का 20 कि.मी. मोटाई वाला सघन घेरा पूरे मंडल को पृथ्वी की सतह से 40 कि.मी. की ऊंचाई पर घेरे रहता है, जिसके कारण वायुमंडल में प्रवेश करने वाली 'पराबैंगनी किरणें' इसी घेरे में अवशोषित हो जाती हैं।

ओजोन परत के अभाव में अथवा इसके क्षीण होने की स्थिति में यदि पराबैंगनी किरणें पृथ्वी की सतह पर पहुंचेंगी, तो इनकी अत्यधिक ऊर्जा से सर्वत्र व्यापक उष्णता व्याप्त होकर संपूर्ण जीवमंडल (Biosphere) को अनेक विधियों से समाप्त करने की ओर अग्रसर हो जायेंगी। यदि पृथ्वी के तापमान में 3.6°C की वृद्धि हो जाये, तो आर्कटिक एवं अंटार्कटिका के विशाल हिमखंड पिघल जायेंगे और विश्व के प्रायः सभी तटीय नगर, प्रदेश एवं छोटे-छोटे द्वीप समूह इससे डूब जायेंगे। पराबैंगनी किरणों के दुष्परिणामों में शामिल हैं : शरीर की प्रतिरोधक क्षमता का ह्रास होना, त्वचा कैंसर, नेत्र संबंधी रोग, वनस्पतियों की समाप्ति आदि।

सर्वप्रथम 1960 में ओजोन क्षरण की जानकारी प्राप्त हुई तथा 1984 में वैज्ञानिकों ने दक्षिणी ध्रुव के ऊपर 40 कि.मी. व्यास वाले ओजोन छिद्र का पता लागया। 1988 में इस बात के पक्के सबूत मिल गये कि दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के ऊपर ओजोन छिद्र *क्लोरो फ्लोरो कार्बन* (C.F.C.) से उत्पन्न क्लोरीन परमाणुओं के कारण ही हुआ था। अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों के वायुमंडलीय वैज्ञानिकों ने संयुक्त रूप से *'ऑप्स अनुसंधान केन्द्र'* स्थापित करके इसके प्रमुख कारकों अर्थात् क्लोरो फ्लोरो कार्बन, हैलोन गैसें तथा अन्य कार्बन के हैलोजनीकृत गैसों की खोज की। ये सभी कारक रासायनिक रूप से सक्रिय निम्न क्वथनांक (Low Melting Point) वाली गैसें हैं। ये गैसें *मुक्तमूलक शृंखलाबद्ध अभिक्रिया* (Free Radical Chain Reaction) द्वारा ओजोन का अनवरत क्षय करती रहती हैं। मनुष्य के क्रियाकलापों के फलस्वरूप निकलने वाले रसायन ओजोन परत को क्षीण कर रहे हैं। इन रसायनों को ही *'ओजोन क्षरण पदार्थ'* (Ozone Depleting Substance, i.e., O.D.S.) कहते हैं। इन पदार्थों का उपयोग रेफ्रिजरेटरों, शीतलन उपकरणों, स्वास्थ्य उत्पादों, फोम के निर्माण, उद्योगों में सूक्ष्म मार्जन कार्यों, अग्निशमन प्रणालियों आदि में किया जाता है। ओजोन क्षरण मानव निर्मित क्लोरीन एवं ब्रोमीन यौगिकों के कारण ही होता है, जिनमें मुख्य रूप से *सी.एफ.सी.* तथा *हैलोन्स* शामिल हैं।

क्लोरोफ्लोरोकार्बन (C.F.C.) क्लोरीन, फ्लोरीन एवं कार्बन परमाणुओं के यौगिकों का एक संगठन है, जिसका औद्योगिक क्षेत्र में काफी अधिक उपयोग किया जाता है। इसका उपयोग रेफ्रिजरेटरों एयरोसॉल प्रणोदकों, वातानुकूलन संयंत्रों, एयरोस्पेस, इलेक्ट्रॉनिक उद्योग, ऑप्टीकल उद्योगों तथा फार्मेसी उद्योगों में व्यापक रूप से किया जाता है। *सी.एफ.सी.* एक अत्यधिक स्थायी तथा अज्वलनशील गैस है, जो वायुमंडल में लम्बे समय तक रह कर उसकी ऊपरी परत तक पहुंच जाती है, जहां ओजोन गैस रहती है। यहीं सूर्य से प्राप्त पराबैंगनी विकिरण, *सी.एफ.सी.* को तोड़ कर क्लोरीन बना देती है। क्लोरीन का एक परमाणु एक लाख ओजोन परमाणुओं को नष्ट कर सकता है। *सी.एफ.सी.* के अतिरिक्त अन्य क्लोरीन युक्त रसायन, यथा- मिथाइल क्लोरोफॉर्म ($CHCl_3$) कार्बन टेट्राक्लोराइड (CCl_4) आदि भी वायुमंडलीय क्लोरीन की मात्रा बढ़ाते हैं। कुछ *ग्रीन हाउस गैसें*, यथा- कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड, मिथेन आदि भी ओजोन परत को क्षति पहुंचाती हैं।

वैश्विक ताप वृद्धि के परिणाम

पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी पर वैश्विक तापवृद्धि के परिणाम परिलक्षित होने लगे हैं। वैश्विक तापवृद्धि के असर को समुद्री जीवों के जीवन को क्षति, जलवायु/मौसम में अनपेक्षित परिवर्तन, पर्यावरण में ऑक्सीजन की कमी, समुद्र में विषैले पदार्थों की मात्रा में वृद्धि तथा समुद्री पर्यावरण में अल्कीनों के बंधन के पैटर्न में परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है।

वैश्विक तापवृद्धि का एक दुष्परिणाम यह होगा कि समुद्र का जल स्तर बढ़ जाएगा और तटवर्ती क्षेत्र जलमग्न हो जाएगा। ऐसा आकलन है कि वैश्विक स्तर पर प्रतिवर्ष समुद्र के जल स्तर में 1-3 मि.मी. की वृद्धि हो रही है। अनुमानतः इस शताब्दी के अंत तक समुद्र के जल स्तर में 48 सेमी. की वृद्धि होगी। यदि CO_2 के उत्सर्जन की वर्तमान गति यथावत रही तो पृथ्वी का तापमान अगले 500 वर्ष तक बढ़ा रहेगा। पृथ्वी के तापमान में 7^oC की वृद्धि हो जाएगी। उस समय तक समुद्र के जल स्तर में 2 मी. की वृद्धि हो जाएगी। ध्रुवीय प्रदेशों के बर्फ पिघलने से समुद्र का जल स्तर काफी बढ़ जाएगा। समुद्र के जल स्तर में 2 मी. वृद्धि से तात्पर्य यह है कि संपूर्ण बांग्लादेश और मालदीव समुद्र में डूब जाएगा।

वैश्विक तापवृद्धि से पर्यावरण का तापमान बढ़ने के साथ-साथ जल चक्र में भी परिवर्तन आएगा। इससे जलवायु में अनपेक्षित रूप से परिवर्तन हो रहा है। कहीं पर सूखा तो कहीं पर तूफान और घनघोर वर्षा की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

वैश्विक तापवृद्धि से प्रकाश संश्लेषण के दौरान CO_2 के उपयोग से चावल और गेहूं जैसे फसलों के उत्पादन में वृद्धि हो रही है।

वैश्विक तापवृद्धि से कृषि भूमि में आएगी क्योंकि समुद्र के जलस्तर में वृद्धि से कृषि योग्य भूमि डूब जाएगी। तापवृद्धि होने की स्थिति में कीटनाशकों का दुष्प्रभाव कृषि पर व्यापक रूप से पड़ेगा। शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में वैश्विक तापवृद्धि से सूखा के कारण फसल उत्पादन प्रभावित होगा।

ग्रीन हाऊस प्रभाव को कम करने के निम्नलिखित उपाय हैं:

1. वायुमंडल प्रदूषित पदार्थों के उत्सर्जन से वैश्विक तापवृद्धि होती है। मानव वायुमंडल को प्रदूषित करने वाला अपने आप में सबसे बड़ा कारक है। प्रदूषण को रोकने वाला कोई कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक बढ़ रही जनसंख्या को नियंत्रित नहीं किया जाता है। परिवार का आकार छोटा रखने से वैश्विक तापवृद्धि स्वत: नियंत्रित हो जाएगी।
2. वृक्षारोपण करें तथा वृक्षों की देखभाल करें। वृक्ष यदि कम आयु के हैं तथा इनकी वृद्धि दर तेज है तो वे प्रकाश संश्लेषण के दौरान CO_2 तेजी से ग्रहण करते हैं। पेड़ पौधों को जब सुखाया, काटा और जलाया है तो वह जितना कार्बन संग्रह किया था वह वायुमंडल में छोड़ देता है।
3. जलावन की आवश्यकता की पूर्ति हेतु कृषि वानिकी अपनाना चाहिए। खेत की मेड़ों पर छोटे-छोटे पौधे लगाना चाहिए जिससे वायु के कारण होने वाले मिट्टी के अपरदन को रोका जा सकता है। एक ही बार में पेड़ को काटने के स्थान पर उसकी छंटाई करनी चाहिए।
4. धूम्र रहित चूल्हा को उपयोग में लाएं। उससे न सिर्फ धुआं के उत्सर्जन को रोका जाता है अपितु ऊर्जा का सर्वोत्तम दोहन होता है।
5. खाना पकाने, फसल सूखाने तथा पानी गर्म करने के लिए यथासंभव सौर ऊर्जा का उपयोग करना चाहिए।
6. स्थानपन्न कृषि तथा काटने-जलाने की पद्धति को रोकना चाहिए। वर्तमान में अपनायी जा रही वैकल्पिक फसल/कृषि पद्धति न सिर्फ पर्यावरण के अनुकूल है अपितु अत्यंत लाभकारी है।
7. विनष्ट वन क्षेत्र तथा घास के मैदानों को वृक्षारोपण तथा घास लगाने के माध्यम से पुन: हरा भरा बनाना चाहिए।
8. खाद्यान्न की दीर्घकाल तक सुरक्षा हेतु निकट शून्य पेटिका का उपयोग करें, जिसमें क्लोरोफ्लोरो कार्बन का उपयोग न के बराबर हो।
9. ऐरोसोल, बटन दबाकर छिड़काव करने वाले बोतल तथा फोम पैकिंग के प्रयोग बंद करें। एयर कंडिशनर के प्रयोग को प्रभावी रूप से कम करें। इनसे जिन CFC का उत्सर्जन होता है उनका जीवन 75-110 वर्ष का होता है। ग्रीन हाऊस प्रभाव उत्पन्न करने में ये CFC कार्बन डायऑक्साइड से 15000 गुना शक्तिशाली है।

सरकार के प्रयास

1. ऊर्जा संरक्षण को बढ़ावा दिया जाए तथा ऊर्जा का पुनर्दोहन किया जाना चाहिए।
2. ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत के रूप में कम खर्च पर उपलब्ध सौर बैट्री के निर्माण हेतु राशि जुटाना चाहिए।
3. उच्च क्षमता युक्त विद्युत संयंत्रों का निर्माण करना चाहिए न कि निम्न क्षमता युक्त पारंपरिक संयंत्रों का।
4. वृक्षारोपण का व्यापक अभियान प्रारंभ करना चाहिए।
5. पर्यावरण अनुकूल तकनीकी अपनाने के लिए जन जागृति होनी चाहिए।
6. गड्ढे तथा दलदल से मिथेन निकालने वाली तकनीक विकसित करनी चाहिए।

ओजोन परत के क्षरण हेतु उत्तरदायी चार रसायन

नवीन अनुसंधानों में ओजोन परत को हानी पहुंचाने वाले 4 ऐसे रसायनों की पहचान की गयी जिनके संबंध में अब तक यह माना जाता था कि ये ओजोन परत को हानी नहीं पहुंचाते। वे चार रसायन हैं:-एन प्रोपाइल ब्रोमाइड, हेक्साक्लोरोब्यूटाडाइन, हैलोन-1202 तथा ब्रोमो 2 मेथॉक्सी-नेजालीन।

उपरोक्त चार रसायनों में सर्वाधिक हानिकारक रसायन एन. प्रोपाइल ब्रोमाइड रसायन है, जिसे संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण अभिकरण ने ओजोन क्षरणकारी तत्वों जैसे, क्लोरो फ्लोरोकार्बन के विकल्प के रूप में मान्यता प्रदान की थी। अब तक हर रसायनों को प्रमुख ओजेन नाशक माने जाने के साथ ही वैज्ञानिकों का यह अनुमान भी था कि वायुमंडल में 15 दिन से कम समय तक रहने पर ये ओजोन परत तक नहीं पहुंच पाते। परन्तु अब अनुसंधान के पश्चात् निकाले गये निष्कर्षों के आधार पर विशेषज्ञों ने यह चेतावनी दी है कि इन रसायनों को जब उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में उत्सर्जित किया जाता है तो ये कुछ ही दिनों में समतापमंडल तक पहुंच जाते हैं। इसके अतिरिक्त निम्न वायुमंडल में उत्सर्जित किए जाने पर ये रसायन ऐसे उत्पाद उत्पन्न करते है जो ओजोन को हानि पहुंचाने वाले ब्रोमीन से क्रिया कर उन्हें समतापमंडल तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के वैज्ञानिकों द्वारा लगाए गए एक अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष लगभग 10,000 टन प्रोपाइल ब्रोमाइड का निर्माण होता है ।

पी.वी.सी. के उत्पाद में सह-उत्पाद के रूप में प्राप्त किया जाने वाला हेक्साक्लोरोब्यूटाडाइन एक विलायक है। हैलोन-1202 रसायन सेना के वायुयानों व टैंकों में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार 6 ब्रोमों 2 मेथॉक्सी-नेप्थलीन का उपयोग मेथिल ब्रोमाइड (कृषि धूमक) के निर्माण में किया जाता है।

वृक्षारोपण तथा ऊर्जा के पुनर्दोहन करने वाली तकनीकी को अपना समय की मांग है। अनुवांशिकी के अनुरूप फसलों को विकसित करना चाहिए तथा अपने-आप को उस अनुसार बदलना चाहिए। प्रदूषण को भौतिक, जैविक तथा सामाजिक पहलुओं पर वैज्ञानिक मतैक्य विकसित करने के लिए संस्थागत प्रयास की आवश्यकता है। व्यापक जन जागृति का असर राजनैतिक निर्णय पर पड़ेगा।

ओजोन परत

इसमें छिद्र और इसकी सुरक्षा

सामान्य व्यक्ति के लिए ओजोन परत में छिद्र से तात्पर्य वायुमंडल में एक छिद्र से है जो दिनानुदिन बढ़ते जा रहा है। किंतु क्या ओजोन परत में छिद्र हुआ है? यदि ऐसा है तो इससे हमें किस रूप में क्षति पहुंचेगी? क्या यह सिर्फ एक भय है? अथवा, खतरे की घंटी हमारे द्वार पर बज रही है?

वायुमंडल की विभिन्न परतें

हमने ओजोन परत और इसमें छिद्र की चर्चा की है। वायुमंडल के विभिन्न अवयवों की जानकारी आवश्यक है। वायुमंडल में निम्नलिखित क्षेत्र अथवा परत हैं:

- क्षोभमंडल: इस मंडल में ऊंचाई बढ़ने के साथ तापमान में गिरावट आती है। विषुवत रेखा के आसपास यह मंडल 17 किमी. की ऊंचाई तक तथा ध्रुवीय क्षेत्र में 6 से 8 किमी की ऊंचाई तक है। इस मंडल के ऊपरी भाग को क्षोभ सीमा कहते हैं।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- समताप मंडल: यह परत 50 किमी. की ऊंचाई तक स्थित है। इस मंडल में ऊंचाई बढ़ने के साथ-साथ ताप में वृद्धि होती है। ऐसा इस मंडल में ओजोन गैस की उपस्थिति के कारण होता है। इस परत में सूर्य की किरणें अवशोषित हो जाती हैं। इसके ऊपरी भागों में ऊंचाई के साथ तापमान में काफी वृद्धि होती है। इसके ऊपरी भाग को स्ट्रैटोपाज (समताप सीमा) कहते हैं। इस मंडल में 10 से 50 किमी. के बीच ओजोन परत पाया जाता है जिसे ओजोन मंडल कहते हैं।
- मध्य मंडल: यह क्षेत्र 50 से 80 किमी की ऊंचाई तक है। इस मंडल में ऊंचाई के साथ तापमान में तेजी से गिरावट आती है। इसके शीर्षभाग को मेजोपॉज (मध्य सीमा) कहते हैं।
- तापमंडल: इस क्षेत्र में ऊंचाई के साथ सतत तापवृद्धि होती है। न्यूनतम सौर गतिविधि अथवा रात के समय तापमान 500 K तक पहुंच जाता है। इसके ऊपरी भाग को तापमंडल सीमा कहते हैं। इससे ऊपर समताप मंडल है।

वायु मंडल की रसायनिक बनावट की दृष्टि से दो प्रमुख मंडल हैं:

1. सममंडल: इस मंडल की ऊंचाई 100 किमी. है। इसमें ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन गैस का मिश्रण है।
2. विषम मंडल: 100 किमी. से ऊपर का क्षेत्र विषम मंडल है। इसमें ऑक्सीजन परमाणु अवस्था में रहता है। इस क्षेत्र में हिलियम तथा हाइड्रोजन भी पाया जाता है।

ओजोन और इसका निर्माण

ओजोन ऑक्सीजन का एक अपरूप है जिसमें ऑक्सीजन के परमाणु अरेखीय रूप में जुड़े रहते हैं। ओजोन का संकेत 03 है।

ओजोन अणु की बनावट और रसायनिक गुण इस प्रकार के हैं कि ये पराबैंगनी किरणों को आसानी से अवशोषित कर लेते हैं। इस प्रकार सूर्य के लिए यह परदा का काम करता है। इस प्रकार ओजोन कम ऊंचाई पर ऑक्सीजन परमाणु को टूटने से बचाता है तथा पराबैंगनी विकिरण को पृथ्वी की सतह पर पहुंचने से रोकता है। इस प्रकार पृथ्वी के पर्यावरण की सुरक्षा में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। किंतु वायुमंडल के आयतन में इसका अंश 10 लाख में 1 है।

रसायनिक रूप से ओजोन में तीन ऑक्सीजन है। इसका निर्माण लघु तरंग दैर्ध्य के पराबैंगनी किरणों द्वारा वायुमंडल के ऊपरी भाग में स्वाभाविक रूप से होता है। 240 मिमी. से कम के तरंग दैर्ध्य को ऑक्सीजन अणु अवशोषित कर लेता है जिससे ऑक्सीजन के परमाणु विच्छेदित होते हैं। ऑक्सीजन के परमाणु अन्य ऑक्सीजन अणु से मिलकर ओजोन का निर्माण करते हैं।

चरण: (पाराबैंगनी किरणें)

$$O + O_2 \xrightarrow{UVR} O_3$$

O = नवजात अथवा वायुमंडलीय ऑक्सीजन

O_2= आण्विक ऑक्सीजन/ऑक्सीजन अणु

O_3= ओजोन

ओजोन परत सुरक्षा कवच के रूप में

सन् 1995 में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रत्येक वर्ष 16 दिसम्बर को ओजोन परत की सुरक्षा हेतु अंतर्राष्ट्रीय दिवस मनाने की घोषणा की। इस दिन को ओजोन परत की क्षति से होने वाले संभावित दुष्परिणाम के प्रति जनजागृति फैलाने के लिए मनाने की बात कही गई। रेफ्रीजरेटर, एयर कंडिशनिंग, अग्निशमन यंत्रों तथा छिड़काव के यंत्रों में विभिन्न प्रकार के रसायनिक के प्रयोग से ओजोन परत की संभावित क्षति को बचाने के लिए समय रहते हुए प्रयास किया जाना चाहिए। कुछ विकसित तथा विकासशील देशों ने ओजोन परत को नुकसान पहुंचाने वाले रसायनिक पदार्थों के प्रयोग को चरणबद्ध रूप से बंद करने की दिशा में प्रयास प्रारंभ कर दिया है। भारत भी इस दिशा में गंभीरतापूर्वक सोच रहा है। भारत को भी इस दिशा में प्रभावी कार्यक्रम शुरू करना चाहिए।

ओजोन एक दुर्लभ पदार्थ है। वायुमंडल के एक करोड़ अणुओं में सिर्फ 3 अणु ओजोन के हैं। इतनी कम मात्रा के होते हुए भी वायुमंडल में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। ओजोन वायुमंडल के दो परतों में पाया जाता है। 60% ओजोन 8-18 कि.मी. ऊंचाई से लेकर 50 किमी. की ऊंचाई तक पाया जाता है। इस भाग को समताप मंडल कहते हैं। शेष 10% ओजोन वायुमंडल के निचले भागों में रहता है। यह क्षोभ मंडल में पाया जाता है। यह मोटरवाहनों के ईंधन के दहन से निकला हानिकारक प्रदूषित पदार्थ है। वायुमंडल के इन दोनों मंडलों में अवस्थित ओजोन एक ही प्रकार के हैं किंतु मानव तथा तथा अन्य जीव जंतुओं पर उनके प्रभाव में अंतर है।

समताप मंडल के ओजोन सूर्य की पराबैंगनी किरणों से हमारी रक्षा करते हैं। इसके कारण पराबैंगनी किरणों का बहुत कम अंश पृथ्वी तक पहुंच पाता है। इसी परत में पराबैंगनी किरणें अवशोषित हो जाती है। यदि ये किरणें अवशोषित नहीं हों तो ये पृथ्वी पर पहुंच कर जीवन को नष्ट कर देंगी।

ओजोन परत क्षय के कारण

सन् 1980 के दशक में वैज्ञानिकों ने ओजोन परत के क्षय का प्रमाण प्रस्तुत किया। यह एक व्यापक वैज्ञानिक और लोकरूचि का मुद्दा बन गया है। पृथ्वी और उपग्रह से लिए गए आंकड़ों के आधार पर ओजोन में हो रहे क्षय की बात पुष्ट हुई है। अंटार्कटिक वसंत के दौरान अंटार्कटिका के ऊपर के 60% भाग पर ओजोन परत नष्ट हो गया। इस घटना को अंटार्कटिक ओजोन छिद्र के नाम से जाना जाता है।

वैज्ञानिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि मानव के द्वारा प्रयोग किए गए रसायनिक पदार्थों से ओजोन परत को क्षति पहुंच रही है। क्लोरिन, फ्लोरिन, ब्रोमिन, कार्बन तथा हाइड्रोजन से निर्मित यौगिक तथा हाइड्रो कार्बन के प्रयोग से ओजोन परत पर असर पड़ता है। क्लोरिन, फ्लोरिन तथा कार्बन से निर्मित पदार्थ को संक्षेप में क्लोरोफ्लोरो कार्बन (CFC) कहते हैं। इन पदार्थों को ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थ कहते हैं। कार्बन टेट्राक्लोराइड तथा मिथाईल क्लोराईड मानव के द्वारा उत्पन्न पदार्थ ओजोन परत को नुकसान पहुंचाने वाले सबसे खतरनाक पदार्थों में से एक हैं। रेफ्रीजरेटर, एयर कंडिशनिंग, फोम लोइंग में इन पदार्थों का प्रयोग होता है। मानव निर्मित हाइड्रोकार्बन तथा अग्निशामक में प्रयुक्त कार्बन, ब्रोमिन तथा फ्लोरिन से ओजोन परत को क्षति पहुंचती है।

ओजोन परत क्षय का पर्यावरण पर असर

विगत दशकों में हुए ओजोन परत में क्षति से सूर्य की पराबैंगनी किरणों का दुष्प्रभाव पृथ्वी पर परिलक्षित हुआ है। इसका असर मानव, सूक्ष्म प्राणी, पेड़ पौधे सहित संपूर्ण पारिस्थितिकी पर पड़ा है। इस संबंध में मुख्य नीतिगत मुद्दा यह है कि इसका सबसे भयंकर दुष्परिणाम क्या पड़ेगा और उसका सामना कैसे किया जाएगा। कई स्थानों पर ओजोन परत एकदम नष्ट हो गया है। जिससे सूर्य की सबसे सशक्त किरणें पराबैंगनी किरणें उन स्थानों पर पहुंचने लगी हैं (290-315 मि.मी. तक)। इसका दुष्प्रभाव मानव के स्वास्थ्य, पशु, वनस्पति, सूक्ष्मजीव तथा वायु पर पड़ा है। पराबैंगनी विकिरण को बढ़ाने वाली गतिविधियों से मानव समुदाय को व्यापक क्षति पहुंचने की संभावना है।

पराबैंगनी किरणों में परिवर्तन

अधुनातन यंत्रों से पराबैंगनी किरणों का सही मापन संभव हो सका है। दीर्घकालीन रुझानों का पता लगाना अभी भी समस्या है। आगे आकलन के लिए कुछ ऐतिहासिक आंकड़े मददगार सिद्ध हो सकते हैं।

पृथ्वी के वायुमंडल में पराबैंगनी किरणों का प्रवेश ओजोन परत में क्षति होने से होता है। आंकड़े बताते हैं कि ग्रीष्म सूर्यातप से पहले पराबैंगनी किरणों की पर्याप्त मात्रा दक्षिण ध्रुव तक पहुंच जाती है।

अर्जेंटिना, न्यूजीलैंड, चिली और आस्ट्रेलिया के ऊपर ओजोन परत की क्षति अन्य उत्तरी गोलार्द्ध के क्षेत्रों की तुलना में अधिक है। क्षोभमंडल में ओजोन प्रदूषक का कार्य करते हैं। क्षोभमंडल में पराबैंगनी किरणों से नुकसान तो है ही तथापि समताप मंडल में ओजोन परत की क्षति से सर्वाधिक नुकसान होने की संभावना है।

मानव स्वास्थ्य पर इसका असर

पराबैंगनी किरणों से मानव स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है। इससे आंख की बीमारी, त्वचा कैंसर तथा संक्रामक रोग फैलते हैं। इन रोगों में प्रदूषण के कारण और भी वृद्धि हो रही है। मानव त्वचा में एक प्रतिरोधी तंत्र होता है जो पराबैंगनी किरणों से त्वचा की रक्षा करता है। त्वचा पर अत्यधिक पराबैंगनी किरणें टकराने से त्वचा की प्रतिरोधी क्षमता नष्ट हो जाती है। फलतः त्वचा कैंसर तथा कई संक्रामक बीमारियां फैलती हैं।

पृथ्वी की वनस्पति पर इसका असर

पराबैंगनी किरणों का असर वनस्पति जगत पर पड़ता है। पौधों में इन किरणों के दुष्प्रभाव को शमन करने की क्षमता है। किंतु इसका सीधा दुष्प्रभाव पोधों के विकास पर नहीं पड़ता है।

जैव भू-रसायनिक चक्र पर इसका असर

सौर पराबैंगनी विकिरण का असर जैव भू-रसायनिक चक्र पर पड़ेगा। इसके कारण CO_2, CO तथा CO_5 की वायुमंडल में मात्रा पर असर पड़ेगा। इससे वायुमंडल में विभिन्न गैसों की स्थिति प्रभावित होगी।

इसका असर उत्पादन तथा पौधों के नष्ट होने की प्रक्रिया पर भी पड़ेगा। प्रारंभ में कुल उत्पादन कम हो जाएगा किंतु कई प्रजातियों के उत्पादन बढ़ जाएंगे, CO की मात्रा में बढ़ोत्तरी होगी।

वायु की स्वच्छता पर असर

पृथ्वी की सतह पर पराबैंगनी किरणों के अत्यधिक पहुंचने से ओजोन का निर्माण और विनाश दोनों अधिक होगा। इससे वायुमंडल हाइड्रोजन पैरोक्साइड (H_2O_2) की मात्रा बढ़ जाएगी जो मनुष्य के स्वास्थ्य, वनस्पति जगत तथा अन्य पदार्थों के लिए खतरनाक है। इससे वायुमंडल में हाइड्रोक्सील रेडिकल (OH) की मात्रा बढ़ जाएगी। जलवायु के लिए महत्वपूर्ण मिथेन तथा क्लोरो फ्लोरोकार्बन का जीवनकाल बढ़ जाएगा। क्षोभ मंडल में इससे विभिन्न प्रकार का रसायनिक परिवर्तन होगा। इससे जलवायु में परिवर्तन की संभावना बढ़ जाएगी।

अंतर्राष्ट्रीय प्रयास : आज विश्व के वैज्ञानिकों के समक्ष ओजोन परत के क्षरण की गंभीर समस्या है। यह समस्या विभिन्न पारिस्थितिकीय असंतुलनों द्वारा पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुंचा रही है। ओजोन परत के क्षरण की समस्या पर विश्वभर का ध्यान आकर्षित करने के लिए *संयुक्तराष्ट्र* ने अपने पर्यावरण कार्यक्रमों के अंतर्गत *16 दिसम्बर*का दिन *'विश्वओजोनदिवस'* के रूप में मनाने का निर्णय लिया है। 1995 से प्रारंभ किये गये इस कार्यक्रम के तहत विश्व के तमाम देशों से ओजोन को क्षति पहुंचाने वाली हैलोन गैस तथा सी.एफ.सी. का कम से कम उपयोग करने की अपील की जा रही है।

ओजोन क्षरण की प्रक्रिया को रोकने के लिए सर्वप्रथम प्रयास *संयुक्त राष्ट्रपर्यावरणकार्यक्रम*(U.N.E.P.) के तत्वावधान में वर्ष 1985 में *वियना सम्मेलन* (आस्ट्रिया) के आयोजन द्वारा हुआ तथा 1987 में *मांट्रियल* (कनाडा) में सी.एफ.सी. के उत्पादन एवं खपत में अगले दस वर्षों में पर्याप्त कटौती करने और हैलोन गैसों की खपत को समाप्त करने के उद्देश्य से 48 देशों ने एक समझौता किया। यह समझौता 1 जनवरी, 1989 से लागू हो गया।

मांट्रियलप्रोटोकॉल(Montreal Protocol) के नाम से मशहूर इस संधि के मुताबिक सभी देशों को ओजोन को नुकसान पहुंचाने वाली सर्वप्रमुख गैस (सी.एफ.सी.) का उत्पादन एवं उपयोग अब तक बंद कर देना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया जा सका है। अमेरिकी रवैये के कारण इस संधि को लागू करने में एक बड़ी समस्या धन की कमी भी है। *मांट्रियलप्रोटोकॉल* में कई ऐसे प्रावधान थे, जो विकासशील देशों की पूर्णतः उपेक्षा करते हुए मात्र विकसित देशों के निहित स्वार्थों को साधने वाले थे। यही कारण है कि इस प्रसंविदा (Protocol) का व्यापक स्तर पर विरोध किया गया। वर्ष 1990 में आयोजित *लंदनसम्मेलन* के दौरान विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के हितों का ध्यान रखते हुए *मांट्रियलप्रसंविदा*को परिवर्तित कर यह उपबंधित किया गया कि विकसित देश, विकासशील देशों को सी.एफ.सी. एवं हैलोन्स के उत्पादन को समाप्त करने हेतु आवश्यक तकनीक एवं धन उपलब्ध करायेंगे।

*लंदनसम्मेलन*के बाद वर्ष 1992 में *कोपेनहेगनसम्मेलन*(डेनमार्क) का आयोजन किया गया, जिसमें निम्नलिखित प्रमुख निर्णय लिये गये:

- 1996 के ओजोन क्षरण पदार्थों की खपत को 100% मानते हुए भारत सरकार आगामी 8 वर्ष में (अर्थात् वर्ष 2000 तक) इसकी खपत को समाप्त करके ओजोन मैत्रीकारक पदार्थों (O.F.S.) में परिवर्तित कर देगी।
- मांट्रियल बहुद्देशीय कोष को 240 मिलियन डॉलर से बढ़ा कर 500 मिलियन डॉलर कर दिया जायेगा।
- कई अन्य खतरनाक यौगिकों के उत्पादन एवं उपयोग पर भी प्रतिबंध लगाये जायेंगे।
- जब तक प्रौद्योगिकी स्थानांतरण की व्यवस्था नहीं हो जाती है, तब तक दक्षिणी देशों को ओजोन क्षरण पदार्थों (O.D.S.) का उपयोग अथवा उत्पादन समाप्त करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन, रियो शिखर सम्मेलन, पृथ्वी शिखर सम्मेलन के रुप में जाना जाता है। यह सम्मेलन वर्ष 1992 में रियो डि जेनेरियो (ब्राजील) में हुआ था। इस सम्मेलन में पर्यावरण की रक्षा, जलवायु परिवर्तन तथा ग्रीन हाउस प्रभाव के बढ़ते स्तर की जाँच के लिये सहमति बनी, जिसे यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कन्वेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज (UNFCC) कहते हैं।

क्योटो प्रोटोकॉल, पर्यावरण परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में क्योटो (जापान) में वर्ष 1997 में आयेजित किया गया था। इस प्रोटोकॉल के अनुसार औद्योगीकृत देशों को 2008-12 तक 5.2% ग्रीन हाउस गैस कटौती करते हुये इसे 1990 के स्तर तक लाना था। क्योटो प्रोटोकॉल 16 दिसम्बर, 2005 को अस्तित्व में आया।

बाली सम्मेलन का आयोजन इंडोनेशिया के एक द्वीप बाली पर वर्ष 2007 में किया गया। इस सम्मेलन का उद्देश्य एक ऐसी योजना तैयार करना था जो वर्ष 2012 में समाप्त हो रहे क्योटो प्रोटोकॉल का स्थान ले। इस सम्मेलन में बाली रोड मैप तैयार किया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

बाली रोड मैप पर चर्चा के लिये डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में कोप-15 सम्मेलन का आयोजन वर्ष 2009 में किया गया था। परंतु यह सम्मेलन बिना किसी बाध्यकारी समझौते के समाप्त हो गया।

पर्यावरण परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में वर्ष 2010 में मैक्सिको के नगर कानकुन में 'कोप-16' सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में भी बाध्यकारी समझौते को लेकर विकसित व विकासशील देशों में विवाद हो गया। परंतु बेसिक (BASIC) देशों (ब्राजील, द अफ्रीका, भारत, चीन) के लचीले रुख के कारण सहमति बनीं।

लेकिन इतना कुछ होने के बावजूद यह एक चिंतनीय विषय है कि ओजोन परत को नष्ट करने वाले हानिकारक रसायनों के प्रयोग को कम करने की दिशा में अभी तक वांछित परिणाम नहीं प्राप्त हो सके हैं। यद्यपि विश्व समुदाय इस आपदा से बचाव हेतु एकमत दिख रहा है, परन्तु अभी भी इसके ठोस परिणाम सामने नहीं आ सके हैं।

भारत की स्थिति : *मांट्रियलप्रसंविदा*में अनेक तरह की विसंगतियां रहने के बावजूद जून 1992 *कोपेनहेगनसम्मेलन* के दौरान भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिया। भारत में आज से एक दशक पूर्व ओजोन परत का क्षरण 6 प्रतिशत हुआ था, जो कि वर्तमान में करीब 8 प्रतिशत तक पहुंच गया है। वैज्ञानिक अध्ययनों से इस बात का पता चलता है कि भारत के ऊपर ओजोन क्षरण की स्थिति भयावह नहीं बन सकी है। लेकिन इस स्थिति के बावजूद दक्षिण भारत के तटीय क्षेत्रों में गर्मी के दौरान पराबैंगनी किरणें काफी अधिक पड़ रही हैं, जो ओजोन क्षरण की घटना की ओर संकेत देती हैं। भारत ने सितम्बर 1992 में मांट्रियल समझौते में तय समय-सीमा से चार वर्ष पूर्व ही ओजोन का क्षरण करने वाले पदार्थों का चरणबद्ध रूप से उन्मूलन प्रारंभ कर दिया। सरकार द्वारा एक विशेष *ओजोन कक्ष* (Ozone Chamber) की स्थापना की गयी है, जिसका अध्यक्ष *पर्यावरणएवंवनमंत्रालयकेउपसचिव* को बनाया गया है। इस 'ओजोन कक्ष' का मुख्य कार्य ओजोन परत को नुकसान पहुंचाने वाले पदार्थों का चरणबद्ध ढंग से उन्मूलन करने के लिए अभियान चलाना है।

मांट्रियलसमझौते(1987) के तहत निर्धारित 20 ओजोन क्षरण पदार्थों (O.D.S.) में से सिर्फ सात का उत्पादन एवं उपयोग भारत में किया जाता है। भारत में छह उद्योग ऐसे हैं, जिनमें ऐसे पदार्थों का उत्पादन होता है। देश में उत्पादित कुल सी.एफ.सी. वर्ग के रसायनों में दो तिहाई का प्रयोग लघु उद्योग द्वारा ही किया जाता है। *पर्यावरणएवंवनमंत्रालय*ने नयी एयरोसॉल इकाइयों को, जो ओजोन-भक्षी पदार्थों का इस्तेमाल कर सकती हैं, प्रतिबंधित कर दिया है। मांट्रियल समझौते की शर्तों के पालन हेतु मई 1991 में एक *कार्यदल*(Task Force) का गठन किया गया, जिसके अंतर्गत गठित तीन उप-समितियों (Sub-Committees) ने अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश कर दी। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार द्वारा *ओजोनकक्ष*की स्थापना की गयी तथा ओजोन से संबंधित राष्ट्रीय कार्यक्रम (National Programme) को अगस्त 1993 में अंतिम रूप प्रदान किया गया।

ओजोन का एक खतरनाक पहलू : *समतापमंडल*(Stratosphere) में मौजूद ओजोन जहां पृथ्वी के जीवधारियों के लिए रक्षा कवच का कार्य करती है, वहीं दूसरी ओर *क्षोभमंडल*(Troposphere) में इसकी जरा-सी भी मौजूदगी काफी खतरनाक साबित हो सकती है। इसका अत्यल्प भाग भी यदि सांस के साथ अंदर चला जाये, तो यह जहर की तरह कार्य करती है। पृथ्वी की सतह के पास के वायुमंडल में ओजोन की उपस्थिति *प्रकाश-रासायनिक कोहरे* (Photo-Chemical Fog) तथा *अम्ल वर्षा* (Acid Rain) का कारण बन सकती है। ओजोन की अत्यधिक सांद्रता (Concentration) के कारण पौधों की पैदावार में कमी तथा उपज की गुणवत्ता में गिरावट आ सकती है। अनुसंधानों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि ओजोन की अत्यल्प मात्रा भी पशुओं में विकिरण जैसा कुप्रभाव उत्पन्न कर सकती है। इससे जीन के स्तर पर परिवर्तन तथा आयु में आने वाली कमी से भी इंकार नहीं किया जा सकता है।

ओजोन सांद्रता की इकाई : दूर संवेदी उपकरणों (Remote Sensing Appliances) तथा *डॉबसन स्पेक्ट्रो-फोटोमीटर* (Dobson Spectro-Photometer) की सहायता से ओजोन (O_3) की वायुमंडल में सांद्रता ज्ञात की जाती है। ओजोन की सांद्रता की इकाई 'डॉबसन' (Dobson) है। वस्तुतः यह इकाई वातावरण में मौजूद ओजोन की वास्तविक सांद्रता को निरूपित करती है। पिछले 20 वर्षों के अनुसंधानों के दौरान वैज्ञानिकों ने यह पाया है कि अंटार्कटिका के ऊपर समतापमंडल स्थित ओजोन की सांद्रता में प्रत्येक बसंत ऋतु में अत्यधिक कमी हो जाती है। वर्ष 1957-64 के दौरान ओजोन की औसत सांद्रता 320 डॉबसन थी, जो अभी करीब 190 डॉबसन ही है। पृथ्वी के उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धों में भी कई स्थानों पर ऐसी कमी महसूस की गयी है। अभी ओजोन की सांद्रता में प्रतिवर्ष औसतन एक प्रतिशत की कमी आ रही है।

अम्ल वर्षा

वातावरण में उपस्थित कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2), नाइट्रोजन ऑक्साइड (NO_x) आदि द्वारा प्रदूषण उत्पन्न होने के कारण घटने वाली वातावरणीय घटना को *'अम्लवर्षा'* (Acid Rain) कहते हैं। विभिन्न स्रोतों, यथा- उद्योग, मोटर वाहन आदि से निकलने वाले ये ऑक्साइड वायुमंडलीय नमी से मिलकर अम्ल बनाते हैं, जो वर्षा के रूप में फसलों, पेड़-पौधों, मछलियों तथा मकानों एवं स्मारकों को भारी क्षति पहुंचाते हैं। कुछ समय पहले तक ऐसा माना जा रहा था कि यह दरअसल एक ऐसी घटना है, जो आर्द्र तनु अम्लों (Wet Dilute Acids) के जमाव से उत्पन्न होती है। लेकिन आधुनिक शोधों से यह बात अब स्पष्ट-सी हो गयी है कि जब अम्लीय गैसें (Acidic Gases) वातावरण से होकर गुजरती हैं, तो कई तरह के रासायनिक परिवर्तन एक साथ घटित होते हैं। सल्फर, नाइट्रोजन एवं कार्बन के ऑक्साइड (Oxides), जिन्हें *'अम्लीयगैस'* कहा जाता है, का निस्सरण कोयले के जलने तथा पेट्रोलियम उत्पादों के उपयोग से वातावरण में मिल जाते हैं और वे गसीय अवस्था अथवा एयरोसॉल (Airosol) के रूप में वायुमंडल के निचले भाग में जमने लगती हैं। यही जमाव *'शुष्कजमाव'* (Dry Deposits) कहलाता है। इस प्रकार, मुख्यतः उद्योगों एवं यातायात के उपकरणों से निस्सृत कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) तथा सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2) जैसी गैसें वायुमंडल में स्थित जलवाष्प से प्रतिक्रिया करके सल्फ्यूरिक तथा नाइट्रिक अम्ल बनाते हैं और ओस (Dew) अथवा वर्षा की बूंदों (Rain-drops) के रूप में पृथ्वी पर गिरने लगती हैं। यही *'अम्लवर्षा'* कहलाती है, जो पृथ्वी के समस्त प्राणी समुदायों के लिए काफी घातक सिद्ध होती है। ऐसा स्कैंडिनेवियाई तथा खाड़ी देशों में अक्सर देखने को मिलता है।

'अम्ल वर्षा' वस्तुतः विभिन्न रासायनिक घटकों (Chemical Components) का एक अनोखा मिश्रण है। प्रदूषित गैसें, जैसे- सल्फर, नाइट्रोजन एवं कार्बन के ऑक्साइड, वातावरण के अन्य उत्पाद बनाते हैं, जो समय एवं दूरी के अनुरूप बदलते रहते हैं। इनमें मुख्य अवयव सल्फ्यूरिक अम्ल (70%) तथा नाइट्रिक अम्ल (29%) होते हैं। इनके अलावा, अमोनिया, हाइड्रोजन क्लोराइड, अल्केन्स, पॉलीक्लोरिनेटेड एल्डिहाइड, इस्टर, हाइड्रोजन, आदि भी अम्ल वर्षा के अन्य घटक होते हैं। अतः यह एक *द्वितीयक प्रदूषक*(Secondary Pollutant) होने के साथ-साथ एक *संचितप्रदूषक* (Accumulative Pollutant) भी है। इस संपूर्ण प्रक्रिया में ओजोन गैस (O_3) एक प्रकाश ऑक्सीकारक (Photo-oxidant) के रूप में उत्प्रेरक (Catalyst) की भूमिका का निर्वहन करती है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

अम्ल वर्षा के प्रभाव : *अम्लवर्षा*ने मानव तथा उसकी पारिस्थितिकी (Ecology), पादप समुदाय, जल संपदा तथा वन संपदा पर कई तरह के विनाशकारी प्रभाव डाले हैं। शंकुधारी (Conical) एवं चौड़ी पत्ती वाले वनों (Broad-Leaves Forests) पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ता है। इससे पानी तथा मिट्टी की अम्लीयता में काफी वृद्धि हो जाती है। झरने, कुएं तथा नदियों के पानी की अम्लीयता बढ़ जाने से जल-जीवों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मिट्टी की उर्वरा शक्ति का दिनोदिन क्षय होने लगता है। पोषक तत्त्वों, खासकर कैल्सियम की कमी से कीट-भक्षी पक्षियों की पोषकता पर बुरा असर पड़ता है। पानी में सोडियम तथा क्लोराइड आयनों का नाश होने के कारण मछलियां मरने लगती हैं।

*अम्लवर्षा*का प्रभाव कांसे की मूर्तियों, चूना पत्थर से बनी वस्तुओं तथा वास्तुकलाओं पर भी पड़ता है। कई देशों में ऐतिहासिक महत्त्व वाले स्मारकों तथा धरोहरों पर इसने बुरा असर डाला है। अम्ल वर्षा के कारण स्मारकों के पत्थरों तथा धातुओं में जंग पकड़ने लगा है अथवा ये बदरंग होने लगे हैं। जहां तक इसका मानव पर पड़ने वाले दुष्परिणामों का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष रूप से यह कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता है। परन्तु, इससे मनुष्य को सांस लेने में थोड़ी कठिनाई का अनुभव जरूर होता है। यदि एयरोसॉल का आकार काफी छोटा (0.8 माइक्रॉन अथवा इससे भी कम) हो, तो यह और भी अधिक हानिकारक हो सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव जल स्रोतों की गुणवत्ता पर भी पड़ता है। जिस प्रकार, कीटनाशक पदार्थों तथा रासायनिक पदार्थों से पानी दूषित हो जाता है, उसी प्रकार अम्लीयता (Acidity) से भी पानी पीने योग्य नहीं रह जाता है। कुओं तथा झरनों के पानी में एल्युमिनियम की उपस्थिति से गुर्दे की खराबी, हड्डी की कमजोरी तथा अल्जीमर्स रोग होने की संभावना काफी बढ़ जाती है।

सुपर कम्प्यूटरों द्वारा दी गयी जानकारियों के अनुसार यह बात सामने आयी है कि यदि प्रदूषण को रोकने के लिए वैश्विक स्तर पर कड़े कदम नहीं उठाये गये, तो उत्सर्जित पदार्थों (Residual Substances) की दर आज की अपेक्षा 21वीं सदी में 500 गुनी अधिक हो जायेगी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए *आर्थिकसहयोग एवं विकासपरिषद* (O.E.C.D.) ने विश्व भर में कोयले तथा पेट्रोलियम की खपत को कम करने के निर्देश जारी किये हैं। लेकिन इस समस्या को समाप्त करना तब तक असंभव होगा, जब तक कि लोगों में सचेतता एवं जागरूकता नहीं आ पाती है।

निष्कर्ष

पराबैंगनी विकिरण से नुकसान और भविष्य को होने वाली क्षति की चर्चा हो चुकी है। इससे ओजोन परत को व्यापक क्षति पहुंचती है। इस परत को क्षति पहुंचाने की संभावना बढ़ती ही जा रही है क्योंकि इस परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थों के प्रयोग पर पाबंदी संबंधी वचनबद्धता का अनुपालन सही प्रकार से नहीं हो रहा है। विश्व की सरकारें इस दिशा में एकमत होते हुए भी किसी ठोस कार्यक्रम को अपनाने में असफल रही है।

भारत मांट्रियल घोषणा का एक प्रमुख सदस्य रहा है। यह चरणबद्ध रूप से ओजोन परत को क्षति पहुंचाने वाले पदार्थों के प्रयोग को रोकने के लिए वचनवद्ध है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अभी तक विश्व के प्राय: सभी देश इन पदार्थों के प्रयोग को रोकने के लिए सिद्धांतत: सहमत होते हुए भी इसे व्यावहारिक स्वरूप नहीं दे पाए। अभी भी कोई प्रभावी उपाय नहीं किया जा सका है।वैश्विक तापवृद्धि एक अति गंभीर वैश्विक पर्यावरणीय समस्या है। इस घटना के अध्ययन हेतु व्यापक शोध कार्य हुए हैं। नि:संदेह यह एक ज्वलंत मुद्दा है।

■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

8 वन एवं पर्यावरण

प्राचीन काल से भारत में वन का सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्रिया–कलापों में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह धारणीय रोजगार, आय के स्रोत, वन आधारित उद्योगों और कुटीर उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने का साधन तथा शिल्पी और कारीगर का आधार रहा है। पारिस्थितिकी संतुलन, पर्यावरण के स्थायित्व, जैव–विविधता के संरक्षण, खाद्य सुरक्षा तथा धारणीय विकास में वन का महत्व सर्वमान्य है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत विश्व का 7 वां बड़ा देश है। विश्व की कुल जनसंख्या का 17% भाग भारत में निवास करती है। भारत में विश्व की कुल पशु संख्या का भाग 18% है। भारत में विश्व की जैव विविधता से संपन्न 7% विशाल स्थल है, जिनमें विविधतापूर्ण वनस्पति और जंतु जगत की प्रजातियां निवास करती हैं। देश में 16 प्रकार के वन पाए जाते हैं। इनमें हिमालयी वनस्पति से लेकर कच्छ वनस्पति तक सम्मिलित हैं। प्रत्यक्ष रूप से देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वनों का 1% योगदान है।

स्वतंत्रता के पश्चात् तेजी से विकास कार्य और औद्योगीकरण हुए जिनमें व्यापक पैमाने पर लकड़ी की आवश्यकता हुई। अंततः इन विकास कार्यों से वन को क्षति पहुंची। तथापि स्वतंत्रता के बाद केंद्र तथा राज्य सरकारों ने देश वन तथा वन्य जीवन के सुरक्षा, संरक्षण एवं प्रबंधन हेतु प्रगतिशील उपाय किया, किंतु जन सहयोग के अभाव में लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सका।

वर्तमान स्थिति

भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 2387263 वर्ग कि.मी. है। सरकारी आंकड़े के अनुसार देश में वन क्षेत्र 690,899 वर्ग किमी. है, जो कि देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 21.02% है। किंतु वास्तविक वन क्षेत्र 19% के लगभग ही है। देश में 45000 वन प्रजातियां हैं। इनमें से बहुत से सिर्फ भारत में पायी जाती हैं। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आंकड़ों से भूमि उपयोग की कई पद्धतियों की जानकारी प्राप्त होती है। राष्ट्रीय दूर संवेदी अभिकरण इन आंकड़ों का विश्लेषण कर रहा है। सरकारी आंकड़े के अनुसार 1950-51 में कुल वन क्षेत्र 404800 वर्ग किमी. था। विगत वर्षों में वन क्षेत्र का विस्तार हुआ और यह बढ़कर 690,899 वर्ग किमी. हो गया। इस वृद्धि का मुख्य कारण राज्य/संघ शासित सरकारों द्वारा अनाधिकृत सरकारी भूमि को वन क्षेत्र घोषित करना है। वन क्षेत्र को गैर वन क्षेत्र के रूप में उपयोग करने से भारत की वन पारिस्थितिकी को क्षति पहुंची है।

वनों के राज्यश: अध्ययन करने पर वनों की कटाई, वन में आग लगने तथा वनों के घनत्व के आधार पर भारत को दो वन क्षेत्रों में बांटा जा सकता है- (1) उत्तर पूर्व क्षेत्र (2) शेष भारत

उत्तर पूर्व: इस क्षेत्र में सात राज्य हैं। इन राज्यों में वनों की सघनता में कमी आई है तथा वन क्षेत्र नष्ट हुए हैं। स्थानांतरिक कृषि के कारण 1526 वर्ग किमी. तथा अन्य कारणों से 377 वर्ग किमी. कृषि क्षेत्र नष्ट हुए हैं।

शेष भारत: कई राज्यों में वन क्षेत्र में कमी आई है, इससे पारिस्थितिकी को खतरा पहुंचने की प्रक्रिया चल रही है। औद्योगीकरण और शहरीकरण वनों के विनाश के मुख्य कारण हैं।

भारत में सन् 1951 में 36 करोड़ 10 लाख से बढ़कर वर्ष 2011 में 1.21 अरब हो गई है। असंरक्षित वनों पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता जा रहा है। यदि इस दबाव को कम नहीं किया गया तो इस प्रकार के वन क्षेत्र पूरी तरह से नष्ट हो जाएंगे। इसी तरह पशु न सिर्फ वन क्षेत्र को नष्ट करते हैं, अपितु इनके पुनर्वृद्धि की संभावना को भी नष्ट करते हैं। विगत वर्षों में पशुओं की संख्या में भी वृद्धि हुई है। पशुओं में बकरी की संख्या में सबसे अधिक वृद्धि हुई है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि बकरी से वन पारिस्थितिकी को सबसे अधिक खतरा पहुंचता है। आर्थिक और बाजार की ताकत के कारण लकड़ी की भारी मात्रा में अवैध कटाई हुई है। समस्या इतनी गंभीर है कि इसका असर वर्तमान में भले ही न दिख रहा हो, किंतु भविष्य में असर पड़ना तय है।

संरक्षण की आवश्यकता

भारत के जंगलों में आग पर रिपोर्ट

विश्वव्यापी प्राकृतिक कोष (World Wide Fund for Nature) द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट 'भारत के जंगलों में आग' नामक शीर्षक में कहा गया है कि भारत का 50 प्रतिशत वन आग से एवं 6 प्रतिशत भयानक आग से प्रभावित हैं अर्थात् 1.45 करोड़ हेक्टेयर वन आग से प्रभावित है, जिससे प्रत्येक वर्ष 4400 करोड़ रुपये का नुकसान होता है। इस प्रकार के सभी आग प्रभावित वन मानव सृजित हैं।

भारत एक उष्णकटिबंधीय प्रदेश है। यहां कार्बनिक पदार्थों का अपशिष्ट के रूप में अधिक प्रयोग होता है एवं वनों में लगी आग के कारण भी कार्बनिक पदार्थों का अपशिष्टीकरण होता है। ये सभी कारक वनों में उपस्थित पौष्टिक तत्वों के क्षरण में अहम् भूमिका निभाते हैं, जिससे वनों का वृहत स्तर पर विनाश होता है। विस्तृत वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित जानकारी का यहां अभाव है। इसके लिए समुचित जानकारी का होना आवश्यक है, जिससे वनों का सुनियोजित ढंग से प्रबंधन किया जा सके।

जन समुदाय अपने विभिन्न घरेलू उपयोगो के लिए जानबूझकर वनों में आग लगा देते हैं। गर्मी की ऋतु में पाइन के वनों में आग लगा दी जाती है, जिससे पशुओं के आहार के लिए पौष्टिक घासों में वृद्धि हो सके। झूम खेती में जंगली झाड़ियों में आग लगा दी जाती है, ताकि महुआ के फल को एकत्रित किया जा सके। भारत के पश्चिमी भागों में पुत्र के जन्मदिन के अवसर पर भी वनों में आग लगाकर खुशियां मनायी जाती हैं। पश्चिमी घाट के ढालों पर मानसून आने के पूर्व वनों में आग लगा दी जाती है, ताकि वर्षा होने पर अपशिष्ट पदार्थ खेतों में अपने–आप पहुंच जायें, जिससे खेतों की उर्वरता शक्ति में वृद्धि हो सके। वनों में आग लगने के महत्वपूर्ण कारकों में सबसे महत्वपूर्ण कारक है, खेती के बाद बचे कृषि अपशिष्ट पदाथों में आग लगाना।

मानव अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वनों पर निर्भर रहता है। वन प्रकृत का बहुत बड़ा अवयव है। निःसंदेह औद्योगिक रूप से विकसित देश भी वन संसाधन पर निर्भर हैं। भारत सहित अन्य विकासशील देशों की ग्रामीण जनसंख्या जलावन, चारा और लकड़ी के लिए वन पर आश्रित हैं। जैसा कि राष्ट्रीय वन नीति में स्पष्ट किया गया है, वनों का हमारे जीवन में कई महत्व हैं। इसके अतिरिक्त वनों में प्राणियों के आश्रय स्थल हैं। ये वर्षा नियंत्रण, मिट्टी और जल संरक्षण तथा ग्रामीण जनसंख्या की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। भूमि, जलवायु और वन में ऐसा अंतः संबंध है कि यदि मिट्टी का अपरदन होता है तो वनस्पति का अपक्षय निश्चित है। दुर्भाग्यवश भारत जैसे विकासशील देश में वन पर जैव दबाव अधिक है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत में वन		
वन	क्षेत्रफल (वर्ग किमी.)	कुल भौगोलिक क्षेत्र का %
अति घने	83, 510	2.54
मध्यम घने	319, 012	9.71
खुले वन	288, 377	8.77
कुल वन क्षेत्र	690, 899	21.02

जलवायु, मिट्टी तथा जल संसाधन के संतुलन तथा जैव विविधता के संरक्षण में वन का योगदान सर्वविदित है। इसलिए वनों की सुरक्षा की आवश्यकता है। समशीतोष्ण क्षेत्रों में वन की कटाई से मिट्टी अपरदन, बाढ़, सूखा और मरूभूमि विस्तार की घटना में तेजी आती है। इसके अतिरिक्त स्थानांतरण कृषि और लकड़ी की व्यावसायिक मांग के कारण वनों की कटाई होती है। अतएव पर्यावरणीय प्रभाव वन कटाई की विविध गतिविधियों पर निर्भर है।

समशीतोष्ण क्षेत्रों में वनों की कटाई के कारण हिमालयी क्षेत्र, चीन, फिलिपींस तथा दक्षिणी थाइलैंड में भयंकर बाढ़ की घटनाएं हो रही हैं। घाटी, नहर एवं तटबंध की बनावट तथा जल–प्लावन पर बाढ़ का स्तर निर्भर करता है। यह एक सर्वमान्य धारणा है कि ऊपरी क्षेत्रों में वृक्षारोपण से समस्या का निदान हो सकता है।

वनों के विनष्ट होने से मिट्टी का अपरदन बढ़ जाता है। जिन क्षेत्रों में वन विनष्ट हुए हैं, वहां प्रतिवर्ष 0.3 टन प्रतिहेक्टेयर अपरदन होता है। मिट्टी तथा जल के संरक्षण, भू-स्खलन को रोकने तथा बालू के टीले को यथावत रखने में वन संरक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका है। भूमि से जल खींचने की गति, विभिन्न प्रकार के वन प्रबंधन के परिणाम, विभिन्न प्रकार के वनों और जल की गुणवत्ता के बीच संबंध की निश्चित तथा एकरूप जानकारी का अभाव है।

वृक्ष से मिट्टी को मजबूती मिलती है। पत्तों तथा अन्य पदार्थों के गिरने और सड़ने से मिट्टी में सूक्ष्म प्राणियों का विकास होता है, जो वनों की वृद्धि के लिए आवश्यक है। जैसे-जैसे पत्तियां सड़ती हैं वैसे ही जंतुओं तथा कृमियों के लिए मिट्टी उपयुक्त होती जाती हैं। ऊंचे वृक्षों के जड़ों का मिट्टी में सूक्ष्म प्राणियों के विकास एवं गतिविधियों पर व्यापक असर है। जड़ों के बढ़ने से मिट्टी में वनस्पति और सूक्ष्म प्राणियों के विकास हेतु भोजन तथा ऊर्जा की आपूर्ति होती है। जीवित जड़ों से जैविक तथा अजैविक पदार्थों के उत्सर्जन से सूक्ष्म प्राणियों के लिए खाद्य पदार्थ सहज उपलब्ध होते हैं। जड़ों से उत्सर्जित होने वाले पदार्थों से कई कवकों का विकास होता है। जड़ों द्वारा काफी मात्रा में नाइट्रोजन निर्धारण की गतिविधि होती है।

वनों की मिट्टी में विभिन्न प्रकार के जैविक और खनिज पदार्थ उपलब्ध रहते हैं। ये पदार्थ कार्बन तथा विभिन्न प्रकार के ऊर्जा स्रोतों के रूप में प्राप्त होते हैं, जो कि वनस्पति, मानव तथा सूक्ष्म प्राणियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक हैं। जैव पदार्थों के सड़ने पर उनसे कार्बन का उत्सर्जन होता है, जो प्राणियों के निर्माण तथा उनके उपयोग में काम आता है।

वन भूमि में सिर्फ सूक्ष्म जीव और वनस्पति को भोजन और आवास ही नहीं मिलता अपितु इससे नाइट्रोजन, फास्फोरस और गंधक जैसे पोषक तत्व प्राप्त होते हैं, जो वृक्षों के विकास और जीवन चक्र को बढाने में सहायक हैं। इस जटिल जैविक और रासायनिक चक्र के कारण पोषक और जैविक तत्व मिट्टी में प्राप्त होते हैं।

भू–पारिस्थितिकी का लघु स्तर पर जलवायु पर असर पड़ता हैं, खासकर कार्बन चक्र पर। वनों की कटाई के कारण ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा में वृद्धि होती है। ग्रीन हाऊस गैस को कम करने के लिए वनों तथा उद्यान कृषि का विकास तथा संरक्षण आवश्यक है। ब्राजील के वनों के अध्ययन से पता चलता है कि वनों की कटाई से उसकी जलवायु पर कैसा दुष्प्रभाव पड़ा। वन सीमा के 100 मी. के अंदर की तुलना में बाहर में आद्रता 20% कम होती है। यदि वनों के चारों ओर आग लगाई जाती है, तो वृक्षों के पत्ते तेजी से गिरते हैं तथा पेड़ पौधनष्ट हो जाते हैं।

सुरक्षित वन गहन, आर्द्रता से परिपूर्ण, शीतलतायुक्त तथा तेज वायु के दुष्प्रभाव से मुक्त होते हैं। वनों में पेड़ की कटाई से सूर्य की तेज रोशनी अंदरूनी भागों में पड़ती हैं, फलत: दिन के मध्य में वातावरण शुष्क रहता है तथा तेज वायु का असर दिखता है। ऐसे वनों में 2% से बढ़कर दिन के मध्य में 90% तक रोशनी पहुंचती है किंतु आर्द्रता में कमी हो जाती हैं। विरल वनों में आर्द्रता 33% से घटकर 21% हो जाती है। वनों की कटाई का वर्षा पर वास्तविक असर का कोई अंतिम प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तथापि वन क्षेत्र 10%, 20% तथा 40% भाग को झाड़ी और कृषि क्षेत्र में बदलने से क्रमश: 2%, 4% तथा 6% वर्षा में प्रतिवर्ष कमी आयेगी। समशीतोष्ण प्रदेशों में वनों की कटाई से बाढ़ में बढ़ोत्तरी हुई है।

वन का वैश्विक जल चक्र पर असर है। इस चक्र के मुख्य अवयव वायुमंडल में जाने वाला जल वाष्प तथा नदियां हैं। वायुमंडल जल चक्र पूरा होने में 9 से 10 दिन का समय लगता है। समशीतोष्ण प्रदेशों के वनों का विश्व जल चक्र में 3% का योगदान है। वृक्षारोपण से मिट्टी और जल का प्रभावी ढंग से संरक्षण किया जा सकता है। वनाच्छादित भागों में वर्षा और बाढ़ से होने वाला भू-अपरदन नहीं होता है। विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों का वर्षा और बाढ़ पर विभिन्न प्रकार के असर होते हैं। भयंकर तूफानों की गति को नियंत्रित करने तथा सुरक्षित जल बहाव में वनों का योगदान महत्वपूर्ण है। वन अपने छतरी से मिट्टी को वर्षा सीधे असर से सुरक्षा प्रदान करता है तथा भूमिगत जल-स्तर को बढ़ाता है। इससे मिट्टी के जल अवशोषित करने की क्षमता बढ़ती है।

पर्वतीय क्षेत्रों की पारिस्थितिकी अत्यंत कमजोर है। इन क्षेत्रों में मिट्टी के अपरदन की संभावना बढ़ जाती है। इन क्षेत्रों में भू-स्खलन, निवास स्थान नष्ट होने तथा आनुवंशिक विविधता की संभावना अधिक रहती है। जलक्षेत्र प्रबंधन के तहत पर्वतीय क्षेत्रों की सुरक्षा से बाढ़ और सूखे की चपेट से बचा जा सकता है।

समस्या की जड़

विश्व में पर्यावरण के मुद्दे पर अभिनव जागृति है। विश्व में सर्वत्र पर्यावरण संकट के प्रति लोग काफी सचेष्ट हैं। आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर लोगों की पर्यावरण चिंता में काफी विरोधाभास है। जहां संपन्न व्यक्ति ओजोन परत के क्षय, वैश्विक तापवृद्धि, जलवायु परिवर्तन परमाणु खतरे, शहरों में स्थानाभाव और जल, वायु तथा ध्वनि प्रदूषण के प्रति साकांक्ष है, वहीं निर्धन व्यक्ति बाढ़ आने से जानमाल की क्षति, फसल नष्ट होने तथा अपनी महिलाओं द्वारा जल, जलावन और चारा के लिए मीलों की दूरी तय करने के प्रति चिंतित रहते हैं। उन्हें अपने बच्चों के जल तथा वायु द्वारा उत्पन्न बीमारियों से जूझना पड़ता है।

विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार करीब 120 करोड़ लोग गरीबी से जूझ रहे हैं। वे कुपोषण, अशिक्षा, बीमारी, औसत कम आयु तथा उच्च मृत्युदर के शिकार हैं। इनमें आधे से अधिक लोग एशिया में रहते हैं तथा एक तिहाई लोग सहारा अफ्रीका के उप-नगरीय भागों में रहते हैं।

21वीं सदी के प्रारंभ में विकासशील देश अभूतपूर्व पर्यावरण समस्या से जूझ रहे हैं। भारत उपेक्षित भूमि, उपेक्षित ग्रामीण लोग, लुप्तप्राय प्राणी, नष्ट

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्राय भूमि, बढ़ रही आर्थिक आकांक्षाओं, क्षीण हो रहे संसाधनों, तथा गंदगी की समस्याओं से जूझ रहा है। गरीबी और पर्यावरण संकट के बीच संबंध है। यद्यपि गरीबी के कारण पर्यावरण पर दुष्प्रभाव पड़ता है, किंतु उपभोग तथा उत्पादन के अविवेकपूर्ण पद्धति से पर्यावरण पर असर तथा पर्यावरण संकट का जनसंख्या पर असर, दोनों को रोकने की आवश्यकता है।

इस समस्या के वास्तविक निदान की आवश्यकता है। लाखों लोग अपनी जीविका हेतु वनों पर निर्भर हैं। अपनी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ये लोग वन संसाधनों का नित्य उपभोग करते हैं। उत्पादन और विकास के कारण पर्यावरण को क्षति पहुंचती है। विकास तथा विश्व पर्यावरण संरक्षण में वनों का महत्व है। रोजगार सृजन, गरीबी उन्मूलन तथा विभिन्न प्रकार के वन उत्पाद की प्राप्ति हेतु वनों का विवेकपूर्ण उपयोग आवश्यक है। वनों के प्रबंधन में कमी, आग लगने की घटना, व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लकड़ी की अविवेकपूर्ण कटाई, पशुओं द्वारा अत्यधिक चरने तथा वायु प्रदूषण के कारण मिट्टी तथा जल संसाधन का अपक्षय, वन्य जीवन तथा जैव विविधता का विनाश, वैश्विक तापवृद्धि और पर्यावरण को क्षति पहुंचती है।

वनों की कटाई के दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम, बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु वन क्षेत्र का कृषि में परिवर्तन होता है। दूसरा कारण ऊर्जा की आपूर्ति हेतु वनों का दोहन है। ईंधन के लिए जलावन पर निर्भर विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि के कारण 21वीं शदी के प्रथम दशक में ऐसा नहीं लगता कि जलावन की मांग में कोई कमी होगी। वनों का मानव कल्याण और पर्यावरण में योगदान वनों के सामाजिक, आर्थिक तथा पारिस्थितिकी महत्व को समझने पर निर्भर करता है तथा इसकी क्षति से संभावित विनाश को समझना आवश्यक है।

तीन क्रमागत राष्ट्रीय वन नीतियों द्वारा निर्धारित उच्च लक्ष्य के बावजूद स्थिति बदतर होती जा रही है। भारत में वन नीति यद्यपि सौ वर्ष पुरानी है, तथापि आज की स्थिति उस समय से बदतर है। राष्ट्रीय वन नीति की असफलता का मुख्य कारण यह है कि वे सरकारी वनों को अधिक महत्व देते हैं न कि भूमि और मिट्टी के संरक्षण को। विधि सम्मत जन सहयोग पर आधारित भूमि के वैज्ञानिक रीति से उपयोग का अभाव है। इसी कारण से वन से तात्पर्य आरक्षित वन से है न कि वृक्षाच्छादित सामान्य भूमि से।

जनसंख्या में बेतहाशा वृद्धि, परिणामत: गरीबी और कृषि पर अत्यधिक निर्भरता के कारण लकड़ी का मुख्य जलावन के रूप में उपयोग किया जाता है। दुर्लभ लकड़ियों के अभाव में भारत की पास्थितिकी खराब अवस्था में है। सन् 1951 से 1976 के बीच व्यापक रूप से वन क्षेत्र को कृषि क्षेत्र में परिवर्तित किया गया। इस अवधि के दौरान विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वन क्षेत्र में काफी कमी आई है। परिस्थिति अभी भी यथावत है। अत्यधिक चरने और आग लगने से समस्या और भी गंभीर हो गई है। अत्यधिक जैव दबाव के कारण वन क्षेत्र का 52% भाग बंजर हो गया है। भारत जैसे विकासशील देश में भूमि प्रबंधन की असफलता के कारण वन क्षेत्र को काफी क्षति पहुंची है।

आग से खतरा

पर्वतीय वनों में अत्यधिक आग लगती है। खासकर चीर के वनों तथा प्रायद्वीपीय भरत के सघन वनों में। इससे जैव विविधता को काफी खतरा है। उत्तर प्रदेश में आग के कारण 8000 हेक्टेयर चीर के वन नष्ट हुए हैं। विगत वर्षों में हिमालय प्रदेश में वनों में आग लगने की 450 घटनाएं हुई हैं। आगजनी में कुछ हेक्टेयर से लेकर कई सौ हेक्टेयर वन क्षेत्र नष्ट हो जाता है। मौसम, वनों के प्रकार, आग की प्रकृति, भौगोलिक परिवेश तथा जलवायु संबंधी कारकों से आग की स्थिति निर्धारित होती है।

एक बार आग लगने पर हवा के कारण इसका प्रसार बढ़ते ही जाता है। पक्षी और बंदर जैसे रोएंदार प्राणी इसमें जलकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसे पक्षी और प्राणी आग क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों की ओर भागते हैं और इस प्रक्रिया से आग क्षेत्र में विस्तार होते रहता है।

जंगल में आग प्राय: ग्रामीण लोगों द्वारा जानबूझकर लगायी जाती हैं। इनका उद्देश्य पशुओं के लिए चारागाह का विस्तार तथा कृषि क्षेत्र में विस्तार करना रहता है। कई बार जंगली जानवरों के भय से तथा दुष्टतावश भी आग लगायी जाती है।

तीव्रता और प्रसार की दृष्टि से दावानल को तीन भागों में बांटा जाता है।–1. भू–सतह पर आग 2. सतह पर आग तथा 3. फुनगी पर आग भू–सतह पर लगी आग से घास–पात सहित झाड़ियां नष्ट हो जाती हैं। वहीं फुनगी पर लगी आग से वन शाखा सहित वृक्ष के समस्त ऊपरी भाग नष्ट हो जाते हैं। फुनगी पर आग लगने की घटना अत्यंत भयंकर होती है और ऐसी घटनाएं ग्रीष्मकाल में चीर के वनों में अकसर घटित होती हैं।

ग्रीष्मकालीन आग के वनों पर भारी दुष्परिणाम दिखायी देते हैं। इनसे वनों के प्रकार, जलवायु और स्थान में परिवर्तन होता है। एक आगजनी की घटना से भारी आर्थिक क्षति के साथ-साथ पर्यावरण को भी काफी नुकसान पहुंचता है।

वनवासियों को वन से विविध प्रकार की आवश्यकताओं की आपूर्ति होती है। इन्हें वनों से लकड़ी, जलावन, चारा, घास, पेड़ के छाल, कांटेदार झाड़ियां, फल, फूल, मधु इत्यादि सहज ही प्राप्त होते हैं।

घासयुक्त क्षेत्रों में आग लगने से भूमि शुष्क हो जाती है तथा घने घास उगते हैं। आग के कारण झाड़ियों के नष्ट होने पर हमेशा चारा उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है। भयंकर आग से भूमि में घास उत्पन्न होने की संभावना पर भी असर होता है।

ग्रामीण लोग सिर्फ यह समझते हैं कि वन उनकी वनों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं की आपूर्ति के साधन मात्र हैं। इस धारणा के कारण ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ है, जिसके कारण से लोग सामूहिक संसाधन की रक्षा के प्रति लापरवाही से काम लेते हैं। मानव मात्र की समृद्धि हेतु राष्ट्रीय एवं विश्व स्तर पर वनों की देखभाल करने की लोग सराहना नहीं करते हैं।

वन वृक्ष विज्ञान के सिद्धांतों के दक्षतापूर्वक उपयोग हेतु वित्तीय सहायता प्रदान कर आगजनी की घटना को रोका जा सकता है। लोगों की आवश्यकताओं तथा वनों की सुरक्षा के बीच तालमेल होना चाहिए ताकि वन संरक्षण में जन सहभागिता बढ़े।

उपाय

देश के कुल क्षेत्रफल के एक तिहाई भाग में वृक्षारोपण होना चाहिए। इससे वर्तमान वन संसाधन का संरक्षण, नष्ट वन क्षेत्र में फिर से वन लगाने से वन उत्पादन में बढ़ोत्तरी, शोध एवं तकनीकी विकास, सामुदायिक विकास में निजी स्तर पर पहल, वैकल्पिक व्यवस्था से लकड़ी की कुल मांग में कमी, पर्यावरण अनुकूल विकल्प, नीतिगत दृढ़ता, वृक्षारोपड़ के माध्यम से वन क्षेत्र का विस्तार तथा लोगों के सक्रिय सहयोग एवं सहभागिता से गैर–वन क्षेत्र का विकास होगा।

भारत सरकार द्वारा तैयार राष्ट्रीय वानिकी कार्यक्रम एक व्यापक कार्यक्रम है। इसके अंतर्गत चरणबद्ध रूप से देश के 33% भू–भाग को 2020 ई. तक वन क्षेत्र के तहत लाना हैं। कमजोर जमीन पर स्थानीय वृक्ष लगाकर उसे फिर से हराभरा करने के उपाय किए जा रहे हैं। सामाजिक वानिकी, उद्यान वानिकी तथा वृक्षारोपड़ को बढ़ावा देने के लिए उपाय किए जा रहे हैं। लकड़ी के अतिरिक्त अन्य वन उत्पादों तथा औषधीय वनस्पति के महत्व को समझना चाहिए।

भविष्य के लिए वन संरक्षण

वानिकी के अंतर्गत वन, वनभूमि तथा संबंधित संसाधनों का अध्ययन तथा संरक्षण किया जाता है। भारत में वन प्रशासन की शुरूआत 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। सन् 1921 तक यह केंद्र सूची का विषय था। वन प्रबंध से शाल, देवदार इत्यादि प्रजाति के वृक्ष लगाने से था। वन प्रबंधन का मुख्य उद्देश्य संरक्षण तथा स्थानीय ग्रामीण लोगों की लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति करना था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वानिकी कार्यक्रम में बढ़ोत्तरी हुई और व्यापक स्तर पर कृत्रिम वृक्षारोपण कार्यक्रम को अपनाया गया। अधिक खाद्यान्न उत्पादन हेतु वन क्षेत्र को कृषि क्षेत्र में परिवर्तित किया गया। बढ़ती जनसंख्या और लोगों की मांग के कारण उत्पन्न समस्या के निदान हेतु राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सुझाव रखा-वन उत्पाद में पर्याप्त वृद्धि तथा सामाजिक वानिकी।

मुख्य उद्देश्य वन आधारित उद्योग, रक्षा आवश्यकताओं, जलावन तथा चारा की आपूर्ति हेतु लकड़ी का उत्पादन बढ़ाना था। इन मांगों के कारण जंगल कई रूप में प्रभावित हुआ। अतएव आज वन प्रबंधन की आवधारणा में सुदृढ़ नीतियों एवं योजनाओं का समावेश होना चाहिए। वन प्रबंधन के अंतर्गत प्रशासन में वैज्ञानिक, आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धांतों का समावेश किया जाता है। इसके तहत वन क्षेत्र का उपयोग किसी खास उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया जाता है। वन संरक्षण में जीन बैंकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। सारी दुनिया से एकत्र कर पौध-सामग्री को जिन जीन बैंकों में रखा गया है, उनमें से प्रमुख को अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान के परामर्श समूह (जी.जी.आई.ए. आर.) द्वारा धन उपलब्ध कराया जाता है। इन बारह केंद्रों के पास कुल मिलाकर लगभग पांच लाख नमूने संग्रहित हैं, जो दुनिया भर में भंडारित नमूनों का 35% है। भारत में राष्ट्रीय जीन बैंकों की स्थापना 1996 में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली में की गयी। यह बैंक पेड़-पौधों के हिस्सों, ऊतकों एवं बीजों का विशाल संग्रहालय है।

प्रमुख वन्य-जीव संरक्षण परियोजनाएं

- **(i)** बाघ परियोजना: शुरुआत, 1 अप्रैल, 1973 को हुयी। इस समय देश के 39 अभ्यारण्यों में यह परियोजना चल रही है।
- **(ii)** लाल पांडा परियोजना: इसकी शुरुआत 1996 में की गयी।
- **(iii)** मणिपुर थामिन (ब्रो एण्टलर हिरण) परियोजना: यह परियोजना 1977 में शुरू की गयी।
- **(iv)** गिरि सिंह अभ्यारण्य परियोजना: 1972 में गुजरात सरकार ने इनके संरक्षण, सुरक्षा एवं सुधार के लिए केंद्र सरकार के सहयोग से यह परियोजना शुरू की।
- **(v)** हिमालय कस्तूरी परियोजना: भारत सरकार के सहयोग से यह परियोजना उत्तर प्रदेश के केदारनाथ अभ्यारण्य में आरंभ की गयी।
- **(vi)** हाथी परियोजना: 1992 में शुरू की गयी यह परियोजना झारखंड के सिंहभूमि जिले में शुरू की गयी।
- **(vii)** मगर प्रजनन परियोजना: भारत सरकार ने यूएनडीपी की सहायता से 1975 में यह परियोजना उड़ीसा में शुरू की।

वन प्रबंधन के लाभ

वन प्रबंधन के दो अनिवार्य तत्व हैं-इसे गतिशील होना चाहिए तथा इसे परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। मौलिक बात यह है कि कच्चा माल वृक्ष है, जो कि अन्य व्यवसाय से भिन्न है। उत्पादन एक लंबी प्रक्रिया है। वृक्ष से लाभ प्राप्त करने के लिए लंबे समय तक इंतजार करना पड़ता है। यह समय 5 वर्ष से लेकर दशकों तक का हो सकता है। जिन वृक्षों की आज आवश्यकता है या, हो सकती है या, उनकी आवश्यकता आने वाले वर्षों में न हो।

वन प्रबंधन के निर्धारित लक्ष्य को पूरा करने के लिए वर्तमान वन संसाधन का विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए। पेड़ काटने से पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कितना, कब, कहां और कैसे पेड़ काटें। कितना काटें से तात्पर्य है कि वन आवश्यकताओं की आपूर्ति तथा उपलब्ध वन भंडार के विकास को सुनिश्चित करना। कब काटना चाहिए का अर्थ है कि पेड़ के विकसित होने में कितना समय लगता है तथा बाजार में इसके विकास और उत्पादन के अनुरूप मांग। कहां काटने के अंतर्गत काटने की सुविधा, काटने में लागत, भूमि संरक्षण, जमीन की उर्वरकता बनाए रखना तथा श्रम प्रबंधन आते हैं। कैसे काटें के अंतर्गत कटे हुए पेड़ के स्थान पर यथाशीघ्र पेड़ लगाने से है।

वैज्ञानिक वन प्रबंधन के अंतर्गत कई अभिधारणाएं अस्तित्व में आयी हैं। आज समय आ गया है कि जमीन के प्रत्येक टुकड़ा को उपयोग में लाया जाए, चाहे उसकी उर्वराशक्ति और उत्पादकता कुछ भी क्यों न हो। वन संरक्षण भूमि संरक्षण के माध्यम से संभव है। जहां एक ओर खाली भूमि पर वन लगाने की आवश्यकता है वहीं दूसरी ओर वर्तमान वन के संरक्षण की जरूरत है। इस हेतु एकात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है।

वन उत्पाद में वृद्धि हेतु व्यापक स्तर पर वानिकी कार्यक्रम को अपनाना चाहिए। इससे उद्योग, संचार तथा स्थानीय लोगों की मांग पूरी हो सकेगी। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सलाह दी है कि कम उत्पादकता वाले पेड़ के स्थान पर नए पेड़ लगाने से गरीबों की आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार के वृक्षारोपड़ के अंतर्गत तेजी से बढ़ने वाले पेड़ लगाए जा सकते हैं। धारणीय भूमि प्रबंधन की स्थापना हेतु सामाजिक वानिकी और कृषि वानिकी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इससे वर्तमान प्रणाली के परिणाम और गुणवत्ता में विकास, दीर्घकालीन लाभ प्राप्त करने तथा पर्यावरणीय क्षति को कम करने में सहायक होगा। यह किसानों को व्यावहारिक तथा सामाजिक रूप से स्वीकार्य होगा।

सामाजिक वानिकी तथा कृषि वानिकी से कई लाभ हैं। पोषक तत्वों के पुनर्चक्रण, मिट्टी के अपरदन को रोकने तथा अपक्षय एवं अपरदन के कारण पोषक तत्वों के नष्ट होने से रोकने के माध्यम से मिट्टी की उर्वराशक्ति बनाए रखी जा सकती है। कई वृक्ष प्रजातियों के कारण कुछ खास तरह के फसलों के विकास में मदद मिलती है। इससे आरक्षित वन पर दबाव कम होता है तथा उसके संरक्षण और विकास में मदद मिलता है। इससे फसल को तूफान तथा तेज वायु के दुष्प्रभाव से बचाया जा सकता है। इससे जमीन की गुणवक्ता में भी सुधार होता है। जमीन में जल धारण क्षमता, भूमि–अम्लीयता या क्षारीयता उत्पादन अनुकूल तथा फसल उत्पादन में वृद्धि होती है। जल लगे भूमि में कई वृक्ष प्रजाति लगाने से जलस्तर सुरक्षित रखा जा सकता है। इससे ग्रामीण लोगों के लिए रोजगार के अवसर में वृद्धि होगी। अतएव दीर्घकालीन पर्यावरण हित तथा जनहित को ध्यान में रखकर वन प्रबंधन किया जाना चाहिए।

सरकार के प्रयास

संविधान में वन क्षेत्र और वन्य प्राणी के संरक्षण का प्रावधान है। सन् 1966 से भारतीय वन सेवा की पुन: शुरूआत की गई। वन को राज्य-सूची से हटाकर समवर्ती-सूची का विषय बनाया गया। वन भूमि के संरक्षण हेतु वन (संरक्षण) कानून बनाया गया। सन् 1985 में पर्यावरण एवं वनमंत्रालय की स्थापना की गई। सन् 1988 में नई वन नीति का निर्माण किया गया। बाघ, हाथी, गैंडा एशियाई सिंह, तथा मगरमच्छ की रक्षा हेतु विशेष परियोजनाएं चलायी गई।

राष्ट्रीय वन नीति

19वीं सदी में राष्ट्रीय वन नीति प्रारंभ करने वाले कतिपय देशों में भारत प्रमुख है। पहली नीति 1894 में घोषित हुई। जिन्हें 1952 तथा 1988 में संशोधित किया गया। संशोधित वन नीति 1988 का मुख्य आधार वनों की सुरक्षा, संरक्षण और विकास है। इसके मुख्य लक्ष्य हैं:

(i) पारिस्थितिकीय संतुलन के संरक्षण और पुन: स्थापना द्वारा पर्यावरण संतुलन को बनाए रखना;

(ii) प्राकृतिक संपदा का संरक्षण;

(iii) नदियों, झीलों और जलाशयों के जल-ग्रहण क्षेत्र में भूमि-कटाव और वनों के क्षरण पर नियंत्रण;

(iv) राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में तथा तटवर्ती क्षेत्रों में रेत के टीलों के विस्तार को रोकना;

(v) व्यापक वृक्षारोपण और सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों के जरिए वन और वृक्ष के आच्छादन में महत्वपूर्ण बढ़ोत्तरी;

(vi) ग्रामीण और आदिवासी जनसंख्या के लिए ईंधन की लकड़ी, चारा तथा अन्य छोटी-मोटी वन उपज आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कदम उठाना;

(vii) राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वन-उत्पादन में वृद्धि;

(viii) वन उत्पादन के सही उपयोग को बढ़ावा देना और लकड़ी का अनुकूलतम विकल्प खोजना;

(ix) विशेषकर महिलाओं का अधिकतम सहयोग हासिल करना।

वन संरक्षण का पहला उद्देश्य जलवायु और देश की भौगोलिक स्थिति का संतुलन बनाए रखना है। दूसरा उद्देश्य लोगों की मांग को पूरा करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए:

1. वानिकी से पहले स्थायी कृषि पर ध्यान देना चाहिए।
2. स्थानीय लोगों की संतुष्टि को आमदनी से अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।
3. उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने के बाद वन प्रबंधन से अधिकाधिक आमदनी पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

एकीकृत वन संरक्षण योजना

एकीकृत वन संरक्षण योजना दसवीं पंचवर्षीय योजना के दोरान लागू की जा रही थी तथा ग्यारहवीं योजना के दौरान भी जारी रखी जा रही है। योजना आयोग ने इस योजना का नाम बदलकर 'वन प्रबन्धन का तीव्रीकरण' किये जाने का सुझाव दिया है। इस योजना के आधारिक विषयों को व्यापक बनाने के लिये अवसंरचना विकास तथा दावानल नियंत्रण प्रबंधन के विद्यमान तत्वों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो तत्वों को जोड़ने का प्रस्ताव दिया गया है:

- विशिष्ट वनस्पति तथा पारिस्थितिक तंत्र का संरक्षण तथा पुनर्स्थापन
- पवित्र वृक्ष-कुंजू का रक्षण तथा संरक्षण

संयुक्त वन प्रबंधन

संयुक्त बन प्रबंधन की मूल अवधारणा वन के आस-पास रहने वाले लोगों की भागीदारी के विकास पर जोर देती है। संयुक्त वन प्रबंधन के दिशा निर्देशों को समय-समय पर अद्यतन किया जाता है।

सन् 1952 की वन नीति भूमि संतुलन तथा अनुपूरक उपयोग प्रणाली पर जोर देती है। यह भूमि के अपरदन, पर्वतीय क्षेत्रों में मिट्टी के अपक्षय, तटीय क्षेत्रों में मिट्टी के बहाव और बालू के टीले बनने पर भी विचार करता है। नीति के अंतर्गत पर्यावरण और भौगोलिक परिस्थितियों को सशक्त बनाने तथा स्थानीय लोगों की जलावन और चारा की आवश्यकताओं की आपूर्ति का भी ध्यान रखा गया। आर्द्रता बनाए रखने तथा अपरदन को रोकने तक ही वन का महत्व नहीं है बल्कि इसका व्यापक आर्थिक महत्व भी है। यह रेलवे, रक्षा और उद्योग कार्यों हेतु लकड़ी की आपूर्ति भी करता है।

वर्तमान 1988 की वन नीति के अंतर्गत अधिकाधिक वृक्षारोपड़ पर जोर दिया गया है। इससे वन उत्पाद की मांग तथा आपूर्ति के बीच अंतर को कम किया जा सकता है तथा पर्वतीय क्षेत्रों में संरक्षण के लिए आवश्यक 66% भूमि पर वन लगाया जा सकता है। इस नीति के अंतर्गत निर्धन लोगों को वृक्षारोपड़ के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए तथा भूमि अनुदान एवं भूमि की अधिकतम सीमा नियमों में परिवर्तन होना चाहिए। स्थानीय आवश्यकताओं पर ध्यान देते हुए सामाजिक वानिकी के अंतर्गत वन से प्राप्त आय में स्थानीय समुदाय की भागीदारी होनी चाहिए।

यह नीति वन से प्राप्त कच्चे माल का उद्योग में इस्तमाल तथा वन कुप्रबंधन का विरोध करता है। यह वन के विनाश के लिए वन आधारित उद्योग तथा

सतत विकास

सतत विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें संसाधनों का कुछ इस प्रकार उपयोग किया जाता है कि वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ भावी पीढ़ियों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े। इसके लिए पूंजी निवेश, प्रौद्योगिकी के विकास की दिशा तथा संस्थागत ढांचे में परिवर्तन लाना आवश्यक है। विकास प्रक्रिया को निरन्तर बनाये रखने के लिए प्राकृतिक प्रणालियों और उपभोक्ता-मानव जाति में परस्पर सहजीवी संबंध, अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिक तंत्र में सामंजस्य के साथ-साथ समानता और सामाजिक न्याय, आर्थिक कार्यकुशलता और पारिस्थितिक सन्तुलन के लक्ष्यों की पूर्ति करना भी आवश्यक है।

विकास प्रक्रिया किसी क्षेत्र विशेष की विकास क्षमता पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या, गरीबी और प्रदूषण के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण भी आवश्यक है, ताकि यह मालूम हो सके कि किसी क्षेत्र विशेष में विकास की कितनी सामर्थ्य है और विकास गतिविधियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रदूषण को आत्मसात करने की कितनी क्षमता मौजूद है?

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि विकास योजना प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और वहन क्षमता के अनुरूप ही तैयार की जाये। ऐसी पर्यावरणीय नीति अपनायी जाये, ताकि प्रदूषण की सम्भावना नहीं रहे। इसके लिए यह जरूरी है कि आर्थिक ढांचे में आमूल परिवर्तन किये जायें तथा विकास परियोजना के पर्यावरणीय प्रभाव का मूल्यांकन किया जाये। वहन क्षमता पर आधारित विकास योजना में इस बात को अधिक महत्त्व दिया जाता है कि पर्यावरण के जड़ एवं चेतन दोनों प्रकार के घटक उपभोक्ता गतिविधियों के लिए आवश्यक संसाधन जुटाते हैं और परिणाम में जो अवशिष्ट प्राप्त होते हैं, उन्हें आत्मसात करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि प्राकृतिक संसाधनों पर समाज का अस्तित्व निर्भर करता है, वहन क्षमता का निर्धारण न्यूनतम उपलब्ध संसाधन या गतिविधि के आधार पर किया जाता है। *वहन क्षमता की अवधारणा* के अनुसार उत्पादन और उपभोक्ता गतिविधियों के स्वरूप और स्तर का प्राकृतिक पर्यावरण और सामाजिक प्राथमिकताओं के साथ ताल-मेल होने पर ही जीवनस्तर में सुधार सम्भव है। इसके लिए मांग और पूर्ति, जनसंख्या और आधारभूत सुविधाओं, संसाधनों की उपलब्धता और उपभोग के स्वरूप, आत्मसात क्षमता और अपशिष्टों के वर्तमान तथा वांछित स्तर का अंतर कम करना आवश्यक है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

ठेकेदार को जिम्मेवार ठहराता है। इसके अंतर्गत बंजर भूमि पर वृक्षारोपण से भूमि के उपयोग तथा उपजाऊ कृषि भूमि का वन क्षेत्र में परिवर्तन रोकने की बात कही गई है। नीति के अंतर्गत आरक्षित वन क्षेत्र के अतिरिक्त 77% कृषि भूमि का आरक्षित वन क्षेत्र के रूप में उपयोग की चर्चा की गई है। हिमालय तथा पश्चिमी घाट के ढ़ालवां भूमि और शुष्क आर्द्धशुष्क भूमि पर कृषि पर प्रतिबंध नहीं है। सरकारी वन भूमि जिसे आरक्षित वन क्षेत्र घोषित नहीं किया गया है, उसका भी कृषि कार्य में उपयोग कर लिया जाता है। इसमें पहाड़ी क्षेत्र की सरकारी भूमि भी शामिल है। सरकारी भूमि का अतिक्रमण केंद्र और राज्य सरकारों के लिए चिंता का विषय है। नीति में यह बात स्पष्ट की गई है कि वन के आय में स्थानीय लोगों की हिस्सेदारी होनी चाहिए। वनकर्मियों का यह कर्तव्य है कि स्थानीय लोगों को यथासंभव वन विकास, विस्तार तथा स्थायित्व के लिए जागृत करें।

नीति के मुख्य आकर्षण इस प्रकार हैं:

1. उड़ीसा और आंध्र प्रदेश के जनजातीय लोगों को स्थानांतरित कृषि करने से रोकना चाहिए।
2. पर्वतीय ढाल तथा अर्द्धशुष्क प्रदेश में नदी, झील, जलकुंड इत्यादि के अपवाह क्षेत्रों में वृक्षारोपड़ को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
3. समग्र जैव विविधता को संरक्षण हेतु राष्ट्रीय पार्क, अभ्यारण्य, जैव संरक्षण स्थल तथा आरक्षित वनों का विकास किया जाना चाहिए।
4. देश के कुल क्षेत्रफल के 33% क्षेत्र में वन होना चाहिए। पर्वतीय तथा पठारी क्षेत्रों में मिट्टी अपरदन तथा अपक्षय रोकने के लिए दो तिहाई भागों में वन होना चाहिए।
5. जलावन तथा लकड़ी की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए व्यापक तथा समयबद्ध वृक्षारोपण कार्यक्रम होना चाहिए।
6. पशुचारण का अधिकार और छूट वन की क्षमता के अनुरूप होना चाहिए।
7. वानिकी कार्यक्रमों का विकास ग्रामीण व्यक्ति तथा जनजातीय लोगों की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।
8. वन क्षेत्र को गैर वन क्षेत्र में परिवर्तित करते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए तथा ऐसा अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर ही किया जाना चाहिए।
9. वन के अतिक्रमण, जलाने, चारागाह में परिवर्तित करने तथा इस क्षेत्र में स्थानांतरित कृषि करने पर रोक होना चाहिए।
10. उपजाऊ कृषि भूमि पर वृक्षारोपण नहीं किया जाना चाहिए।
11. वन पर शोध, कार्मिक प्रबंधन, उचित आंकड़ें तथा आधारभूत संरचना के ऊपर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

मत वैभिन्य

भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि हेतु अनुपयुक्त भूमि पर वृक्षारोपण के वजाय वन के संरक्षण तथा वन भूमि पर कृषि रोकने पर जोर दिया जाता है। तथा भूमि के उपयोग का वर्गीकरण इसी आधार पर किया जाता है। इसलिए, यहां आरक्षित वन तथा अवर्गीकृत वन में सूक्ष्म अंतर है। जिन क्षेत्रों पर वृक्ष पहले से लगे हुए हैं, वहां यह बात पूर्णतः लागू नहीं होती। विकसित देशों में स्थिति एकदम भिन्न हैं। इन देशों में वन क्षेत्र सघन तथा हरा भरा है। वन क्षेत्र सरकार, कंपनी, सहकारिता या निजी व्यक्ति के अंदर रह सकता है। कनाडा में मजदूरी की दर, ब्रिटेन में टैक्स दर में छूट तथा कृषि मूल्य नीति, ब्राजील में दर में भारी छूट, स्वीडन में कानूनी सलाह तथा कर में छूट और स्वीटजरलैंड में कानूनी मदद से कृषि हेतु अनुपयुक्त भूमि में वन विकास किया जा सका है। वर्तमान में जापान में भवन निर्माण में लकड़ी का उपभोग बढ़ रहा है। निजी क्षेत्र के द्वारा वहां उपभोग से अधिक लकड़ी का उत्पादन होता है। अतएव जापान यह नहीं चाहता है कि वृक्षारोपण की वजह से उसकी अर्थव्यवस्था प्रभावित हो। विकास के दौरान कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई और यह कार्य मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र के विस्तार के कारण हुआ है। बहुत से क्षेत्रों में मिट्टी धारणीय कृषि के हेतु उपयुक्त नहीं होती हैं, अतएव वैज्ञानिक आधार पर भूमि के वर्गीकरण से उत्पादन तथा पर्यावरण संतुलन संभव है।

प्रमुख वानिकी अनुसंधान-संस्थान

भारतीय वानिकी अनुसंधान एवं शिक्षा परिषद- देहरादून
शुष्क क्षेत्रीय वानिकी अनुसंधान संस्थान- जोधपुर
वर्षा वन अनुसंधान संस्थान - जोरहट
लकड़ी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान - बंगलौर
ऊष्ण कटिबंधीय वन संस्थान - जबलपुर
वन आनुवांशिकी तथा वृक्ष प्रजनन संस्थान-कोयंबतूर
शीतोष्ण वन अनुसंधान केंद्र - शिमला
सामाजिक वानिकी और पारिस्थितिकी पुनः स्थापना संस्थान - इलाहाबाद
वानिकी अनुसंधान तथा मानव संसाधन विकास संस्थान - छिंदवाड़ा
जैव-तकनीकी तथा कच्छ वनस्पति वनों के लिए उच्च केंद्र -हैदराबाद

निष्कर्ष

भारत जैसे विकासशील देश में वन जनसंख्या के विशाल भाग का जीविकोपार्जन का आधार है। लाखों लोग वन पर पानी, लकड़ी, जलावन, चारा तथा आवास के लिए निर्भर रहते हैं। वन उनके पालन पोषण का आधार है। प्राकृतिक संसाधन के रूप में हम वन का विकास करें, ताकि आने वाली पीढ़ी को हराभरा भारत मिले। वन का इस प्रकार रख-रखाव किया जाना चाहिए जिससे वैश्विक तापवृद्धि के संकट, ओजोन परत क्षय, विद्यमान जल संकट, प्रदूषण तथा वन उत्पादों की बढ़ती मांग से निपटा जा सके। देश के पांचवे भाग में आच्छादित वन से हजारों लोगों को सीधे रोजगार मिलते हैं।

वनों की आवश्यकता क्यों है?

- भारत में 70 मिलियन आदिवासियों की लगभग 50 प्रतिशत आबादी की आजीविका वनों पर निर्भर है।
- भारत की ग्रामीण आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा रसोई के ईंधन के लिए लकड़ी पर निर्भर है।
- 470 मिलियन पशु वनों में ही चरते हैं।

■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

9 वन, वानिकी और मानव

वन शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'फॉरेस्ट' है। 'फॉरेस्ट' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'फोरिस' से हुई है। फोरिस का तात्पर्य है गांव की सीमा या चारदीवारी से बाहर की समस्त भूमि, जिस पर कृषि न की गई हो तथा जो निर्जन हो। वर्तमान में वन से तात्पर्य ऐसी किसी भूमि से है जिसका उपयोग वानिकी के विविध उद्देश्यों के लिए किया जाता है, चाहे वह पेड़, झाड़ियां, लता इत्यादि से आच्छादित हो अथवा नहीं।

वानिकी के अन्तर्गत वांछित वस्तुओं और सेवाओं के सतत् निर्माण हेतु उत्पत्ति, संरक्षण, वनों के वैज्ञानिक प्रबंधन तथा संसाधनों के दोहन के लिए सभी सिद्धांत और कार्य आते हैं।

वन, भू-पटल की मनोरम विशिष्टता है। बनावट और घनत्व के आधार पर वनों में अंतर है, किंतु वे चरागाह से सर्वथा भिन्न होते हैं। वन किसी देश की अमूल्य प्राकृतिक संपदा हैं। यह जीवाश्म से प्राप्त ईंधन सहित खनिज संसाधनों की भांति नहीं है। खनिज संसाधन अथवा ऐसे ईंधन या तो कालक्रम में नष्ट हो जाते हैं अथवा इनका दोहन आर्थिक रूप से लाभकारी नहीं रह जाता है। इसके विपरीत वनों का विस्तार पर्याप्त और सही तरह हो तथा इसके साथ-साथ इनका वैज्ञानिक प्रबंधन और विवेकपूर्ण उपयोग हो, तो ये सदैव उत्पादक एवं लाभकारी बने रहते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से वन से हमें इमारती लकड़ी, ईंधन, बांस तथा इसके आसपास रहने वाले लोगों के जीवनयापन में सहायक चारा व अन्य उत्पाद प्राप्त होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से यह पृथ्वी के प्राकृतिक वैशिष्ट्य की रक्षा करता है, मिट्टी के अपरदन और बाढ़ को रोकता है तथा नदियों को सतत् प्रवाहमान बनाये रखने में सहायक है।

यद्यपि वनों के महत्व की चर्चा हो चुकी है, किंतु इनकी कटाई से इनके वैशिष्ट्य को गंभीर खतरा है। इस समस्या का निदान वानिकी के द्वारा संभव है। वानिकी के कई प्रकार हैं। इस अध्याय में तीन प्रकार की वानिकी की चर्चा की गयी है: वनवृक्ष विज्ञान, सामाजिक वानिकी और कृषि वानिकी।

सामाजिक वानिकी

भारत की जनसंख्या सौ करोड़ से अधिक हो गई है। प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि में स्पष्ट कमी हुई है। वनों के कटाई की वर्तमान गति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आगामी पचास वर्षों में शायद ही कहीं वन अस्तित्व में रहेंगे। लकड़ी के ईंधन और चारा का स्वत: ही अभाव है। वर्तमान मांग को पूरा करने के लिए भी लकड़ी के ईंधन का उत्पादन बढ़ाया जाना आवश्यक है। गरीबों के जीवन-यापन का आधार कमजोर होता जा रहा है। महिलाओं को लकड़ी, चारा और पानी के लिए मीलों की दूरी तय करनी पड़ती है, वन से प्राप्त कच्चे पदार्थों की आपूर्ति में कमी के कारण वन पर निर्भर लाखों वनवासी एवं अन्य लोगों के रोजगार के साधन, संस्कृति एवं जीवन पद्धति तबाह हो गई है। भारत का भविष्य इसके विनष्ट वन, कृषि एवं कृषि भूमि के पुनरुत्थान पर निर्भर करता है।

आज जनसंख्या वृद्धि देश के सामने एक गंभीर समस्या बनकर चुनौती दे रही है। हालांकि, विगत वर्षों में खाद्यान्न उत्पादन जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप रहा है, किंतु आने वाले दशकों में सबको खाद्यान्न उपलब्ध करना एक गंभीर चुनौती है।

बढ़ती मांग के अनुरूप आपूर्ति के लिए अनुपयुक्त एवं अत्यधिक रासायनिक पदार्थों के प्रयोग से कृषि पारिस्थितिकी को काफी नुकसान पहुंचा है। यद्यपि जनसंख्या एवं पशु संख्या के बढ़ते दबाव के कारण देश में भूमि के स्तर में कमी आयी है। मिट्टी के अपरदन के कारण भूमि के स्तर में गिरावट, रासायनिक पदार्थों के अविवेकपूर्ण प्रयोग, जल जमाव, खारापन/क्षारीयता, स्थानांतरित कृषि इत्यादि के कारण भूमि, खासकर कमजोर या बंजर भूमि के उपयोग हेतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। विश्व में पर्यावरण के प्रति जागरूकता और धारणीयता की अभिधारणा पर जोर देने से 'बंजर भूमि उपयोग' विषय धारणीय विकास चिंतन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

सामाजिक वानिकी की आवश्यकता

सामाजिक वानिकी को धारणीय विकास का एक महत्वपूर्ण अभिकरण समझा जा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें ग्रामीण निर्धनों की तीन मुख्य समस्याओं को एक साथ सुलझाने की क्षमता है। धारणीय विकास की ओर अग्रसर करने वाला पर्यावरण हितैषी दृष्टिकोण के साथ-साथ इसमें खाद्यान्न सुरक्षा, ईंधन सुरक्षा और रोजगार सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता है।

अद्यतन सरकारी आकलन के अनुसार भारत में कुल भूमि के 21.01% अर्थात 690899 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में वन हैं।

जब तक लकड़ी के ईंधन का समुचित विकल्प नहीं मिलता, लकड़ी से निर्मित विभिन्न पदार्थों के विकल्प नहीं ढूंढ़े जाते और वृक्षारोपण कार्यक्रम को सही रूप में कार्यान्वित नहीं किया जाता, तब तक वनों के क्षय को रोका नहीं जा सकता है। वानिकी के संदर्भ में महत्वपूर्ण कार्य यह है कि विद्यमान वन को बचाया जाए, बंजर भूमि के प्रसार को रोका जाए और पहले से अपरदित क्षेत्रों में जहां संभव हो, अधिक से अधिक वृक्ष लगाये जायें। वनों की रक्षा हेतु सख्त कानून के होते हुए भी उनके प्रावधानों के कार्यान्वयन में भारी कमी रही है।

वनों के क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने में सामाजिक वानिकी की अहम् भूमिका है। चूंकि वन क्षेत्र के विस्तार की संभावना नहीं नजर आती है, अत: एकमात्र विकल्प यह है कि यथासंभव निजी भूमि पर अधिकाधिक वन लगाये जाये। अतएव एक सशक्त सामाजिक वानिकी कार्यक्रम की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

1992 में शुरू राष्ट्रीय वनारोपण और पारिस्थितिकी विकास बोर्ड के उत्तरदायित्वों में देश में वनरोपण, वृक्षारोपण, पारिस्थितिकी कायम रखने तथा पारिस्थितिकी विकास गतिविधियों को बढ़ावा देना शामिल है, जिनमें निम्न कोटि के वन क्षेत्रों तथा इससे जुड़े इलाकों, राष्ट्रीय उद्यानों, अभ्यारण्यों तथा अन्य संरक्षित व पारिस्थितिकी दृष्टि से नाजुक क्षेत्रों जैसे, पश्चिमी हिमालय, अरावली और पश्चिमी घाट पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

भारत के जंगलों में आग

विश्व व्यापी प्राकृतिक कोष (World Wide Fund for Nature) द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट 'भारत के जंगलों में आग' नामक शीर्षक में कहा गया है कि भारत का 50 प्रतिशत वन आग से एवं 6 प्रतिशत भयानक आग से प्रभावित हैं अर्थात 1.45 करोड़ हेक्टेयर वन आग से प्रभावित है, जिससे प्रत्येक वर्ष 4400 करोड़ रुपये का नुकसान होता है। इस प्रकार के सभी आग प्रभावित वन मानव सृजित हैं।

'राष्ट्रीय वनारोपण एवं पारिस्थितिकी विकास बोर्ड' ने वनारोपण को प्रोत्साहित करने और प्रबंधन की रणनीति तैयार करने के लिए विशेष योजनाएं तैयार की हैं। इसमें राज्यों को विशेष वनारोपण विकसित करने और संयुक्त वन प्रबंधन की भागीदारी योजना के जरिए वायोमास का उत्पादन बढ़ाने के लिए पारिस्थतिकी विकास पैकेज तैयार करने में मदद मिलेगी। आई. ए.ई.पी. के तहत सन् 2000-01 से समन्वित ग्राम वनीकरण समृद्धि योजना और वन विकास एजेंसी बनाने के कार्य को व्यापक आधर पर अमल में लाया जा रहा है, ताकि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए विभिन्न योजनाओं के तहत मिलने वाले फंड को एक जगह एकत्रित किया जा सके।

लोगों की दैनंदिन आवश्यकताओं, यथा-इमारती लकड़ी, ईंधन, चारा, औद्योगिक एवं चिकित्सीय उत्पादों की आपूर्ति की दृष्टि से वनों का व्यापक महत्व है। विकास के लिए विभिन्न योजनाओं की दृष्टि से बढ़ती मांग की आपूर्ति हेतु वन संसाधनों पर अत्यधिक दबाव है, फलस्वरूप मांग और आपूर्ति के बीच अंतर बढ़ता ही जा रहा है। इस अंतर को एक सीमा तक पाटने के लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध सभी सरकारी और निजी भूमि पर वन लगाये जायें।

इससे बढ़कर, यदि वृक्ष के महत्व को महसूस करें और उचित दिशा में सम्यक् प्रयास करें तो, मरुभूमि के विस्तार को रोका जा सकता है। मरुभूमि का विस्तार वृक्षों के महत्व को न समझने के कारण होता है। केंद्र सरकार अभी तक सफल रहे सामाजिक वानिकी कार्यक्रम के माध्यम से समाज में वृक्षों के प्रति जागृति लाने का भरसक प्रयास कर रही है। किंतु इन प्रयासों की गति धीमी है। भारत में प्रतिदिन पूर्ण विकसित एक करोड़ पेड़ काटे जाते हैं। यह आवश्यक है कि वनों के इस विनाश को संतुलित करने के लिए वन विहीन क्षेत्रों में नये पेड़ लगाए जाएं। तथापि वृक्षारोपण और संवर्द्धन हेतु किए जा रहे वर्तमान प्रयासों से ये वृक्ष वर्षों बाद पूर्ण विकसित और काटने लायक होंगे।

वन क्षेत्र में वृक्षारोपण से पूर्ण विकसित पेड़ प्राप्त करने का अनुभव प्राय: नगण्य है। यदि वृक्षों की देखभाल और सुरक्षा ठीक प्रकार से की जाए, तो एक पूर्ण विकसित वृक्ष होने में 40 से 50 वर्ष का समय लगता है। अत: मिट्टी के अपरदन को रोकने, जल संरक्षण, वनप्राणी अभयारण्य और प्रदूषण नियंत्रण के उद्देश्य से इसका तात्कालिक लाभ नहीं मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में भूमि की उर्वरा शक्ति में निरंतर हो रही कमी, घटते लकड़ी के ईंधन, कम हो रही इमारती लकड़ी और लकड़ी के क्षीण हो रहे भंडार को ठीक करने की चुनौती सामाजिक वानिकी के समक्ष है।

हमारी अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों में द्रुत विकास के बावजूद ग्रामीण समाज में समस्याएं विद्यमान हैं। निरंतर बढ़ रही जनसंख्या के कारण ग्रामीण क्षेत्र में कमी आयी है। इसके फलस्वरूप ईंधन, चारा और इमारती लकड़ी में कमी के साथ-साथ बेरोजगारी और अर्द्ध बेरोजगारी में भारी वृद्धि हुई है। इसके लिए एकमात्र निदान यह है कि सामाजिक वानिकी के माध्यम से आम आदमी के लाभ हेतु मनुष्य के निवास-स्थान के इर्द-गिर्द जहां कहीं भी खाली जमीन हो, वहां वृक्ष लगाकर वन क्षेत्र का विस्तार किया जाए। अतएव प्रत्येक परती भूमि, सड़क के किनारे, नदी तट और रेल लाइनों के किनारे पेड़ लगाकर वन संसाधन का विकास किया जा सकता है।

वस्तुत: वानिकी को अन्य क्षेत्रों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। हमारे सक्षम चीन और दक्षिण स्वीडन के उदाहरण हैं। वहां कृषि क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि वनों के विकास में उत्प्रेरक का कार्य करती है। भारत में भी कृषि क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि से सामाजिक वानिकी के महत्वपूर्ण अंग उद्यान वानिकी के विकास में लाभ मिल सकता है। अतएव सन् 1989 में प्रारंभ *जवाहर रोजगार योजना* में सामाजिक वानिकी के कार्य को प्राथमिकता दी गयी है।

भारत में वानिकी

- हमें भूमि उपयोग को वृक्षारोपण के साथ समेकित करना होगा। कार्य नीतियां तय करने और उन्हे समेकित करके वनों को संरक्षित किया जा सकता है
- प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण तथा संयुक्त वन प्रबंधन (जेएफएम) के अंतर्गत वन संसाधनों में स्थानीय लोगों की हिस्सेदारी को मान्यता दी गयी है।
- वनों का संरक्षण अन्य विभागों के सफलतापूर्वक मिलकर कार्य करने पर निर्भर करता है।
- दुर्भाग्यवश समानान्तर विभागों के साथ मिलकर नेटवर्क तैयार करने की दिशा में उच्च स्तर पर अभी तक कुछ भी नहीं हुआ है

सामाजिक वानिकी के लिए सरकार का प्रयास

सन् 1976 में राष्ट्रीय कृषि आयोग ने वानिकी क्षेत्र पर अपनी समीक्षा में दो निर्देशात्मक सुझाव दिये। प्रथम वन विकास निगम की स्थापना के माध्यम से उत्पादन वानिकी पर वृहतर जोर और द्वितीय, ग्रामीण निर्धनों के लिए ईंधन की लकड़ी और चारा उत्पादन हेतु सामाजिक वानिकी कार्यक्रम। सामाजिक वानिकी 'जनता का, जनता द्वारा' कार्यक्रम था। चूंकि सामाजिक वानिकी एक श्रम आधारित वानिकी है, अतएव यह आशा की गयी कि इससे ग्रामीण रोजगार निर्माण में लाभ मिलेगा। ऐसा समझा जाता था कि सामाजिक वानिकी ग्रामीण जंगलों, उद्यान वानिकी और अन्य वृक्षारोपण कार्यक्रमों के माध्यम से देश को हराभरा कर देगा। इसके साथ-साथ यह भी आशा की गयी थी कि इससे भविष्य में वन विनाश पर रोक लगेगी और देश की पारिस्थितिकी का पुनर्निर्माण किया जा सकेगा।

सामाजिक वानिकी की देखरेख सरकार करती थी और खासकर, छठी पंचवर्षीय योजना से अब तक इसके विकास के लिए निधि का प्रावधान रखा जाता था। इंधन की लकड़ी की कमी वाले जिलों में ऐसी लकड़ी की मात्रा में वृद्धि करने हेतु केंद्रीय योजनाएं स्वीकृत की गयी। अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण ने भी सामाजिक वानिकी हेतु उदारतापूर्वक सहायता देना प्रारंभ किया। ये अभिकरण सिर्फ इंधन की लकड़ी और चारे की आपूर्ति बढ़ाने के लिए सहायता नहीं देते थे, अपितु ये इसलिए भी सहायता करते थे कि इसमें ग्रामीण निर्धनों की भागीदारी सुनिश्चित की जा सके, ताकि ग्रामीण संसाधनों का नियंत्रण इन निर्धनों के हाथों में हो।

इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि सन् 1976 में राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सामाजिक वानिकी के निम्नलिखित उद्देश्य स्पष्ट किये:

1. गोबर के स्थान पर इंधन के रूप में लकड़ी की आपूर्ति
2. इमारती लकड़ी की आपूर्ति
3. चारा आपूर्ति
4. वायु से कृषि क्षेत्र की सुरक्षा
5. मनोरंजन की आवश्यकता

स्थानीय संगठनों का महत्व

सामाजिक वानिकी के उद्देश्यों को प्राप्त करने में स्थानीय संगठनों का व्यापक महत्व है। स्थानीय संगठनों की भूमिका को परिभाषित करने और समझने के लिए स्वतंत्र संगठनों द्वारा कई सर्वेक्षण किए गए हैं। जब किसी समुदाय ने अपना संगठन स्वयं स्थापित किया है तथा सदस्यों के बीच लाभ का समान वितरण तथा जलसंभर परियोजनाओं में वृक्षारोपण हेतु प्रत्येक सदस्य के प्रयास को सुनिश्चित किया है, तभी परियोजनाएं लाभकारी सिद्ध हुई हैं।

स्थानीय आवश्यकताओं के अध्ययन के उपरांत स्वैच्छिक संस्थाएं मॉडल स्थापित कर सकती हैं। उन्हें इसकी पहचान करनी होगी कि आवश्यकता की पूर्ति हेतु खास प्रकार की जमीन पर किस प्रजाति के पौधे लगाए जाएं। कार्यक्रम की सफलता लोगों की सहभागिता पर निर्भर करती है। अपने संसाधनों के विनियोजन, उपयोग और प्रबंधन में लोगों की भागीदारी होनी चाहिए। इस संबंध में एक सुझाव यह दिया जा सकता है कि ग्रामीण स्तर पर विभिन्न गतिविधियों की योजना बनाने तथा उनके कार्यान्वयन हेतु ग्रामीण समिति गठित करना चाहिए। निचले स्तर पर योजना बनाने से स्वैच्छिक संस्थाएं शक्तिशाली रहती हैं। उनमें लोगों की आस्था हो और स्थानीय लोगों के उत्साह से उनमें प्राणवायु का संचार होता रहे, इस उद्देश्य से गांव में लोगों को प्रेरित करने वाला एक सशक्त स्थानीय नेता होना चाहिए।

वनों के विकास में संलग्न स्थानीय अभिकरणों की मुख्य भूमिका यह है कि वे वनों का पुनर्सृजन तथा वनवासी समाज का पुनर्गठन करें। स्वैच्छिक क्षेत्र समांग नहीं है, अपितु उनके कई रूप हैं। जहां कुछ स्वैच्छिक अभिकरणों के लिए वृक्षारोपण आय का स्रोत है, वहीं कुछ के लिए यह समाज निर्माण के अंग के रूप में पर्यावरण का पुनर्निर्माण है। अतएव, सफलता स्थानीय अभिकरणों के दृष्टिकोण पर भी निर्भर है।

पश्चिम बंगाल में सामाजिक वानिकी विशेष रूप से सफल रही है, क्योंकि वहां ग्राम पंचायतें भूमि से लाभ पाने वालों की पहचान करने में सक्रिय रूप से संलग्न रही हैं। पश्चिम बंगाल में ग्राम पंचायतों का पुनर्गठन भूमि सुधार के कार्यान्वयन एवं अधिशेष भूमि के वितरण पर आधारित था। ग्रामीण समाज द्वारा वनों की सुरक्षा की सफलता के पश्चात् पश्चिम बंगाल सरकार ने इस कार्यक्रम को राज्य के अन्य भागों में भी लागू किया। स्थानीय संगठनों के बिना लोगों की इसमें सहभागिता और रुचि कायम रखना कठिन है।

स्थानीय संसाधनों के समान वितरण के सिद्धांत का वृक्षारोपण एवं वृक्षों के धारणीय उपयोग से संबंधित सफल परियोजनाओं में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिमालय क्षेत्र के 'चिपको गांवों' में ग्रामीण महिलाओं ने अपनी सामूहिक भूमि में जलावन हेतु लकड़ी एवं चारा के विकास के लिए अपनी पारिस्थितिकी को बचाने के उद्देश्य से अपने आपको संगठित किया। उन्होंने कमजोर ढलानों की पहचान की और भू-स्खलन को रोकने के लिए उन पर वृक्षारोपण किया।

संसाधनों की समान हिस्सेदारी के आधार पर गठित स्थानीय संगठनों का एक अन्य सफल उदाहरण शिवालिक की पहाड़ियों में 'सुखोमाजरी परियोजना' है। सुखोमाजरी गांव तीन-चार साल के दौरान अपने जलसंभर तंत्र की रक्षा करने, भारी अपरदन के कारण चौड़ा हो रहे दर्रे में गांव के पतन को रोकने और गांव की आर्थिक-सामाजिक प्रगति करने में सक्षम रहा है। सुखोमाजरी ने एक जल प्रयोक्ता संगठन की स्थापना की है, जो वर्षा के जल से भरे छोटे बांध के जल में सभी की समान भागीदारी सुनिश्चित करता है। भूमिहीन व्यक्ति को भी इस जल में समान हिस्सेदारी रहती है। वे इसके बदले फसल, रुपये इत्यादि दे सकते हैं। बांध की सुरक्षा में सबका हित निहित रहता है, इसलिए सभी इस बात का ध्यान रखते हैं कि बांध गाद से भरने न पाए।

पहले वन विभाग द्वारा मिट्टी के अपरदन को रोकने के लिए वृक्ष लगाए जाते थे, किंतु इसमें ग्रामवासी सहयोग नहीं करते थे। वन अधिकारी ग्रामवासियों को डराते थे और जलसंभर क्षेत्र में पशु चराते हुए पाए जाने पर उन पर भारी जुर्माना लगाते थे। जैसा कि अन्य जगहों के उदाहरणों से हमें ज्ञात है कि उनकी यह नीति कारगर सिद्ध नहीं हुई। यह तभी संभव हो सका जब ग्रामवासियों ने स्वयं संस्था का गठन किया और प्रत्येक सदस्य की लाभ में समान हिस्सेदारी तथा जलसंभर में वृक्षारोपण हेतु समाज के प्रत्येक सदस्य का प्रयास सुनिश्चित किया।

चेक-बांध बनाने, संग्रहित वर्षाजल की उपलब्धता और जल में समान हिस्सेदारी पर सहमति से गांव की अर्थव्यवस्था में सहसा वृद्धि हुई।

संग्रहित जल, सार्वजनिक चरागाह, वनों के पारंपरिक उपयोग जैसे सार्वजनिक संसाधनों के उपयोग करने से प्रयोक्ताओं की दृष्टि में कालक्रम में उस पर उनका अधिकार हो जाता है। यदि उपयोग की दृष्टि से संसाधन पर प्रयोक्ता का अधिकार आम आदमी के हित में है, तो इसे ग्राम सभा और ग्रामीण समाज द्वारा आम सहमति के माध्यम से ही उपयोग किया जाना चाहिए। ऐसा प्रयोग सुखोमाजरी तथा अन्य सफल परियोजनाओं में घटित हो चुका है।

स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका

सामाजिक वानिकी के कुछ विशिष्ट पहलू हैं, जिनके कारण यह पारंपरिक वानिकी से भिन्न है। सरकारी संस्थाओं तथा अभिकरणों को सामाजिक वानिकी से निबटने में कठिनाई होती है। ग्रामीण समाज, परंपरा, संरचना, प्रवृत्तियां, आवश्यकताएं और आकांक्षाएं एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न हैं। अतएव सामाजिक वानिकी कार्यक्रम में स्वैच्छिक संगठनों की भागीदारी तथा लोगों की सहभागिता हेतु उत्प्रेरित करने की आवश्यकता है।

स्वैच्छिक संगठनों की आवश्यकता

स्वैच्छिक संगठन सामाजिक वानिकी की उन्नति के लिए निम्नलिखित क्षेत्रों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं:

- लोगों की स्थानीय आवश्यकताओं की पहचान।
- सामाजिक वानिकी के कार्यान्वयन हेतु क्षेत्रों की पहचान।
- स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सही प्रजातियों की पहचान और पौधों की मांग पूरा करने के लिए नर्सरी की स्थापना।
- जिस वर्ग के लिए काम करना चाहिए, उसकी पहचान तथा लाभ का वितरण।
- इसके साथ-साथ परिचर्चा, सलाह, बातचीत, कार्यशाला एवं गोष्ठी के आयोजन के रूप में क्रियाकलाप का विस्तार।

सफलता का आकलन

सामाजिक वानिकी कार्यक्रम के विश्लेषण से पता चलता है कि वन विभाग सामाजिक वानिकी के उद्देश्यों को सही अर्थों में नहीं समझ सका है। कई सर्वेक्षणों से यह ज्ञात होता है कि सामाजिक वानिकी जलावन के लिए लकड़ी और चारा बढ़ाने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहा है तथा इससे जिन व्यक्तियों को पर्याप्त लाभ मिला, उनमें ग्रामीण निर्धन शामिल नहीं हैं।

उद्यान वानिकी सामाजिक वानिकी का एक सफलतम पक्ष है। इसके तहत खेतों की मेड़ पर पौधे लगाने के लिए किसानों को पौधे दिए जाते हैं। इसके साथ-साथ किसानों को, खासकर निर्धन किसानों को वृक्षारोपण हेतु प्रेरित करने के लिए पौधे मुफ्त वितरित किए गए। संबंधित विभाग ने मुख्य रूप से यूकेलिप्टस (गंध सफेदा) किसानों के बीच बांटने के लिए केंद्रीयकृत विशाल नर्सरियों की स्थापना की। यूकेलिप्टस का चयन इसलिए नहीं किया गया कि किसान इसे जलावन या चारा के लिए चाहते थे, अपितु यूकेलिप्टस लगाना आसान और सस्ता था तथा इसके लिए बाजार की उपलब्धता के साथ-साथ यह पशुओं के चरने लायक नहीं होता है।

केंद्रीयकृत नर्सरी की स्थापना तथा पौधों के मुफ्त वितरण के पीछे मुख्य कारण यह था कि प्रारंभिक चरण में लक्ष्य प्राप्त करने और इस कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने का दबाव था।

राष्ट्रीय बंजर भूमि विकास बोर्ड ने दो-तीन गांव जिनके बीच में दूरी

कम हो, पर एक विकेंद्रीकृत नर्सरी की स्थापना के लिए प्रोत्साहित किया। निर्धन किसानों को नर्सरी लगाने के लिए आवश्यक सुविधाएं एवं प्रशिक्षण दिया गया। पौधों की प्रजातियों का चयन लोगों की मांग के अनुरूप किया गया तथा इस उद्यम का उद्देश्य निर्धन व्यक्ति को रोजगार प्रदान करना था। ऐसे विकेंद्रीकृत नर्सरी की स्थापना में कम खर्च होता था।

अतएव सामाजिक वानिकी से समाज के लिए आवश्यक वस्तुएं-जलावन, चारा, इमारती लकड़ी व अन्य वस्तुएं प्राप्त हुईं। किंतु सामाजिक वानिकी से संबंधित सभी आशंकाओं को दूर किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इनके चलते इस वानिकी का अभी तक पर्याप्त विकास संभव नहीं हो सका है।

प्रमुख आशंकाएं इस प्रकार हैं-

1. यह आर्थिक रूप से संपन्न किसानों के लिए ही सहायक रही।
2. यह पर्यावरण और समाज के लिए व्यापक से लाभकारी नहीं रही।
3. कई मामलों में तो इससे निर्धनों की स्थिति और अधिक खराब हुई।

चूंकि पेड़-लगाना आर्थिक रूप से वहीं लाभकारी है जहां लकड़ी के लिए बाजार उपलब्ध हो, अत: इस कार्यक्रम से सामान्यत: बड़े किसानों को ही लाभ प्राप्त हुए। निर्धन किसानों की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित सामाजिक वानिकी के असफल होने का एक उदाहरण यह भी है कि बड़े किसानों ने पारंपरिक रूप से रागी के उत्पादन के स्थान पर यूकेलिप्टस लगाना प्रारंभ किया। इसके कई परिणाम निकले। यथा-खाद्यान्न में कमी हुई, खाद्यान्न के दाम बढ़े, कृषि श्रमिकों के रोजगार नष्ट हो गए, क्योंकि यूकेलिप्टस के लिए अपेक्षाकृत कम देखभाल की जरूरत थी।

सामाजिक वानिकी में निजी क्षेत्र की भागीदारी बढ़नी चाहिए। अपेक्षित स्तर पर वृक्षारोपण हेतु निवेश के लिए सिर्फ वित्तीय लाभ के आधार पर निजी क्षेत्र को आकर्षित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बड़े खेतों को पट्टे पर देने के साथ-साथ तटीय क्षेत्र और बंजर भूमि को भी पट्टे पर दिया जाए। जिस कंपनी के पास पट्टा है, भूमि के उत्पाद पर निश्चय ही उसी का अधिकार होना चाहिए। यदि कर छूट नहीं दिया जाता है तो ऐसी सुविधाओं के होते हुए भी नाममात्र का निवेश हो सकेगा और इससे सिर्फ आंकड़ें प्राप्त होते रहेंगे।

चाहे जो हो, वित्तीय लागत-लाभ विश्लेषण के माध्यम से पारिस्थितिकी और रोजगार सृजन में हुई वृद्धि की झलक नहीं भी मिल सकती है। पारिस्थितिकी और रोजगार सृजन में वृद्धि का महत्व प्रतिकूल लागत-लाभ अनुपात से अधिक है। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने घाटियों के उद्धार एवं विकास के लिए उपाय सुझाया है, जिससे प्रतिकूल लागत-लाभ अनुपात को ठीक किया जा सके। कम लागत के लिए वृहतर मानदंड बनाए जाएं तथा किसी विश्लेषण के लिए 10-20 वर्ष की अवधि तक इंतजार किया जाए।

वस्तुत:, सामाजिक वानिकी के क्षेत्र में भविष्य में सार्थक प्रयास करना होगा ताकि अपरदन से हुई हानि से जमीन की रक्षा की जा सके। आवश्यकता है कि जैव-द्रव्य का हमारे सीमित भू-संसाधन में अत्यधिक निर्माण हो और समाज के सभी संबद्ध व्यक्तियों की उसमें हिस्सेदारी हो। इस दिशा में, भविष्य की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु वर्तमान प्रयास पर्याप्त नहीं हैं।

वर्तमान में, देश में प्रतिव्यक्ति वन क्षेत्र की उपलब्धता 0.064 हेक्टेयर है, जो कि विश्व औसत 0.64 हेक्टेयर से कम है (खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार)। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने 4 करोड़ हेक्टेयर भूमि को लकड़ी उत्पादन के लिए वन क्षेत्र के अन्तर्गत लाने और अत्यधिक रोजगार सृजन करने वाले क्षेत्र दुग्ध उद्योग के लिए एक करोड़ हेक्टेयर भूमि रखने का सुझाव दिया। रेशम के कीड़े पालने और कच्चे रेशम से रेशमी वस्त्र बनाने के काम से व्यापक रोजगार सृजन होता है। सामाजिक वानिकी से साबुन निर्माण, कागज की लुगदी निर्माण फैक्ट्री, फर्नीचर उद्योग एवं खाद्य तेल उद्योग जैसे लघु एवं कुटीर उद्योगों को लाभ पहुंचता है। इससे लोगों को अपने निवास स्थान के इर्दगिर्द काम ढूंढ़ने में मदद मिलती है।

सही प्रजाति का चयन

आवश्यकता की पूर्ति के लिए भूमि की शक्ति और पर्यावरण की स्थिति के अनुरूप सही प्रजाति की पहचान होनी चाहिए। स्वैच्छिक संस्थाएं जलावन, चारा एवं इमारती लकड़ी के लिए स्थानीय मांग के अनुरूप प्रजातियों का चयन कर सकती हैं। कभी-कभी लोग जलावन की कमी को देखते हुए अच्छे प्रकार के पौधों को भी प्राथमिकता नहीं देते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि किसानों के मन में यह धारणा है कि इसका लाभ उन्हें नहीं मिलेगा। इसमें शीघ्र बढ़ने वाले बहुउद्देशीय स्वदेशी वृक्षों का काफी महत्व रहेगा। चारा कमी की समस्या से किसान जूझ रहा है, अतएव चारा उत्पादन करने वाली प्रजातियों पर जोर दिया जाए।

अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु निम्नलिखित में से कोई भी प्रजाति लगाई जा सकती है-फल, जलावन एवं चारा के लिए आर्टोकारप्स, इमारती लकड़ी के लिए टेक्टोनाग्रैडिस, दवा के लिए यूकेलिप्टस, नीम इत्यादि और मकान के लिए बांस।

मुख्य लाभ प्राप्तकर्ता

कई स्वतंत्र सर्वेक्षणों से पता चला है कि सामाजिक वानिकी का लाभ मुख्य रूप से एक ओर बड़े किसानों को तो दूसरी ओर कागज, लुगदी और निर्माण उद्योग को मिला है। फिर भी जलावन और चारा की भारी कमी है। सड़क के किनारे वृक्षारोपण हेतु निलामी की जाती है जिसमें शहर के ठेकेदार बोली लगाते हैं न कि स्थानीय लोग। गुलामी के दिनों विकसित प्रशासनिक प्रक्रिया अभी भी चल रही है और निर्धन किसान जिनके कारण सामाजिक वानिकी की शुरुआत हुई, उन्हें उपेक्षित और नजरअंदाज किया जाता है।

सफलता में बाधक तत्व

सामाजिक वानिकी को गति प्रदान करने के लिए सही दिशा में किए गए उचित विकास के बावजूद, इस कार्यक्रम की सफलता में बाधक तत्वों की पहचान करना आवश्यक है। कतिपय सर्वेक्षणों और रिपोर्टों के आधार पर इन तत्वों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

(1) सामाजिक वानिकी के उद्देश्यों तथा उससे प्राप्त वास्तविक लाभ का आलोचनात्मक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि सामाजिक वानिकी के तहत चारा और जलावन प्राप्त करने के लिए वृक्षारोपण को प्राथमिकता देने के कारण निर्धनों के खानपान की स्थिति में सुधार करने में इसका पर्याप्त योगदान नहीं मिल पाया। फलस्वरूप, वन क्षेत्र पर पड़ रहे दबाव में कोई कमी नहीं आयी। कमजोर बंजरभूमि पर आवृत वृक्षारोपण, अनावृत वृक्षारोपण की तुलना में कम हुआ है।

(2) वृक्षारोपण के चयन में निर्धन व्यक्तियों के हित की तुलना में नौकरशाही और विभागीय आदेश अधिक सशक्त रहे हैं। फलस्वरूप जिन परियोजनाओं में सरकार का सहयोग रहा है, उनमें लोगों द्वारा श्रम और धन के योगदान के बावजूद असफलता हाथ लगी है।

(3) सामाजिक वानिकी के एक मूल्यांकन रिपोर्ट के अध्ययन से पता चला है कि निरंतर बढ़ते लक्ष्य और जटिल एवं दुरूह प्रशासन के कारण सहभागिता हेतु लोगों को बहुत कम समय दिया गया। लोगों की इसमें सहभागिता इसका सिद्धांत रहा है, किंतु इसके लिए उचित प्रणाली नहीं अपनायी गयी है।

(4) इसमें निकट भविष्य में लोगों की सहभागिता की संभावना नहीं है,

CHRONICLE IAS ACADEMY

क्योंकि वृक्षों के चयन से लेकर दो वृक्षों के बीच की दूरी तय करने की जिम्मेदारी वन विभाग पर छोड़ दिया जाता है। वन विभाग वृक्षारोपण में केवल वृक्षों से आर्थिक लाभ और पर्यावरण का ध्यान रखता है, न कि लोगों की वर्तमान आवश्यकताओं का। अगली पीढ़ी को मिलने वाले लाभ के नाम पर वर्तमान पीढ़ी को उपेक्षित रखा जाता है। निर्धन व्यक्तियों को वृक्षों से मिलने वाले तात्कालिक लाभ पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। घास, फली, चारा, फल और अन्य छोटे उत्पादों पर ध्यान नहीं दिया गया।

(5) सामाजिक वानिकी कार्यक्रम के अन्तर्गत लघु वन उत्पादों की विपणन व्यवस्था की संरचना और मूल्य पर तुलनात्मक रूप ध्यान दिया ही नहीं किया गया। किसी समय महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाली वन सहकारिताएं आज नष्ट हो चुकी हैं।

(6) सामाजिक वानिकी में लोगों की सहभागिता अपेक्षानुकूल नहीं रही है। परियोजना के कार्यान्वयन में संलग्न कर्मचारियों का दृष्टिकोण भी अनुकूल नहीं रहा है। सरकारी परियोजना में 'मेरा शासन आपकी सहभागिता' जैसे विचार हावी रहे हैं। हालांकि खाद्य एवं कृषि संगठन ने लोगों की सहभागिता को इस प्रकार परिभाषित किया है-'जिस प्रक्रिया के द्वारा निर्धन लोग आपस में संगठित होते हैं और अपने संगठन के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं की पहचान करने हैं और उसके स्वरूप तय करने, कार्यान्वियन और मूल्यांकन हेतु साथ मिलकर काम करते हैं।'

(7) सामाजिक वानिकी में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित करने तथा गैर-वन क्षेत्र के विकास में गैर सरकारी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। राष्ट्रीय बंजरभूमि विकास बोर्ड ने गैर सरकारी संगठनों की सहभागिता हेतु विशिष्ट दिशा-निर्देश विकसित किए हैं। तथापि इस विभाग द्वारा प्रकाशित 'समेकित वन विकास रिपोर्ट' में गैर सरकारी संगठनों के कामकाज को संतोषजनक नहीं बताया गया है।

(8) स्वत: उपलब्ध बचत बैंक के रूप में वृक्षों की मान्यता मिलने के बावजूद छोटे और सीमांत किसान वृक्षारोपण के प्रति उत्साह नहीं दिखाते हैं। सुरक्षा, स्वामित्व, मूल्य-निर्धारण, विपणन और यहां तक कि लाभ प्राप्त करने की समस्या के कारण इसे सकारात्मक सहयोग नहीं मिल पाया है।

(9) इस संबंध में ध्यान देने लायक बात है कि सामाजिक वानिकी कार्यक्रम से मिलते जुलते वन विकास कार्य को अपने में समाहित करने वाले गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत रोजगार निर्माण की योजना है। सरकारी विभागों में आपसी तालमेल के अभाव के कारण ऐसा मेलजोल संभव नहीं हो पा रहा है।

अतएव, सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों की आलोचनात्मक समीक्षा से हमें लोगों की सहभागिता तथा सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों के सक्रिय सहयोग से सामाजिक वानिकी को गति प्रदान करने वाली बिन्दुओं की पहचान में मदद मिलती है।

कार्यनीतियों का सुझाव

विशिष्ट एवं व्यावहारिक कार्यनीतियों का सुझाव देना कोई आसान कार्य नहीं है। तथापि एक वृहत कार्यनीति के निर्माण के लिए संतुलित प्रयास सुझाए जा सकते हैं:

(क) निर्धनों को लाभ प्रदान करने वाले विशिष्ट उपायों की आवश्यकता है। अब जबकि वन कार्मिकों ने अपनी मित्रवत पहचान बनायी है, तो लोगों को ग्राम पंचायत और गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से प्रेरित किया जा सकता है।

(ख) सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों के महत्व को समझने के लिए लोगों को शिक्षित किया जाना चाहिए। तथापि, सामाजिक वानिकी से संबंधित सूचना और ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ लोगों द्वारा सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों को लागू करने के लिए एक 'सुविधा केंद्र' होना चाहिए।

(ग) आगा खां ग्रामीण विकास सहायता कार्यक्रम को इसमें सहभागिता के लिए न सिर्फ सरकार द्वारा एक आदर्श गैरसरकारी संगठन की मान्यता मिली है, अपितु इसने भूमिहीन श्रमिकों से वृक्षारोपण के काम लेने वाला दृष्टिकोण भी विकसित किया है। ऐसे आदर्शों को पुन: व्यवहार में परिणत करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए।

(घ) लाभ-प्राप्तकर्ताओं को उचित सहभागिता के माध्यम से कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्णय लेने की प्रक्रिया को अत्यधिक विकेंद्रीकृत करने की आवश्यकता है। इससे निर्धन व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा समाज एवं अर्थव्यवस्था के बीच संतुलन कायम करने में मदद मिलेगी। इस माध्यम से पारिस्थितिकी स्थायित्व और आर्थिक प्रगति के बीच संतुलन कायम करना संभव है।

निष्कर्ष

सामाजिक वानिकी कार्यक्रम की शुरुआत एक लोकहितैषी कार्यक्रम के रूप में की गई। यह कार्यक्रम ग्रामीण निर्धनों को जलावन, चारा और लकड़ी की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सशक्तिकरण का कार्यक्रम था। वस्तुत: यह एक सरकार के वन विभाग का कार्यक्रम हो गया। सामाजिक वानिकी के अन्तर्गत धन का उपयोग संरक्षित वनों में ही किया जाने लगा। इससे निर्धन व्यक्तियों को सिर्फ रोजगार मिला, किंतु यह एक दु:खद बात है कि यहां भी श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी के बराबर पैसा नहीं दिया गया।

लोगों की सहभागिता सामाजिक वानिकी कार्यक्रम का मुख्य आकर्षण थी, किंतु इसे कार्यरूप नहीं दिया जा सका। ऐसा कहा गया कि लोगों से काम लेना कठिन है, वे जिम्मेवारी नहीं लेना चाहते हैं इत्यादि। नौकरशाही से लोगों की सहभागिता सुनिश्चित नहीं की जा सकती। यह बात विगत पचास वर्षों के अनुभव से सिद्ध हो चुकी है। यही नौकरशाही ने सामाजिक वानिकी सहित अन्य कार्यक्रमों में निर्धनों की सेवा ली और वैसे कमजोर लोग जो प्रतिरोध नहीं कर सकते, उनसे विकास के नाम पर धन संग्रह किया गया।

वृक्षारोपण हेतु गरीबों को भूमि प्रदान करने वाली उचित नीति का अभाव, कमजोर प्रावधानों एवं कानून की वजह से लोगों को प्रोत्साहित करने के बजाय हतोत्साहित किया गया। इससे सामाजिक वानिकी कार्यक्रम का नियंत्रण निहित स्वार्थी तत्वों के हाथों में चला गया। गरीबों की अनदेखी करते हुए उन्हें जलावन और चारा देने के बजाय सामाजिक वानिकी से कागज, लुगदी और निर्माण उद्योग के लिए कच्चे माल प्राप्त किये गये।

नए कार्यक्रम के लिए नई कार्यनीति एवं नई संरचना की आवश्यकता है। सामाजिक वानिकी इस सांगठनिक ढांचा ढालने की आवश्यकता है, जिससे लोगों को इसमें सहभागिता के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। राष्ट्रीय बंजरभूमि विकास बोर्ड एवं राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड के द्वारा संयुक्त रूप से प्रायोजित राष्ट्रीय वृक्षमित्र सहयोग मंडल ऐसी ही एक संस्था है। इस संस्था ने कई राज्यों में जलावन और चारा के लिए वृक्ष उत्पादकों की सहकारिताओं को प्रोत्साहित किया है।

सामाजिक वानिकी और लोगों द्वारा व्यापक वृक्षारोपण सिर्फ एक सरकारी विभाग का कार्यक्रम नहीं हो सकता। इसे एक जनांदोलन होना चाहिए। विद्यालय, महाविद्यालय, नगरपालिका, सरकारी विभाग और अन्य ऐसे संगठनों को वृक्षारोपण करना चाहिए। उन्हें इनकी देखभाल स्वयं अथवा स्थानीय लोगों के साथ ठेकापर करनी चाहिए।

विद्यालय नर्सरी कार्यक्रम

नर्सरी की स्थापना सामाजिक वानिकी कार्यक्रम की एक अत्यंत महत्वपूर्ण गतिविधि है। नर्सरी पास में होनी चाहिए तथा विकेंद्रीकृत नर्सरी की स्थापना की जानी चाहिए ताकि वृक्षारोपण के प्रति लोगों के उत्साह और अभिरुचि को बढ़ाया जा सके। कर्नाटक के चित्रदुर्ग जिला के ताराबालू ग्रामीण विकास संस्थान द्वारा स्थापित नर्सरी को एक आदर्श के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। यह संस्था 157 शैक्षिक संस्थाएं चलाती हैं जो कि सामाजिक कार्यों में विकास हेतु अपने आप में व्यापक संसाधन हैं। कर्नाटक के बंजर भूमि विकास और सामाजिक वानिकी विभाग के साथ जनता के सहयोग से इसने ताराबालू सिडलिंगस परियोजना की शुरुआत सन् 1985 में की। इस उद्देश्य से 60 विद्यालयों में नर्सरी की प्रायोगिक तौर पर स्थापना की गई, जिनमें छात्रों और शिक्षकों की सहभागिता थी। इसके तहत कमजोर भूमि पर वैज्ञानिक रीति से वृक्षारोपण किया गया और सामाजिक वानिकी प्रारंभ की गई।

विद्यालय नर्सरी विकास कार्यक्रम को छात्रों और शिक्षकों का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ। कर्नाटक सरकार के सामाजिक वानिकी विभाग द्वारा विकसित किसान नर्सरी कार्यक्रम द्वारा किसानों को पौधे की आपूर्ति की जाती है। किंतु लोग ताराबालू सिडिलिंग्स के पास जाते हैं, क्योंकि इसके साथ उन्हें अपनापन का बोध होता है। वे सोचते हैं कि इस पौधशाला का विकास उनके बच्चों ने किया है। इसलिए वे किसान नर्सरी की तुलना में ताराबालू को ज्यादा महत्व देते हैं। यदि सामाजिक वानिकी को एक सामाजिक आंदोलन का रूप लेना है, तो इसके केंद्र में जनता को रखना होगा न कि वन अधिकारी और नौकरशाहो को। विद्यालय नर्सरी विकास कार्यक्रम को विद्यालयी बच्चों में निश्चित रूप से पोषण की आदतों पर ध्यान देना होगा।

पट्टे पर वृक्ष लगाने का कार्यक्रम

सामाजिक वानिकी एवं ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अंग के रूप में राष्ट्रीय बंजर भूमि विकास बोर्ड तथा ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा संयुक्त रूप से पट्टे पर वृक्ष लगाने के कार्यक्रम की शुरुआत की गई। इस योजना के अन्तर्गत वृक्षारोपण के उद्देश्य से सार्वजनिक भूमि का उपयोग किया गया। पट्टे धारक को भूमि पर उगे पेड़ और घास से प्राप्त लाभ में भागीदारी का अधिकार दिया गया। शुरू में इस योजना में प्रगति नहीं हुई, क्योंकि इस हेतु भूमि उपलब्ध नहीं थी। शुरू में पथरीली और कमजोर भूमि दी गई, किंतु उसमें कई राजनैतिक और नौकरशाही बाधाएं थीं। नीति के अन्तर्गत करीब 4 करोड़ हेक्टेयर वृक्षहीन वन क्षेत्र को वानिकी विभाग के दिशा-निर्देश में आरक्षित रखा गया और यह व्यवस्था थी कि वृक्षारोपण के उद्देश्य से भी इस भूमि के उपयोग की अनुमति नहीं दी जाएगी। भूमि के बिना सामाजिक वानिकी और वृक्षारोपण के अन्य कार्यक्रम सिर्फ कोरा नारा बनकर कागज पर रह जाएंगे।

कृषि वानिकी

स्वतंत्रता से लेकर आजतक वन क्षेत्र को गैर वन क्षेत्र में बदलने का कार्य निर्बाध रूप से चलता रहा है। सन् 1951 से 1980 तक करीब 43 लाख हेक्टेयर वन क्षेत्र (कृषि हेतु 26 लाख 23 हजार हेक्टेयर, नदी घाटी परियोजना हेतु 50 हजार 200 हेक्टेयर, उद्योग और नगर हेतु 13 हजार 400 हेक्टेयर, संचार लाइन और सड़क हेतु 16 हजार एक सौ हेक्टेयर और विविध कार्यों हेतु 10 लाख 800 हेक्टेयर) को गैर वन क्षेत्र में परिवर्तित किया गया है। इससे प्रतिवर्ष एक लाख पचास हजार वन क्षेत्र में कमी आती है। वन क्षेत्र को गैर वन क्षेत्र में बदलने और मिट्टी के कटाव के परिणामस्वरूप बाढ़, जल जमाव, उर्वरा भूमि का क्षरण और नदियों तथा बांधों का गाद से भरना देखा गया है।

कृषि की शुरुआत स्थानांतरित कृषि के रूप में हुई। लोगों ने जंगल को साफ किया, इसे जलाया, एक-दो फसल उगायी और पुन: दूसरे वनक्षेत्र को साफ किया। जैसे ही सभ्यता का विकास हुआ लोग एक जगह बस कर खेती करने लगे। किंतु कई जनजातीय समाज अभी भी स्थानांतरित कृषि करते हैं। यह अभ्यास इन जनजातीय समुदायों की प्रकृति में रच बस गया है। इस काम को रोकना होगा क्योंकि इससे मिट्टी के अपरदन के कारण वन क्षेत्र नष्ट होता है और पारिस्थितिकी असंतुलित होती है।

देश वन क्षेत्र पर जिन प्रमुख उत्पादों हेतु निर्भर रहता है, वे हैं-जलावन की लकड़ी और हरा चारा। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जलावन के रूप में प्राय: सूखी लकड़ियों का प्रयोग होता है, जिसे ग्रामीण लोग सिर पर ढोकर आसपास के जंगलों से लाते हैं। इस प्रकार जलावन प्राप्त करने का कोई हिसाब नहीं है। वनवृक्ष विज्ञान द्वारा मान्य सीमा के अनुरूप यह 4 करोड़ घन मीटर अथवा 2.5 करोड़ टन से अधिक नहीं होना चाहिए।

जलावन की मांग और आपूर्ति के बीच असंतुलन के कारण वन क्षेत्र का निरंतर विनाश हुआ। जलावन की कमी और बढ़ती जनसंख्या के कारण देश को अजीब मुसीबत का सामना करना पड़ा है। जलावन की कमी के कारण पर्यावरण स्थायित्व को जो खतरा है, वह सर्वविदित है और इसके समाधान के लिए जलावन का उत्पादन बढ़ाने हेतु योजना तैयार है। उत्पादन बढ़ाने से समस्या का समाधान नहीं होगा, अपितु मांग कम करने से ही इसका समाधान हो सकता है। इस दिशा में हमारा प्रयास वैकल्पिक इंधन खोजने का नहीं, अपितु जलावन के बेहतर उपयोग के उपाय को प्रचारित करने का होना चाहिए।

मिट्टी अपरदन की समस्या से करीब 15 करोड़ हेक्टेयर भूमि प्रभावित है। भूपटल के करीब 600 करोड़ टन मिट्टी का नुकसान हुआ है, जिसमें 50 लाख 37 हजार से 84 लाख टन तक नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश जैसे पोषक तत्व भी शामिल हैं। मुख्य रूप से राजस्थान, गुजरात और हरियाणा की 3 करोड़ 20 लाख हेक्टेयर भूमि सामूहिक रूप से वायु अपरदन से प्रभावित है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में नाद, नादिका, नलिका से जल द्वारा अपरदन होता है। मिट्टी के अपरदन के कारण भूमि की उत्पादकता निरंतर प्रभावित होती रही है। अत्यधिक अपरदित भूमि की जुताई कठिन हो गई है। इसमें कई प्रकार के खड्ड बन गए हैं।

कृषि वानिकी से तात्पर्य

भारत में भूमि की प्रकृति और मौसम के अनुरूप भूमि प्रबंधन की प्रणाली एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न है। भूमि में एक सीमा तक जनसंख्या के भरण-पोषण की क्षमता है। इस सीमा से अधिक दोहन के कारण जमीन कमजोर हो जाती है और इसका उत्पादकता पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसे ठीक करना असंभव है। कृषि वानिकी प्रणाली धारणीय भूमि प्रबंधन की बात कहती है। इन पद्धतियों के माध्यम से खाद्यान्न, फल, चारा, जलावन, इमारती लकड़ी इत्यादि प्राप्त की जा सकती है। किस प्रकार की सामग्रियों का उत्पादन किया जाए, यह बात क्षेत्र, जलवायु, मांग इत्यादि पर निर्भर करेगी।

कृषि वानिकी वन क्षेत्र पर पड़ रहे वर्तमान दबाव को कम करने की एक पद्धति है। यह कार्य प्राचीन है, किंतु शब्द आधुनिक है। गत दशक में इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। मौसम की अनिश्चितता और अपरदन के खतरे को देखते हुए फसल को नष्ट होने से बचाने के लिए कृषि के विविध प्रकारों को अपनाया जा सकता है। लोग एक ही खेत में पेड़ लगाते हैं, फसल उगाते हैं और पशु पालन करते हैं। परिवार की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मिश्रित कृषि की यह प्रणाली सदियों से प्रयोग में है।

कृषि वानिकी सामूहिक रूप भूमि के उपयोग और तकनीकी के उस प्रयोग को से कहा जाता है जिसके तहत एक ही खेत में बहुवर्षी पेड़ (पेड़, बांस, ताल इत्यादि) लगाये जाते हैं। खाद्यान्न हेतु फसल उगायी जाती है और पशुपालन किया जाता है। इसके प्रबंधन में स्थान और समय का ध्यान रखा जाता है।

कृषि वानिकी में विभिन्न अवयवों के बीच पारिस्थितिकी और आर्थिक तालमेल रहता है। सामान्य भाषा में खाद्यान्न और चारा के उत्पादन हेतु भूमि के उपयोग को कृषि कहते हैं। दूसरे शब्दों में वानिकी चारा, लकड़ी और अन्य लाभ हेतु भूमि पर पेड़ और झाड़ी लगाने के काम को कहते हैं। कृषि वानिकी दोनों प्रकार के प्रयोग का मिश्रित रूप है, जिसका उद्देश्य खाद्यान्न, चारा, जलावन, फल, लकड़ी और अन्य लाभ प्राप्त करना रहता है।

कृषि वानिकी से लाभ

पर्यावरण की क्षति के प्रति काफी जागरूकता है। गंभीर पारिस्थितिकी दुष्प्रभाव, कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) की मात्रा में वृद्धि, वैश्विक ताप वृद्धि, मिट्टी का अपरदन, लगातार पड़ रहे सूखा, बाढ़ और बढ़ रहे प्रदूषण वन संसाधन में कमी के परिणाम हैं। कृषि वानिकी वृक्षों की संख्या में वृद्धि करने में मदद देती है। जिन पदार्थों के लिए लोग पारंपरिक रूप से वन पर निर्भर थे (लकड़ी, फल, जलावन,चारा इत्यादि) वे अब उन्हें कृषि वानिकी से मिल जाते हैं। अतः इस पद्धति से वन पर दबाव कम होता है तथा उसके संरक्षण और विकास में मदद मिलती है।

विभिन्न क्षेत्र प्रदूषण के खतरे से व्यापक रूप प्रभावित हैं। इनमें वायु, जल और ध्वनि प्रदूषण प्रमुख हैं। वृक्ष विभिन्न प्रकार के प्रदूषण से हमारी रक्षा करते हैं। वन और घास मिश्रित वृक्षारोपण से भू-स्खलन को भी रोका जा सकता है। इस हेतु वृक्ष और घास की प्रजातियों का सावधानीपूर्वक चयन अपेक्षित है। कृषि वानिकी के माध्यम से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। इसके लिए पोषक तत्वों के चक्रण किया जाता है और मिट्टी अपरदन तथा विक्षालन और बहाव से पोषक तत्वों के क्षय को रोका जाता है। अपरदन और विक्षालन को रोकने से बाढ़ से हुए नुकसान को कम किया जा सकता है। बहुत से छीमीदार पौधों के कारण मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा में वृद्धि होती है। वे वातावरण से नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं और जब उनकी पत्तियां मिट्टी में गिरती हैं तो इससे नाइट्रोजन मिट्टी को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये पौधे मिट्टी से जितना नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं, उससे कई गुणा अधिक वे मिट्टी को लौटा देते हैं। ऐसी फसलों के पत्ते का उपयोग हरित खाद के रूप में किया जा सकता है जिससे मिट्टी की उर्वरकता बढ़ती है। इस प्रकार कृषि वानिकी के द्वारा एक अवधि के पश्चात भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ाने में मदद मिलती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत धारणीय भूमि प्रबंधन का प्रावधान है।

इससे कृषि और वन आधारित विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति की जाती है। वानिकी और कृषि वानिकी से कागज, लुगदी, खेल के सामान, फर्नीचर, आटा मिल जैसे उद्योगों की मांग पूरी की जाती है। पहाड़ी पीपल की खेती उत्तरांचल के तराई भागों और हरियाणा में की जाती है। इसका उपयोग खपची बनाने, प्लाइवुड और लकड़ी से बक्से इत्यादि उद्योग में होता है।

इस पद्धति से पौधों और पशुओं की उत्पादकता बढ़ाने में मदद मिलती है। क्योंकि यह प्रणाली पारिस्थितिकी और आर्थिक उन्नति के लिए धारणीय भूमि प्रबंधन और प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन पर आधारित है।

नीति के मुद्दे

भारत सरकार की वन नीति में व्यापक परिवर्तन हुआ है। निजी कृषि भूमि पर उगे पेड़ को काटने और गिराने पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने से सिर्फ निर्धन लोगों के कृषि वानिकी से आय प्राप्त करने पर ही प्रतिकूल असर नहीं पड़ा है, अपितु वृक्षारोपण अभियान को भी क्षति पहुंची है। वन से प्राप्त लकड़ी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना अनुमति ले जाने पर लगे प्रतिबंध के कारण निर्धन व्यक्तियों को काफी समस्याओं का सामना करना पड़ा है। फलस्वरूप वे इन्हें ठेकेदारों के हाथ बेच देते हैं। यह प्रतिबंध जलावन की लकड़ी पर भी लागू है।

जो छोटे और सीमांत किसान फसल उगाने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें वृक्षारोपण, वृक्षों की सुरक्षा तथा पेड़/घास उगाने का मुफ्त प्रशिक्षण दिया जाए। धारणीय भूमि प्रबंधन के लिए राष्ट्रीय कृषि वानिकी नीति का कानून होना चाहिए, जैसा कि राष्ट्रीय वन कृषि नीति के लिए है। इसे पूरे देश में मिशन के तौर पर लागू करना चाहिए।

भविष्य के लिए कार्य योजना

कृषक समुदाय के विभिन्न वर्गों के हित के लिए पेड़ काटने और कृषि वानिकी उत्पाद (यथा-जलावन, चारा और इमारती लकड़ी) के परिवहन पर लगे प्रतिबंधों में ढील देना चाहिए।

वृक्षारोपण हेतु योजना बनाने वालों और इसकी देखरेख तथा सुरक्षा करने वालों की सहभागिता से संयुक्त कृषि वानिकी प्रबंधन किया जा सकता है। इससे सभी को पर्याप्त लाभ मिलेगा तथा प्रति इकाई भू-क्षेत्र से अधिक आय प्राप्त करने वाले उद्यमों के शुरू करने और विकास के लिए प्रेरणा मिलेगी।

धारणीय भूमि प्रबंधन से भूमि समस्या का स्थाई समाधान मिल सकता है। पूरे देश की भूमि को कृषि, वानिकी और चरागाह के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। आखिर लोगों का जीवन-यापन कैसे चलेगा, इसका समाधान कृषि वानिकी से होगा।

कृषि वानिकी के विभिन्न प्रकार

१. **कृषि-वनवर्धन पद्धतिः** इस पद्धति के अन्तर्गत एक ही खेत में फसल के साथ पेड़ उगाए जाते हैं और उनकी देखरेख की जाती है। इसका उद्देश्य भूमि के कुल उत्पादन में वृद्धि करना है।

२. **वन-चारावर्धन पद्धतिः** इस धारणीय भूमि प्रबंधन पद्धति के अन्तर्गत एक ही खेत में पेड़ के साथ चारा उगाए जाता है।

३. **कृषि-वन-चारावर्धन पद्धतिः** यह पद्धति कृषि-वन वर्धन पद्धति और वन-चारावर्धन पद्धति का मिश्रण है। इस पद्धति के अन्तर्गत एक ही भू-खंड पर कृषि और वन उत्पादन के साथ-साथ पशुपालन भी किया जाता है।

४ **कृषि-बागवानी वर्धन पद्धतिः** यदि कृषि उत्पादन के साथ-साथ एक ही भू-खंड पर फल का उत्पादन किया जाता है, तो उसे कृषि-बागवानीवर्धन पद्धति कहा जाता है।

५ **वन-बागवानी वर्धन पद्धतिः** इस पद्धति के अन्तर्गत इमारती लकड़ी और जलावन के लिए पेड़ उगाए जाते हैं और पेड़ों के बीच में उद्यान कृषि की जाती है।

६ **वन-बागवानी-चारा वर्धन पद्धतिः** इस प्रणाली के अन्तर्गत पेड़, उद्यान उत्पाद और घास एक साथ उगायी जाती हैं। इन तीनों की मिश्रित कृषि इस सिद्धांत के आधार पर की जाती है, कि ये मिट्टी के विभिन्न स्तरों से अपने लिए पोषक अवयव खींचते हैं।

७ **वन-कृषि-रेशम वर्धन पद्धतिः** यह कृषि वानिकी की एक जटिल पद्धति है। इस पद्धति के अन्तर्गत पेड़ों के साथ फसल और सब्जियां उगायी जाती हैं (वे पेड़ जिन पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं)। लारवा (डिंमक) का मल-मूत्र फसल और सब्जी के लिए अच्छी खाद मानी जाती है।

८. **वन-कृषि-लाह वर्धन पद्धतिः** इस पद्धति के अन्तर्गत फसल के साथ-साथ लाह उत्पादन के लिए पेड़ लगाए जाते हैं। यह पद्धति झारखंड के छोटानागपुर में प्रचलित है।

९. **उद्यान-वन-कृषि-मधु उत्पादन वर्धन पद्धतिः** भूमि को इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि उसमें एक साथ फूल, फसल और मधु का उत्पादन हो सके। फूल के पौधे से परजीवी और परभक्षक जीवों में वृद्धि होती है और यहां नियंत्रण-प्रतिकूल जैव-नियंत्रण पद्धति कार्य करती है।

१०. **बहु स्तरीय कृषि वानिकी पद्धतिः** यह उत्पादन के प्राकृतिक और परंपरागत प्रयोगों का मिश्रण है। यह एक लाभकारी उत्पादन पद्धति है। इस प्रकार की पद्धति दक्षिण भारत के तटीय भागों में प्रचलित है, जहां नारियल, कालीमिर्च और कसवा की खेती होती है।

११. **जल-कृषि-उद्यान-चारा उत्पादन वर्धन पद्धतिः** इस पद्धति के अन्तर्गत तालाब और नदी तट के ढलान पर फलदार वृक्ष लगाए जाते हैं और इन वृक्षों के बीच में कृषि फसल और चारा हेतु फसल लगायी जाती हैं। वृक्ष के पत्तों का पानी में गिरने से मछलियों को पोषक तत्व मिलते हैं।

वन-वर्धन (वृक्ष-वर्धन विज्ञान)

वानिकी संबंधित उत्पादों के सतत उत्पादन के लिए वन का वैज्ञानिक प्रबंधन आवश्यक है। इसका संबंध वृक्ष उत्पादन, संरक्षण और वनों के वैज्ञानिक प्रबंधन सहित संसाधनों के विवेकपूर्ण दोहन के लिए सिद्धांत और प्रयोग से है।

वृक्षवर्धन विज्ञान वन फसल उत्पादन के लिए कला और विज्ञान का समिश्रण है। वन फसल उत्पादन के अन्तर्गत प्राकृतिक अथवा कृत्रिम कारणों से पुराने अथवा सूखे हुए पेड़ नष्ट होने पर पुनः पेड़ लगाने और अपने पूरे समय तक पेड़ की रक्षा के लिए उपाय किया जाता है। इसके अन्तर्गत फसल उत्पादन से लेकर काट-छांट के दौरान पेड़ को मजबूत बनाने तक का समस्त कार्य सम्मिलित है। जहां 'खेती करना' एक सामान्य पद है वहीं वनवर्धन के अन्तर्गत आवश्यक रूप से लाभकारी न होते हुए भी पुनर्उत्पादन के लिए तैयार करना, फसलों का सही विकास करना और पेड़ गिरने से हुई क्षति की पूर्ति करना आता है।

समय पर स्वाभाविक रूप से पुनर्उत्पादन के लिए वन में व्याप्त पारिस्थितिकी का अध्ययन करना पड़ता है और इसमें एक सीमा तक परिवर्तन करना पड़ता है, ताकि पेड़ फिर से उगाए जा सकें और वे जीवित रहें।

■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

10 प्रदूषण

मानव का अपने प्राकृतिक पर्यावरण से बहुउद्देशीय संबंध है। समय के साथ इस निर्भरता में परिवर्तन आया है। हजारों वर्ष से उनका भौतिक पर्यावरण विकास की दिशा तय करता रहा है। अपनी आवश्यकता के अनुरूप मानव ने पर्यावरण को प्रभावित किया है। विकास के दौरान अपने रहन-सहन की स्थिति में सुधार करने के दौरान मानव ऐसी दीर्घकालीन समस्याओं को जन्म दिया है, जो उसके प्राकृतिक पर्यावरण और अस्तित्व के लिए घातक है।

प्रदूषण का खतरा मानव सभ्यता के ऊपर मंडरा रहा है। जल तथा वायु प्रदूषण मानव की लापरवाही के कारण भयंकर रूप ले चुका है। पर्यावरण सुरक्षा पर ध्यान दिये बिना औद्योगिक गतिविधि के कारण खतरा बढ़ गया है।

पर्यावरण संतुलन बिगड़ने से बचाने के लिए सकारात्मक कार्यों के प्रति जन-चेतना का विकास हुआ है। पर्यावरण संसाधन को वैश्विक संपत्ति मानना चाहिए। इसके संरक्षण से न सिर्फ स्थानीय लोगों को लाभ पहुंचता है, अपितु उस क्षेत्र के प्राणी और वनस्पति को भी लाभ पहुंचाता है। राष्ट्र का अस्तित्व और कल्याण धारणीय विकास से संभव है। इससे भविष्य में संकट उत्पन्न किये बिना सभी वर्गों के हितों की रक्षा होती है। इससे आर्थिक और पारिस्थितिकी लाभ हैं। वर्तमान और भविष्य की पीढ़ी के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु वन की क्षमता से अधिक दोहन नहीं होना चाहिए। औद्योगिकी और विकास कार्य के गलत स्थानों पर परिचालन से शहरी क्षेत्रों में प्रदूषण बढ़ा है। इससे ग्रामीण जनसंख्या तथा संसाधन का प्रवाह शहरों की ओर बढ़ा है। जीवनदायनी स्रोत, नदियों में इससे प्रदूषण बढ़ा है। नदियों में प्रदूषण का असर नदियों से प्राप्त होने वाले उत्पादों पर पड़ा है।

ताजमहल का प्रदूषित होना अपने आप में निरीक्षण करने वाले लोगों की कर्तव्यहीनता तथा उत्तरदायित्व विहीन रवैये को दर्शाता है। नागपुर के राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान के आंकड़ों के आधार पर दो वर्ष पूर्व उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि ताजमहल के दो-तीन किलोमीटर की परिधि में विशेष प्रकार के पेड़ लगाये जाने चाहिए। ताजमहल के चारों ओर पर्यावरण प्रदूषित होने से देश में पर्यावरण की स्थिति का पता चलता है। यह जन-जागृति के अभाव के कारण नहीं, अपितु गंदगी फैलाने की आदत के कारण हुआ है।

पर्यावरण के प्रति जागृति तो है। परंतु बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो सोचते हैं कि जो सांस वे ले रहे हैं उसे वे प्रदूषित न करें। कार में शीशा युक्त पेट्रोल का प्रयोग पर्यावरण के लिए खतरनाक है। बिजली कटने पर डीजल जेनरेटर चलाने से महानगरों में वायु प्रदूषित होती है। राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान द्वारा किये गये सर्वेक्षण के आधार पर पता चलता है कि प्रदूषण का घातक असर मानव के पारिस्थितिकी पर पड़ रहा है। वायु संसाधन प्रबंधन योजना के सक्षम कार्यान्वयन के अभाव में स्थिति बदतर हो गयी है। सामान्य रूप से प्रदूषण के प्राथमिक तथा माध्यमिक मानदंड हैं। प्रथम कोटि के अंतर्गत छोटे-छोटे प्रदूषित कण, सल्फर डाई ऑक्साइड, नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड, अमोनिया तथा हाइड्रोजन सल्फाइड हैं। द्वितीय कोटि के अंतर्गत विषैले पदार्थ हैं।

छोटे और मध्यम स्तर की कंपनियों द्वारा व्यापक स्तर पर प्रदूषण फैलाए जाते हैं। इनकी कंपनियों से निकलने वाले कचरे के शोधन के लिए संयंत्र नहीं होता है। फलतः भूमिगत जल सहित अन्य स्रोत प्रदूषित होते हैं। प्रदूषित पदार्थ नजदीक के नलकूपों और जल स्रोतों में जले जाते हैं और उन क्षेत्रों में स्वच्छ पेय जल का अभाव हो जाता है।

वायु प्रदूषण

वायु गैस, जलवाष्प तथा अक्रियाशील पदार्थों का मिश्रण है, तथा यह पृथ्वी पर जीवन चक्र को नियंत्रित करता है। यह मानव तथा अन्य प्राणी के लिए उपयोगी ऑक्सीजन तथा वनस्पति के लिए उपयोगी कार्बन डाई ऑक्साइड का भंडार है। वायु प्रदूषण का असर विश्व पर पड़ेगा। वायु पृथ्वी के चारों ओर चादर का काम करती है। वायु के बिना बादल, वर्षा, हवा, वर्ष और अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में वायु के बिना पृथ्वी पर जीवन ही संभव नही है।

वायुमंडल सूर्य की पराबैंगनी किरणों से हमारी रक्षा करता है। वायुमंडल का 75 प्रतिशत भाग 16 किमी. के अंदर है। गैसों से वायुमंडल की संरचना नियंत्रित होती है। समुद्री स्तर पर स्वच्छ, शुष्क वायु में 78 प्रतिशत नाइट्रोजन, 21 प्रतिशत ऑक्सीजन, 1 प्रतिशत आर्गन तथा 0.03 प्रतिशत कार्बन डाई ऑक्साइड और अन्य गैसें हैं।

वायु में उपस्थित सभी प्रमुख एवं गौण अवयव जैविक रूप से महत्वपूर्ण हैं। जीवन के लिए सभी का महत्व है। इनमें से किसी में मामूली परिवर्तन से जीवन चक्र असंतुलित हो जायेगा। जो अवयव मानव के लिए विषैला साबित होता है, वह प्रदूषित पदार्थ कहलाता है। यह इन दिनों वैश्विक समस्या है।

पारिस्थितिकी में प्रत्येक तत्व की क्रिया-प्रतिक्रिया एकीकृत है, अतः जीवनदायिनी प्रणाली योजनाबद्ध है। किन्तु जब मानव इसमें थोड़ा भी असंतुलन पैदा करता है, तो प्रदूषण फैलता है। बढ़ रहे औद्योगीकरण, परिवहन, कीटनाशक तथा अवांछित रासायनिक पदार्थों के उपयोग से संपूर्ण वायुमंडल प्रदूषित हो गया है। इसका दुष्प्रभाव न सिर्फ मानव और अन्य प्राणियों पर पड़ा है, अपितु स्वयं पर्यावरण पर भी।

वायु प्रदूषण को वायु में विभिन्न गैसों की मात्रा में असंतुलन से उत्पन्न दुष्प्रभाव के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। औद्योगिक, वाहन निर्माण और घरेलू कार्यों से पर्यावरण को दिनानुदिन अधिक नुकसान पहुंच रहा है। विभिन्न प्रकार के प्रदूषक पदार्थ वायुमंडल में मिलते हैं और सफाई के दौरान उन्हें दूर किया जा सकता है। जब प्रदूषण वायुमंडल के स्वतः स्वच्छ करने की क्षमता से अधिक हो जाता है, तो उससे मानव को क्षति पहुंचती है।

प्रदूषण के कारण जलापूर्ति में कमी

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने एक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रदूषण के सूक्ष्म कारक पृथ्वी की जलापूर्ति को गंभीर रूप से प्रभावित कर सकते हैं। इनके अनुसार प्रदूषण कारक पृथ्वी पर वर्षा होने में बाधा उत्पन्न करते हैं, जिसमें ताजे जल की आपूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। ज्ञातव्य है कि वलग्नि एवं फौसिल ईंधन के जलने से जो सूक्ष्म एयरोसोल कण बनते हैं, वे अब पृथ्वी के जल चक्र को पहले से अधिक प्रभावित करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार जल का उपयोग विगत 70 वर्षों में 6 गुना अधिक हो गया है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार, वायु प्रदूषण का एकमात्र कारण औद्योगीकरण नहीं है। जहां औद्योगीकरण नहीं है, वहां भी शुष्क मौसम में भारी प्रदूषण हो सकता है।

कटु सत्य यह है कि जनसंख्या की दृष्टि से विश्व के दूसरे सबसे बड़े देश भारत की जनसंख्या 1.21 अरब हो गयी है। इस विशाल जनसंख्या का भारी दबाव देश के भू-सामाजिक आधारभूत संरचना पर पड़ा है और इसका असर इसके पर्यावरण पर देखा गया है। जैविक, पारिस्थितिक और वायुमंडलीय पर्यावरण की क्षति का सीधा दुष्प्रभाव प्राणी के जीवन स्तर और प्राकृतिक संसाधनों पर पड़ा है। भारत में पर्यावरण क्षति में स्थान के मुताबिक फर्क है। यह उस क्षेत्र में जनसंख्या घनत्व, निवासियों के संसाधनों के उपयोग की प्रवृत्ति तथा प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर करता है।

पर्यावरण को वायु प्रदूषण से सर्वाधिक क्षति होती है। वायु प्रदूषण के कारण नेत्र तथा सांस रोग में वृद्धि हो रही है। अतएव इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती है। विज्ञान एवं पर्यावरण केंद्र के अद्यतन अध्ययन में यह बात स्पष्ट की गयी है कि प्रत्येक वर्ष भारत के 36 शहरों में करीब 52000 लोगों की वायु प्रदूषण से अकाल मृत्यु होती है और दो करोड़ साठ लाख लोग अस्पताल में भर्ती होते हैं। अकाल मृत्यु सांस बीमारी, हृदय रोग, अस्थमा, गठिया, श्लेषमा, उच्च रक्त चाप, मानसिक असंतुलन, तथा बच्चों में बुद्धि–लब्धि की कमी के कारण होती है। महिलाओं, वृद्धों और पांच साल से कम के बच्चों में ये रोग अधिक पाये जाते हैं।

बदतर हो रहे इन स्थितियों के पीछे नि:संदेह औद्योगीकरण, शहरीकरण, अविवेकपूर्ण रीति से वृक्षों को नष्ट करने तथा अन्य कारणों का हाथ है। भारत में वायु प्रदूषण में औद्योगीकरण और शहरीकरण का सर्वाधिक योगदान है। ग्रामीण क्षेत्रों में जैव ईंधन के जलाने से अधिक प्रदूषण फैला है, जो वाहन और उद्योग से उत्पन्न होने वाले प्रदूषण की तुलना में अधिक खतरनाक हैं।

भारत के दो तिहाई घरों में जैव उत्पाद, फसल के शेष भाग, खनिज कोयला, जलावन और उपला आदि का ईंधन के रूप निर्भरता है। इनके जलने से उत्पन्न प्रदूषण अन्य प्रदूषण की तुलना में घातक हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड का आकलन है कि बिना उचित वायु निकास की व्यवस्था वाले घरों में ईंधन जलाने से उत्पन्न प्रदूषण निर्धारित मानदंड से 20 गुना अधिक है। कचरा जलाने से भी वायु प्रदूषित होती है। इंदिरा गांधी विकास शोध संस्थान, मुम्बई के आकलन के अनुसार भारत के प्रमुख 23 शहरों में दिल्ली सबसे अधिक प्रदूषित है। इसके बाद क्रमश: मुम्बई, कलकत्ता, बंगलौर, चेन्नै, कानपुर इत्यादि का स्थान है। इसमें औसत से काफी अधिक प्रदूषक पदार्थ हैं।

भारत में प्रदूषण की भयावह स्थिति पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है। क्योंकि नियम कार्यान्वित करने वाली संस्थाएं स्थानीय स्तर पर कार्यरत नहीं हैं। स्थिति में परिवर्तन के लिए वर्तमान में प्रयास चल रहे हैं। वायु प्रदूषण रोकने के लिए कानून का कड़ाई से पालन, नियंत्रण के उपाय तथा नई नीति अपनाये जाने की आवश्यकता है। वाहन प्रदूषण को रोकने के लिए नयी रणनीति अपनायी जा रही है। वायु प्रदूषण में वाहन प्रदूषण का 70 प्रतिशत योगदान है। आने वाले वर्षों में इसमें वृद्धि होने की संभावना है, क्योंकि वाहनों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हो रही है।

वायु प्रदूषण के स्रोत

१. **शहरीकरण:** शहरीकरण के घातक परिणाम सामने आये हैं। शहरीकरण के कारण वायु प्रदूषण में वृद्धि हुई है। इसके कारण वाहनों की संख्या, आवास, औद्योगीकरण एवं ऊर्जा खपत में वृद्धि हो गयी है। शहरीकरण के कारण नागरिक सुविधा में विकास से अधिक औद्योगीकरण हुआ है। औद्योगीकरण के मुताविक प्रदूषण नियंत्रक तंत्र का विकास नहीं हो पाता है।

भारत में वाहन प्रदूषण का योगदान वायु प्रदूषण में 70 प्रतिशत है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दिल्ली का स्थान विश्व के 10 सर्वाधिक प्रदूषित शहरों में है। भारत के प्राय: सभी शहरों में स्थापित मानक से अधिक प्रदूषण है। राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान, विश्व बैंक तथा आई जी आई डी आर के अनुसार वायु प्रदूषण से दिल्ली में प्रति वर्ष स्वास्थ्य खर्च 117 करोड़ तथा 32 करोड़ मूल्य की वनस्पति का नुकसान होता है। इसी प्रकार मुम्बई में प्रति वर्ष वायु प्रदूषण से 10 करोड़ रूपये स्वास्थ्य पर अधिक खर्च होता है।

शहरीकरण के कारण तकनीकी में नाटकीय ढंग से सुधार होने से लोगों का रहन-सहन आरामदेह हुआ है। तकनीकी के विकास के कारण घर के अंदर प्रदूषण में वृद्धि हुई है। बड़े और अधिक प्रदूषित शहरों में घर के अंदर की वायु बाहर की वायु की तुलना में अधिक प्रदूषित हो सकती है। महिलाओं का 90 प्रतिशत समय घर के अंदर व्यतीत होता है। फलत: घर के अंदर की वायु के कारण कई लोगों के स्वास्थ्य को भयंकर खतरा पहुंच सकता है। घर के अंदर वायु प्रदूषण के कई स्रोत हैं।

धूम्रपान से घर में प्रदूषण फैलता है क्योंकि इसमें कार्बन मोनोऑक्साइड, फार्मल्डिहाइड और अन्य हानिकारक तत्व मौजूद होते हैं। तम्बाकू के धुएं को पुराना धुआं माना जाता है। इस धुआं को सूंघने वाले निष्क्रिय धूम्रपानकर्ता कहलाते हैं। एस्बेस्टस, फर्निशिंग जैसे भवन निर्माण सामग्री तथा एरोसोल, गोंद तथा पेंट, जैसे पदार्थों से प्रदूषण फैलता है। इससे फेफड़े की बीमारी, पेट के कैंसर तथा स्मृति नष्ट होती है। चूल्हे के धुएं, रूम हीटर तथा सफाई के पदार्थों से भी प्रदूषण फैलता है।

२. **औद्योगीकरण एवं अन्य विकास गतिविधियां:** तीव्र गति से औद्योगीकरण के कारण वायु प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। विभिन्न औद्योगीकरण प्रक्रियाओं से वायु में विभिन्न प्रकार के प्रदूषक तत्व मिलते हैं। सीमेंट, लोहा, स्टील, उर्वरक, पेट्रोकेमिकल्स इत्यादि उद्योग चिंता के विषय हैं, क्योंकि इनसे उत्सर्जित प्रदूषण को नियंत्रित करना कठिन है। अम्ल वर्षा पर्यावरण के लिए खतरा बन गया है। पेंट, स्प्रे पॉलिश इत्यादि के प्रयोग बढ़ने से विरंजक का उपयोग बढ़ता जा रहा है। इन पदार्थों में हाइड्रो कार्बन की उपस्थिति से स्वास्थ्य संबंधी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि में कीटनाशक के छिड़काव से वायु प्रदूषण हुआ है।

भारत में 60 प्रतिशत ऊर्जा की आपूर्ति व्यवसायिक ऊर्जा के स्रोत से होती है तथा गैर-पारंपरिक और पुनर्दोहनीय ऊर्जा स्रोत से 40 प्रतिशत आवश्यकता की आपूर्ति होती है।

भारत के निम्न स्तरीय कोयला पर निर्भरता के कारण भारी मात्रा में कार्बन का उत्सर्जन होता है। इस प्रकार के कोयला में कार्बन की अधिक मात्रा होती है। कोयला देने वाले पेड़ों के निम्न ऊर्जा क्षमता के कारण कार्बन उत्सर्जन में बढ़ोत्तरी हुई है। सीमेंट, उर्वरक, वस्त्र उद्योग, लोहा एवं इस्पात, अधातु उत्पाद, कागज, खाद्यान्न उत्पाद, सहित रासायनिक उद्योगों से भारी मात्रा में हानिकारक गैसों तथा यौगिक मायुमंडल में उत्सर्जित होते हैं।

३. **वन विनाश:** लकड़ी का जलावन के रूप में प्रयोग भारत में वायु प्रदूषण के मुख्य स्रोतों में से एक है। गृह-कार्य में जलावन के भारी उपयोग से काफी मात्रा में वायु प्रदूषण होता है, तथा इससे वन संसाधन का विनाश भी होता है। इसके अतिरिक्त शहरी आधारभूत संरचना के विकास के साथ वन संसाधन का अपक्षय होता है। यह मांग पक्की राजपथ और बेहतर निवास स्थान के निर्माण के कारण बढ़ जाती है। फलत: व्यापक पैमाने पर वन संसाधन के उपयोग से गंभीर आर्थिक, पर्यावरण और सामाजिक खतरे उत्पन्न हुए हैं। यह एक गंभीर राष्ट्रीय समस्या है। और इस ओर योजना निर्माताओं तथा पर्यावरण विशेषज्ञों का ध्यान गया है। भारत में वन क्षेत्र का अपेक्षित क्षेत्रफल से कम विस्तार

CHRONICLE IAS ACADEMY

है। वन संसाधन के विनाश, SO_2, CO और CO_2 के उत्सर्जन में वृद्धि होने से अम्ल वर्षा, वैश्विक ताप वृद्धि और अन्य भयानक घटनाओं में वृद्धि हुई है।

४. **वाहन से निर्गत प्रदूषित पदार्थः** कम समय में अधिक दूरी तय करने में मोटर वाहन मानव के लिए वरदान साबित हुआ है। मोटर वाहनों की संख्या में दिनानुदिन वृद्धि होने से वायु प्रदूषण और पर्यावरण को क्षति पहुंच रही है। आंतरिक दहन से उत्पन्न प्रदूषित पदार्थ मानव के स्वास्थ्य के लिए तथा पर्यावरण के लिए इस तकनीकी युग में सबसे बड़ा खतरा है।

डीजल इंजन से निकले वाले प्रदूषित पदार्थ में कार्बन मोनो आक्साईड, हाइड्रोजन ऑक्साइड, आर्गेनिक एसिड इत्यादि होते हैं। कार्बन मोनो आक्साईड तथा नाइट्रोजन आक्साइड विषैले पदार्थ हैं।

स्वास्थ्य पर वायु प्रदूषण का प्रभाव

	प्रदूषणकारी तत्त्व	स्वास्थ्य परअल्पकालिक प्रभाव	दीर्घकालिक प्रभाव
1.	कार्बन मोनोऑक्साइड	शरीर के तंतुओं तक आक्सीजन ले जाने की रक्त में मौजूद हीमोग्लोबिन की क्षमता का घटना	केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव, स्नायु दुर्बलता दृष्टिहीनता, फुफ्फुस के कार्य में परिवर्तन
2.	नाइट्रोजन के ऑक्साइड	दर्द, खांसी	श्वास संबंधी रोग, फुफ्फुस की दीवार की कोशिकाओं में परिवर्तन
3.	सल्फर डाइऑक्साइड	दमा का आक्रमण	फुफ्फुस की कार्यक्षमता में कमी
4.	कार्बन डाइऑक्साइड	खांसी, दमा	श्वास एवं हृदय संबंधी रोग
5.	हाइड्रोकार्बन	दर्द, खांसी, आंखों में जलन	अनेक प्रकार के रोग
6.	सीसा	शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव में कमी	यकृत एवं गुर्दे में विकार, प्रजनन क्षमता
7.	धूलकण	कई-रोगों का आक्रमण	विषाक्तता एवं कैंसर

शीशा एक विषैला तत्व है और पर्यावरण में इसका मुख्य स्रोत शीशायुक्त गैसोलीन है। पर्यावरण में शीशे की मौजूदगी सभी प्राणियों तथा पर्यावरण के लिए खतरा है।

5. गरीबीः भारत की दो तिहाई जनसंख्या गरीबी में जीवन यापन कर रही है। उन्हें दो वक्त की रोटी मुश्किल से नसीब होती है। चूंकि यह जनसंख्या का एक व्यापक भाग है, इसलिए इनके द्वारा फैलाये गये प्रदूषण को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। ये लोग उपला, तने तथा लकड़ी का ईंधन के रूप में प्रयोग करते हैं, जिनसे काफी मात्रा धूंआ निकलता है। पारंपरिक चूल्हे, जिनमें धुआंकश (चिमनी) नहीं होता उनके उपयोग से अधिक प्रदूषण फैलता है, जो जीवन के लिए खतरनाक है। शौचालय की उचित सुविधा के अभाव में वे खुले मैदान में पैखाना करते हैं। कचड़े को खुले भाग में फेंकने से सड़ने पर उनसे कार्बन मोनो आक्साइड तथा मीथेन जैसी विषैली गैसें निकलती हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उद्योग तथा वाहनों की संख्या में विस्तार से प्रदूषण दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है। अब समय आ गया है कि हम वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव से अवगत हों तथा इसकी रोक-थाम के लिए उपाय करें।

वायु प्रदूषण का दुष्प्रभाव

प्रदूषण तथा कोहरा से हमें गंभीर बीमारियों से जूझना पड़ता है। दीर्घ काल तक प्रदूषण के प्रभाव से जीवन के सामान्य गतिविधियों पर असर पड़ता है। वायु में नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड की मात्रा बढ़ने से एलर्जिक बीमारियों में बढ़ोत्तरी हुई है। इस तरह बीमारियों में भूख की कमी, उलटी, नाक तथा आंख की श्लेषमा प्रमुख हैं। वायु में विषैले पदार्थों की मौजूदगी से दमा, फेफड़े की बीमारी और सांस–संबंधी बीमारियां होती हैं। करीब 80 प्रतिशत कैंसर के रोग वायु में विषैले पदार्थो की मौजूदगी के कारण होता है। वाहन से निकलने वाले कार्बनिक पदार्थ मस्तिष्क, यकृत और गुर्दा और रक्त द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। इनके कारण मांस पेशियों पक्षाघात, मानसिक अपंगता तथा मौत होती है। यूरेनियम युक्त मिट्टी से निकलने वाली गैस के अधिक देर तक संपर्क में रहने से फेफड़े का कैंसर होता है। अधिकाधिक लोग पाचन तंत्र की बीमारियों से ग्रस्त हो रहे हैं तथा उनमें रोग–निरोधी क्षमता घटती जा रही है। वायु प्रदूषण से सर्वाधिक क्षति बच्चों को होती है।

मानव स्वास्थ्य, प्राणी और वनस्पति पर दुष्प्रभाव

कुछ विषैले प्रदूषक पदार्थों से गंभीर बीमारियों तथा यदाकदा मौत हो जाती है। अन्य प्रदूषक पदार्थ हानिकारक हो सकते हैं, तथा बीमारियों के लक्षण प्रकट होने में वर्षों या दशक लग सकते हैं। वायु प्रदूषण से मुख्य रूप से श्वसन तंत्र प्रभावित होते हैं। प्रदूषित वायु के संपर्क में रहने से ब्रोंकाइटिस, दमा तथा फेफड़े के कैंसर होते हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रदूषित वायु में कार्सिनोजेन की उपस्थिति से फेफड़े का कैंसर होता है। शहरी क्षेत्र में इससे मृत्यु दर का स्तर ऊंचा है। सल्फर डाई ऑक्साइड सबसे खतरनाक प्रदूषक पदार्थ माना जाता है। इसकी कम मात्रा के कारण श्वसन नली में तनाव आता है तथा अधिक मात्रा में उपस्थित होने पर श्लेषमा निर्गत होता है। इससे फेंफड़ा, मांसपेशी तथा आंख संबंधी बीमारियां आती हैं। सल्फर डाई ऑक्साइड से एलर्जी भी होती है। कुछ पदार्थों के साथ जब यह प्रतिक्रिया करती है, तो गंधकाम्ल का निर्माण होता है, जो फेफड़े को क्षतिग्रस्त कर सकता है।

कार्बन मोनो ऑक्साइड रक्त में ऑक्सीजन संचरण की क्षमता को अक्सर प्रभावित करती है। नाइट्रिक ऑक्साइड पलमेनरी को उत्तेजित करने वाला पदार्थ माना जाता है। इसकी मात्रा से पलमनरी (फुपुसी तंत्र) प्रभावित होता है। हाइड्रोजन सल्फाइड भी विषैला पदार्थ है। मोटर वाहन से निकलने वाला शीशा खासकर बच्चों के लिए खतरनाक है और इससे मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होता है।

वायु प्रदूषण का दुष्प्रभाव मानव की ही तरह अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों पर भी समान रूप से असर पड़ता है। सतत पदूषित पदार्थों के संपर्क से चारा दूषित होता है। प्रदूषक धातुओं में आर्सेनिक, शीशा और माल्बिडेनम प्रमुख हैं। फ्लोराइड जैसे प्रदूषक पदार्थ से जानवरों में फ्लोरोसिस नामक बीमारी होती है। उत्तरी अमेरिका में आर्सेनिक से कई जंतु प्रभावित होते हैं। अत्यधिक फ्लोराइड के कारण जंतुओं को घाव होता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

वायु प्रदूषण से वृक्ष, फल, सब्जी, फूल और संपूर्ण वनस्पति जगत पर असर पड़ा है। फ्लोराइड के कारण बहुत से पौधों को क्षति पहुंचती है। सेब, सूबानी, नाशपाती के पत्तों पर फ्लोराइड का अधिक प्रभाव पड़ता है। फ्लोराइड के कारण पौधों के श्वसन और प्रकाश संश्लेषण प्रभावित होते हैं। कोहरे से भी पौधे को क्षति होती है। पौधों को ओजोन से भी वैसी ही क्षति पहुंचती है। क्लोरीन, अमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड इत्यादि भी वनस्पति जगत के लिए हानिकारक हैं।

घर के अंदर वायु प्रदूषण: घर के अंदर प्रदूषण फैलाने वाले मुख्य चार स्रोत हैं- दहन, भवन निर्माण सामग्री, भवन के नीचे जमीन तथा जैविक कारक। ये भी बाहर के प्रदूषक पदार्थ जैसे ही हानिकारक हो सकते हैं। घर के अंदर वायु–निकास के अभाव में प्रदूषण फैलता हैं। जहां लोग अंदर जैव पदार्थों के दहन से प्रदूषण फैलता हैं। जहां लोग खाना बनाने तथा गर्मी के लिए पारंपरिक चूल्हा तथा ईंधन का उपयोग करते हैं, वहां घर के अंदर वायु प्रदूषण ज्यादा फैलता है। घर के अंदर बंद क्षेत्र में कोहरा तथा धुआं से प्रदूषण बढ़ता है। केरोसिन तेल और और गैस का दहन भी पूर्णतया प्रदूषण मुक्त नहीं है। फिर भी पारंपरिक ठोस ईंधन की अपेक्षा, इससे प्रदूषण कम फैलता है। इन परिस्थितियों में घर के बाहर की तुलना में अंदर में प्रदूषण अधिक होता है। घर के अंदर के प्रदूषक पदार्थों से स्वास्थ्य संबंधी समस्या घर के बाहर के प्रदूषण पदार्थों की अपेक्षा गंभीर निम्नलिखित कारणों में से है:

- प्रभावित व्यक्ति घर के अंदर के प्रदूषक पदार्थों के नजदीक रहता है।
- विश्व स्वास्थ्य संगठन की अद्यतन जानकारी में बताया गया है कि (नियम 1000) घर के अंदर प्रदूषण का फेफड़ा पर घर के बाहर के प्रदूषण की तुलना में 1100 गुना अधिक प्रभाव है।
- खासकर ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएं और बच्चे अधिक समय घर में रहते हैं।
- ग्रामीण क्षेत्रों में परिवेश के प्रदूषण की अपेक्षा घर के प्रदूषण से अधिक मौतें होती हैं।
- महामारी के अध्ययन में स्पष्ट किया गया है कि गंदे ईंधन के कारण प्रदूषण फैलता है। इससे कम से कम चार प्रकार की बीमारियां होती हैं-बच्चों में सांस संबंधी गंभीर बीमारी, दमा तथा ब्रोंकाइटिस जैसी बीमारियां, फेफड़े का कैंसर तथा गर्भावस्था के दौरान होने वाली बीमारियां।

पारंपरिक जैव ईंधन का उपयोग देश में ईंधन के 80 प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। खाने–पकाने के दौरान जब इनका उपयोग पारंपरिक चूल्हे में किया जाता है, तो इससे भारी मात्रा में धुआं निकलता है और घर का समस्त वातावरण प्रदूषित हो जाता है। इसमें कार्बन मोनो ऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड एडिहाइड, डाइऑक्सीजन, पोलोसाइक्लिक एरोमेटिक हाइड्रोकार्बन रहते हैं, जो श्वांस के माध्यम से आसानी से शरीर में चले जाते हैं। कई कारणों से मानव आवश्यकता से अधिक इनके संपर्क में रहता है।

इंडोर वायु प्रदूषण (अंतरंग वायु प्रदूषण) पर अध्ययन:

- जैव पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुएं के संपर्क में अधिक देर तक रहने पर श्वसन संबंधी भारी संक्रमण हो सकता (सीना संक्रमण, कफ, सर्दी, कान की खराबी) है। गाम्बिया द्वीप में बच्चे खाना पकाते समय मां की पीठ पर लटकने के शौकीन रहते हैं, जिससे उन्हें श्वसन संबंधी संक्रमण का सामना उन बच्चों की तुलना में अधिक होता है, जो संपर्क में नहीं रहते हैं।
- तंजानिया के संबंध में एक अध्ययन में बताया गया है कि 5 वर्ष से कम के जो बच्चे घर में खुले चूल्हे के पास सोते हैं, वे अन्य स्वस्थ बच्चों की तुलना में भारी संख्या में एक्यूट रेसपिरेटरी इनफेक्शन (ARI) से मरते हैं।
- भारत और नेपाल की महिलाएं, जो जैव ईंधन का उपयोग खाना पकाने में करती हैं, वे फेफड़े की बीमारी से सतत ग्रस्त रहते हैं। दो वर्ष के बच्चों में भयंकर रोग हो जाते हैं। क्योंकि वे अधिक समय तक चूल्हे के पास रहते हैं।
- अधिक समय तक धुएं के संपर्क में रहने से गर्भावस्था के दौरान परेशानी होती है। इससे मृत–शिशु अथवा कम उम्र के बच्चे पैदा होते हैं। इसके कारण पश्चिमी भारत में मृत शिशु के पैदा हाने की दर 50 प्रतिशत अधिक हो गयी। जो महिलाएं जैव ईंधन का उपयोग करती हैं, उनके रक्त में कार्बन मोनो ऑक्साइड की मात्रा काफी होती है।
- इन चार प्रकार की बीमारियों के अतिरिक्त घर के अंदर धुआं से अंधापन होता है तथा रोग प्रतिरोध प्रणाली प्रभावित होती है। जैव ईंधन के कारण 18 प्रतिशत अंधेपन देखा गया है।

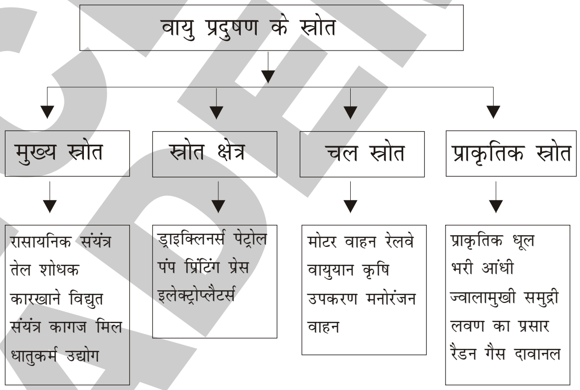

वैश्विक ताप वृद्धि

पृथ्वी पर सूर्य की किरणें टकराने तथा उनके विकिरण के बीच ऊर्जा संतुलन से तापमान नियंत्रित रखा जाता है। ताप का वृहत अंश पृथ्वी तथा इसके वस्तुओं द्वारा अवशोषित हो जाता है। ताप का सर्वाधिक अंश वायुमंडल में उपस्थित कार्बन डाई ऑक्साइड तथा जलवाष्प द्वारा अवशोषित हो जाता है और वायुमंडल में विद्यमान ताप में और अधिक वृद्धि करता है। इस प्रकार कार्बन डाई ऑक्साइड गैस ग्रीन हाउस प्रभाव को बढ़ाने में कार्य करती है और वैश्विक ताप वृद्धि होती है एवं वायुमंडल का निचला परत गर्म हो जाता है।

वैज्ञानिकों का इस विषय में मतैक्य है कि कार्बन के करण विश्व में ताप वृद्धि होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि औद्योगिक तथा अन्य प्रकार के वायु प्रदूषण के कारण वायुमंडल में कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि होती है। ज्वालामुखी विस्फोट से भी कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि होती है।

विगत वर्षों में पृथ्वी के औसत तापमान में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। विश्व मौसम विज्ञान संगठन (WMO) तथा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) द्वारा संयुक्त रूप से स्थापित इंटर गर्वनमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (IPCC) के अध्ययन के अनुसार पृथ्वी के औसत तापमान में प्रति वर्ष करीब 0.3 से 0.6°C की बढ़ोत्तरी हुई है। विगत वर्षों में औसत ताप वृद्धि में काफी तेजी आयी है। 1960 से 1980 के बीच में कार्बन डाई ऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड तथा क्लोरो फ्लोरो कार्बन जैसी ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा में जितनी वृद्धि हुई है उतनी वृद्धि मानव के संपूर्ण इतिहास में कभी नहीं देखी गयी। ऐसा अनुमान है कि 21वीं सदी के प्रारंभ में समुद्र के जल स्तर में 15-95 सेंटी मीटर की बढ़ोत्तरी हो सकती है, जिसमें मालदीव तथा बांग्लादेश जैसे तटीय प्रदेश पर दुष्प्रभाव पड़ने की संभावना है। जलवायु में परिवर्तन के कारण विगत वर्षों में तापमान

CHRONICLE IAS ACADEMY

में वृद्धि हुई है। यह अनुमान लगाया जाता है कि वैश्विक ताप वृद्धि से जलवायु पर स्थायी असर पड़ेगा। इससे मानसूनी वर्षा में वृद्धि होगी और कृषि प्रभावित होगी। इस प्रकार समग्र रूप से प्राणी और वनस्पति जगत पर इसका असर पड़ेगा।

ओजोन परत में क्षय

वायुमंडल में ओजोन समुद्र सतह पर 0.05 पीपीएम है। वायुमंडल में ऑक्सीजन पर विद्युत आवेश के कारण यह उत्पन्न होता है। सूर्य की किरणों से होने वाले विकिरण के कारण वायुमंडल के वाह्य परत में यह जमा होता है। प्रकाश रासायनिक क्रियाओं के दौरान प्रदूषक पदार्थों के निर्माण में यह अहम भूमिका निर्वाह करता है। ओजोन परत पृथ्वी के लिए एक आवरण का काम करती है तथा सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों को रोकती है।

सन् 1974 तक वायुमंडल वैज्ञानिक सिर्फ जेट इंजन से निकलने वाले नाइट्रोजन ऑक्साइड का ओजोन परत पर असर का अध्ययन करते थे। लेकिन बाद में पता चला कि क्लोरो फ्लोरो कार्बन जैसे संश्लेषित रासायनिक पदार्थ ओजोन परत के लिए एक नया खतरा है। अद्यतन वैज्ञानिक अध्ययनों में स्पष्ट किया गया है कि यदि क्लोरो फ्लोरो कार्बन का निर्माण होता रहा, तो ओजोन परत नष्ट हो जायेगी। इसे सामान्य रूप से ओजोन परत में छिद्र होना कहा जाता है।

क्लोरो फ्लोरो कार्बन का उपयोग बढ़ता जा रहा है। इसका उपयोग डिओडरेंट, हेयर स्प्रे, सेविंग क्रीम तथा रेफ्रिजरेटर सहित हजारों वस्तुओं में होता है। ओजोन पर क्षोभमंडल तथा पृथ्वी की परत सूर्य की पराबैंगनी किरणों से रक्षा करता है। यदि ये पराबैंगनी किरणें अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ पृथ्वी पर पहुंचेगी, तो उसके संपर्क में आने वाली सभी बैक्ट्रिया नष्ट हो जायेंगी। वनस्पति तथा प्राणियों के ऊतक गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त हो जायेंगे। अपनी इस रक्षक भूमिका के कारण ओजोन परत का पर्यावरण सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान है।

अम्ल वर्षा

वायु प्रदूषण के सबसे खतरनाक स्वरूप अम्ल वर्षा के रूप में है। वर्षा में कार्बोनिक, सल्फ्यूरिक, सल्फरस और नाइट्रिक एसिड शामिल होती हैं। सल्फर डाई ऑक्साइड, ट्राइ ऑक्साइड, कार्बन डाई ऑक्साइड और सल्फर डाई ऑक्साइड, ट्राइ एवं नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड के औद्योगिक संयंत्रों से निकलने पर वर्षा और वर्फ से मिलने पर अम्ल बनता है और वर्षा के दौरान उसमें मिलकर धरती पर गिरता। जिस वर्षा जल का पी एच मूल्य 7 से कम होता है, उसे अम्ल वर्षा कहते हैं।

अम्ल वर्षा कूप, तालाब और झील जैसे पेय जल के स्रोतों को प्रदूषित कर देती है। अत्यधिक अम्ल के कारण पौधे नहीं उगते हैं, फलतः उपजाऊ भूमि बंजर हो जाती है। अम्ल वर्षा का त्वचा पर घातक प्रभाव पड़ता है। इससे जलन उत्पन्न हो जाती है। गंधकाम्ल की वर्षा से आगरे का ताजमहल का सौन्दर्य नष्ट होता जा रहा है।

कोहराः धुएं तथा ओस के मिलने से कोहरा छा जाता है। वातावरण में ऑक्सीजन, ओजोन तथा प्रदूषक पदार्थों के संयोग से कोहरा बनता है। इन पदार्थों के सम्मिश्रण को प्रकाश रासायनिक कोहरा कहते हैं। इन प्रतिक्रियाओं में ऑक्सीजन, ओजोन, नाइट्रोजन तथा हाइड्रो कार्बन से विषैले तथा खुजलाहट पैदा करने वाले यौगिकों का निर्माण होता है।

कोहरा के अवयव अत्यंत विषैले होते हैं, जिनसे श्वसन तंत्र तथा हृदय पर घातक प्रभाव पड़ता है। आंख आना कोहरा का सबसे आम प्रभाव है। यह वनस्पति और प्राणी दोनों के लिए खतरनाक है तथा पर्यावरण को क्षति पहुंचाने वाला मुख्य कारण है।

वायु प्रदूषण पर नियंत्रण

(1) विद्यमान वन की सुरक्षा, वन विनाश रोकने तथा वृक्षारोपण की आवश्यकता है। पौधे वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने का सबसे बड़ा साधन हैं। कम से कम 33 प्रतिशत भू-भाग में वन होना चाहिए। इससे वायु प्रदूषण नियंत्रित तथा पारिस्थितिकी संतुलन बना रहेगा।

(2) प्रत्येक शहर एवं गांव के चारों ओर हरित पट्टी होनी चाहिए। इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र के चारों ओर हरित पट्टी होनी चाहिए।

(3) वायु प्रदूषण का मुख्य स्रोत मोटर वाहन हैं। अतएव इसके इंजन का निर्माण इस प्रकार से किया जाना चाहिए उनसे न्यूनतम प्रदूषण का उत्सर्जन हो। इस दिशा में कई उपाय किये गये हैं तथा तकनीकी विकास भी हुए हैं। किंतु वे सभी अभी भी प्रारंभिक अवस्था में हैं।

वायु प्रदूषण के चरण

मेयूजवैली, बेल्जियम, १९३०: सन् 1930 में बेल्जियम के मेयूजवैली में गंभीर पर्यावरणीय संकट खड़ा हुआ और उस वर्ष के 5 दिसम्बर तक बना रहा है। वैली के बहुत से उद्योगों से सल्फर डाईऑक्साइड, कार्बनिक अम्ल और धातुओं के ऑक्साइड वातावरण में छा गया। इसमें 63 बड़े और कमजोर लोग मारे गये, सैकड़ों बीमार हो गए। सल्फर ऑक्साइड और हाइड्रोफ्लोरिक एसिड के उत्सर्जन का तो सभी को पता चला, किंतु वास्तविक विनाशकारी तत्व का पता नहीं चल सका।

डोनोरा, पेनसिलवेनिया, १९४८: पिट्सबर्ग के मध्य से 30मील की दूरी पर मोनोनगहेला नदी के तट पर स्थिति डोनोरा एक औद्योगिक शहर है। इसमें मुख्य रूप से इस्पात, तार, जिंक एसिड, स्मेल्टर और सल्फ्यूरिक एसिड के कारखाने हैं। अपेक्षाकृत एक शांत तथा संतुलित परिवेश में सन् 1948 में अक्टूबर 27 से 31 के दौरान वायु प्रदूषण जमा हो गया। इसके कारण बहुत से लोगों को अस्पताल में भर्ती करना पड़ा तथा इसमें बीस मारे गये, हजारों लोग बीमार पड़ गये। करीब 130 मुकदमे दायर किये गये। निश्चित रूप से मौत और बीमार करने वाले तत्व की पहचान नहीं हो सकी। किंतु सल्फर के यौगिक वायु में असमान्य रूप से अधिक मात्रा में विद्यमान थे।

लंदन का कोहरा, १९५२: वायु प्रदूषण की सबसे भयानक समस्या लंदन में उत्पन्न हुई। जब ओस ठंढे कोहरा से मिलता है, तो खतरनाक हो जाता है। कोहरा शब्द का आविस्कार इस स्थिति को दर्शाने के लिए किया गया। सन् 1961 में जॉन एवलिन ने ह्यूमी फ्यूजियम नाम का अपना सुप्रसिद्ध पैम्पलेट प्रकाशित किया। इसमें लंदन की वायु प्रदूषण संबंधी समस्याओं का जिक्र था। उनका मुख्य विचार था कि कोहरा निर्माण में सहायक सभी संयंत्रों को लंदन से दूर किया जाये। किंतु इसके रोकने के कोई भी उपाय 1952 के लंदन कोहरा तक नहीं किया जा सका। उस वर्ष 5 से 9 दिसंबर तक चले पांच दिवसीय कोहरा में 4000 लोग मारे गये। इसके कारण भयंकर श्वासन संबंधी समस्याएं उत्पन्न हुई। इसके ठीक दस वर्ष बाद 1962 में ब्लैक फॉग में करीब 340 लोग मारे गये।

भोपाल, मिथाईल आइसोसाइनाइड दुर्घटना, १९८४: सन् 1984 में भोपाल में मिथाईल आइसोसाइनाइड दुर्घटना भारत की सबसे भयावह औद्योगिक दुर्घटना मानी जाती है। करीब दो लाख लोग, इस कीटनाशक संयंत्र से गैसें निकलने के कारण प्रभावित हुए। 3 दिसम्बर, 1984 के सुबह में इस संयंत्र में क्या खराबी हुई जिससे ऐसी भयावह घटना हुई, यह किसी को पता नहीं है। किंतु संयंत्र में सभी सुरक्षात्मक उपाय विफल हो गये। ताप और ($CoCl_2$) के निर्माण करने के लिए मिथाईल आइसोसाइनाइड किसी भी रासायनिक पदार्थ से प्रतिक्रिया कर सकता है। ताप से प्रतिक्रिया की गति बढ़ती जाती है और यह विस्फोट स्थिति तक पहुंच जाती है। फैक्ट्री से निकलने वाली गैस 40 किमी. की परिधि तक फैल गयी और 5 किमी. के क्षेत्र में गंभीर रूप से प्रभावित किया। मिथाइल आइसोसाइनाइड को फॉसजीन ($CoCl_2$) के साथ मिलाया जाता है। इससे इसका घातक प्रभाव बढ़ जाता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(4) विकासशील देशों में लकड़ी का जलावन के रूप में उपयोग को रोका जाना चाहिए।

(5) औद्योगिक संयंत्रों में प्रदूषण नियंत्रण के उपाय किये जाने चाहिए। प्रदूषण से निबटने की पूर्ण व्यवस्था के बाद ही उत्पादन की अनुमति दी जानी चाहिए।

जल प्रदूषण

जल वैश्विक संपत्ति है। इसके संरक्षण से न सिर्फ स्थानीय लोगों को मदद पहुंचती है अपितु उस क्षेत्र के वनस्पति और प्राणी भी लाभान्वित होते हैं। धारणीय विकास से आर्थिक-सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। हमें यह मानना चाहिए कि क्षमता से अधिक दबाव संसाधन पर डालने से वर्तमान तथा भविष्य दोनों तबाह हो जाते हैं।

जल संसाधन के प्रदूषित होने से प्राणी तथा वनस्पति के विकास पर दुष्प्रभाव पड़ता है। जल चार प्रकार के पदार्थों से प्रदूषित होता है। पारंपरिक जैविक कचरे, औद्योगिक संयंत्रों से निकले कचरे, उर्वरक के रासायनिक तत्व और कीटनाशक तथा जल के अपवाह में लायी गयी गंदगी।

जल प्रदूषण में तीन चौथाई प्रदूषित पदार्थ नगर निगम तथा औद्योगिक संयंत्रों द्वारा छोड़े जाते हैं। ये कुल प्रदूषक पदार्थ के आधे हैं। इसके मुख्य अंश बड़े और मझौले उद्योगों से आते हैं। शहरी लोगों तथा उद्योगों द्वारा इस प्रदूषण में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है।

भारत में छोटे उद्योगों के अतिरिक्त हजारों मुख्य उद्योग हैं। हमारी नदियों को प्रदूषित करने वाले मुख्य उद्योग-लुगदी, कागज, रेशमी वस्त्र, चमड़े, चीनी, खाद्य तेल, अलकतरा, प्लास्टिक, उर्वरक, डिटरजेंट तथा कई विविध पेंट, रबड़, दुग्ध, एंटीबायोटिक्स इत्यादि हैं।

जल प्रदूषण क्या है?

जल प्रदूषण से तात्पर्य है कि बाहरी पदार्थों द्वारा जल स्रोत का प्रदूषित होना है। दूसरे शब्दों में जल में, वैसे पदार्थों का मिलना है जिनसे उनका उपयोग मानव नहीं कर सकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन जल प्रदूषण को इस प्रकार परिभाषित करता है-प्राकृतिक या अन्य स्रोत से कोई बाहरी पदार्थ जो जल आपूर्ति या स्रोत को प्रदूषित करता है, जल प्रदूषण कहलाता है। इससे जल में ऑक्सीजन की मात्रा में कमी होती है और महामारी फैलती है।

जल प्रदूषण के स्रोत

जल प्रदूषण के कई स्रोत हैं, जो कि प्रकृति में सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं। ये आपस में मिलते हैं। इनमें एक ही कारक मजबूत रहते हैं और वे जल प्रदूषण के कारण बनते हैं। जल प्रदूषण के विभिन्न स्रोत हैं:

1. प्राकृतिक स्रोतः कई प्राकृतिक स्रोतों से जल प्रदूषित होता है। इनमें गैसें, खनिज, मिट्टी, नम पदार्थ, प्राणी प्रमुख हैं। वर्षा के दिनों में जल के स्रोतों में मिट्टी बहकर पहुंचती है। मिट्टी के कारण जल प्रदूषित हो जाता है। इसे स्वच्छ होने में समय लगता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक प्रदूषित पदार्थ जल में मौजूद रहते हैं। ये अकार्बनिक अथवा कार्बनिक पदार्थ हानिकारक हो सकते हैं। सोडियम, पोटैशियम, मैग्निशियम तथा लोहे, जैसे तत्व भी जल में रहते हैं। यदि इनकी मात्रा आवश्यकता से अधिक रहती है तो यह हानिकारक हैं। निकेल, बैरिलियम, कोबाल्ट, शीशा, पारा, कैडिमियम इत्यादि गैसें, विषैले पदार्थ अत्यंत ही हानिकारक हैं तथा प्रदूषण के लिए जिम्मेदार हैं।

पेय जल में आर्सेनिक की अधिक मात्रा से बांग्लादेश तथा भारत दोनों ही प्रभावित हैं। बांग्लादेश के 64 में से 30 जिलों में प्रति लीटर जल में आर्सेनिक का स्तर 50 माइक्रोग्राम से अधिक पाया गया है। अनुमान के अनुसार यहां 35 मिलियन लोग प्रदूषित पानी पीते हैं।

मानवीय स्रोतः जनसंख्या, शहरीकरण और औद्योगीकरण में बेतहाशा वृद्धि तथा रसायनों के अत्यधिक इस्तेमाल के कारण जल प्रदूषण होता है। यह समस्या विभिन्न उपायों के बावजूद दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

1. घरेलू उत्सर्जी पदार्थ तथा नालियांः मानव पीने, खाना पकाने, स्नान करने आदि कार्यों में भारी मात्रा में जल का उपयोग करता है। मानव द्वारा प्रतिदिन उपयोग करने वाले जल के 70-80 प्रतिशत मात्रा नष्ट हो जाती है, जो नगर पालिका की नालियों से होकर नदी, नालों और झीलों तक पहुंच जाता है। इस प्रदूषित जल घरेलू प्रदूषित जल की संज्ञा दी गयी है। इसमें कागज, कपड़े और डिटरजेंट जैसे पदार्थ मिले होते हैं। इन्हें नगरपालिका द्वारा प्रदूषित पदार्थ की संज्ञा दी गयी है। ये जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत हैं। इसके बिना शहर में काम नहीं चल सकता है। ज्यों-ज्यों इसका क्षरण होता है, त्यों-त्यों जल में आक्सीजन की मात्रा कम होती जाती है। यह जल प्राकृतिक पारिस्थितिकी को नष्ट कर देता है।

बहुत से गंदे पदार्थों को शोधित नहीं किया जाता है। दिल्ली में प्रतिदिन 120 करोड़ लीटर जल की खपत है। इसमें 96 करोड़ लीटर जल प्रतिदिन 17 बड़ी नालियों से होकर यमुना में गिरता है।

गंगा नदी के तट पर बसे अनेक शहरों की गंदगी इसमे मिलती है। जनसंख्या बढ़ने के साथ ही जल का खपत बढ़ता है, जिसके साथ अधिक मात्रा में गंदगी नदी में पहुंचती है।

औद्योगिक गंदगीः औद्योगिक गतिविधियों से विभिन्न प्रकार के प्रदूषित पदार्थ नदियों में मिलते हैं। इनमें लुगदी, कागज, रासायनिक, पेट्रोकैमिकल, धातुकर्म, खाद्य प्रसंस्करण आदि मुख्य हैं। गंदगी का मुख्य रूप भारी धातुएं, संश्लेषित कार्बनिक यौगिक हैं, जो जल स्रोत में सीधे या गंदगी के साथ मिलकर पहुंचते हैं। औद्योगिक प्रदूषण में मरकरी की मात्रा सामान्यतः बढ़ती जा रही है। गंदे पानी तथा मछलियों के सेवन से मरकरी के हानिकारक तत्व मनुष्य के शरीर में पहुंच जाते हैं। हालिया शोधों के अनुसार दिल्ली पारा प्रदूषित प्रमुख क्षेत्र हैं।

कृषि जन्य प्रदूषणः विभिन्न प्रकार के कीटनाशकों के कृषि कार्य में प्रयोग से जल प्रदूषण होता है। जल में इनकी मौजूदगी मानव तथा प्राणी के लिए विनाशकारी है। ये दीर्घ काल तक जल में विद्यमान रहते हैं तथा मानव के शरीर में प्रवेश करते रहते हैं।

ताप विद्युतः ताप एवं विद्युत संयंत्र से बहुत से गर्म प्रदूषित पदार्थ उत्सर्जित होते हैं। इससे नदियां प्रदूषित होती हैं। यह प्रदूषण कई कारणों से असहनीय है। गर्म जल में ऑक्सीजन धारण करने की क्षमता ठंढे जल की अपेक्षा कम होती है। अतएव ब्लैक बास, ट्राउट इत्यादि मछलियों के 4ppm ऑक्सीजन की मात्रा जल में होनी चाहिए। इसे कम ऑक्सीजन रहने पर ये मछलियां प्रदूषित हो जाती हैं, अथवा भारी संख्या में मर जाती हैं।

भारतीय नदियों में प्रदूषण

बहुत सी बड़ी नदियां भारत की संस्कृति एवं परंपरा से गहराई से जुड़ी हुई हैं। हमारे देश में प्रदूषण की स्थिति पश्चिमी यूरोप तथा अमरीका के औद्योगिक देशों की तुलना में बदतर है। भारत में जल-प्रदूषण विस्फोटक स्थिति में है। भारत की प्रायः सभी नदी घाटियां गंभीर रूप से प्रदूषित हैं। भारत का करीब 70 प्रतिशत जल प्रदूषित है। गंगा भारत की पवित्रतम नदी है। यह भारतीय सभ्यता के उद्गम से जुड़ी हुई है। गंगा, जिसे शुद्ध करने वाली नदी कहा जाता है, उसमें भी काफी मात्रा में जैव-प्रदूषित पदार्थ हैं। कानपुर में 45 चमड़े के कारखाने तथा 10 रेशमी वस्त्र के कारखानों से गंदगी निकलकर गंगा में

CHRONICLE IAS ACADEMY

पहुंचती है। इनमें काफी मात्रा में जैव प्रदूषित पदार्थ विद्यमान होते हैं। यह अनुमान है कि गंगा में प्रतिदिन 140 करोड़ लीटर गंदा जल तथा 20 करोड़ लीटर औद्योगिक प्रदूषित पदार्थ सम्मिलित होते हैं।

कलकत्ता की हुगली नदी में लुगदी, कागज, शराब, चमड़े, वस्त्र, रसायनिक पदार्थ, रंग, माचिस, कीटनाशक इत्यादि विभिन्न प्रकार के उद्योगों की गंदगी जा मिलती है। आंध्र कागज मिल से निकलने वाले प्रदूषित पदार्थ के कारण गोदावरी राजामुन्दरी के निकट होती है। अमर डाई और केमिकल कंपनी से निकलने वाले प्रदूषित पदार्थ से मुंबई की कालू नदी प्रदूषित होती है। इस उद्योग से भारी मात्रा में निकला हुआ जल नदी में शामिल हो जाता है तथा उद्योग से निकलने वाले विनाशकारी तथा खतरनाक पदार्थों के कारण जल-तंत्र प्रदूषित हो जाता है। विगत तीन दशकों के औद्योगिक विकास के कारण विभिन्न प्रकार के जहरीले तथा खतरनाक पदार्थों की मात्रा में वृद्धि हुई है। औद्योगिक प्रदूषण कम मात्रा में होते हुए भी जल, पर्यावरण और जल में विद्यमान जीवों को प्रभावित करता है और आहार शृंखला के माध्यम से अंततः मानव शरीर में प्रवेश कर जाता है।

दक्षिण भारत की नदियों में उत्तर भारत की तुलना में प्रदूषण फैलने की गति तेज है। इसके मुख्य कारण हैं कि गर्मी के दिनों में बर्फ पिघलने से गंगा, ब्रह्मपुत्र सहित उत्तर भारत की नदियों में जल-स्तर बढ़ जाता है। वर्षा के दिनों में इसमें बाढ़ आ जाती है तथा वर्षा जल भी मिल जाते हैं। जब वे नदियां औद्योगिक क्षेत्रों से होकर गुजरती हैं तब उसमें प्रदूषित पदार्थ मिल जाते हैं।

डिटर्जेंट के खतरे

डिटरजेंट में विद्यमान फॉस्फेट से पर्यावरण को खतरा है। कठोर जल को मृदु बनाने के लिए डिटरजेंट में सोडियम ट्राय फॉस्फेट (STPP) मिलाया जाता है। कठोर जल में कपड़े साफ नहीं होते। STPP तथा अन्य फॉस्फेट के मिलने से जल क्षारीयता नियंत्रित रहती है। इससे जल का पृष्ठ तनाव बढ़ जाता है। सर्फेकटेंट से कपड़े में विद्यमान गंदगी दूर हो जाती है।

जब सफाई हो जाती है तो फॉस्फेट जल के साथ मिलकर जल स्रोत में पहुंच जाता है। फॉस्फेट के कारण जल स्रोत में एन्ट्रोफिकेशन होता है। इससे फायटोप्लैंक्टन्स तथा माइक्रो फाइट्स में अत्यधिक वृद्धि होती है। जल में एल्गल की मात्रा बढ़ने से हायपॉक्सिक और एनॉक्सिक स्थितियां उत्पन्न होती हैं। अत्यधिक एन्ट्रोफिकेशन से मछलियां मर जाती हैं, दुर्गंध फैलता है तथा प्राणियों में बीमारी फैलती है।

क्लासिकल भारत-कनाडा संस्थान के कनेडियाई शोधार्थियों ने पाया कि भारत के प्रायः सभी जल-स्रोत एनट्रॉफिक तथा लगभग एनॉक्सिक हैं, इनमें ऑक्सीजन की मात्रा की कमी है, और वे इसके लिए पूर्णतः दोष डिटरजेंट उद्योग को देते हैं।

जल-प्रदूषण को रोकने के उपाय

1. सभी प्रकार के घरेलू और नगर निगम के सीवरों के गंदे पदार्थों के समुचित शोधन के पश्चात् ही उसे जल-स्रोतों में डालना चाहिए।
2. घर के बेकार पानी का उपयोग कृषि कार्य हेतु करना चाहिए। यह उद्यान कृषि के लिए लाभदायक है।
3. उद्योगों के विषैले पदार्थों के जल-स्रोतों में निष्कासन के प्रति कठोर नियम होना चाहिए। प्रत्येक उद्योग को अपना गंदगी शोधन व्यवस्था खुद करनी चाहिए।
4. मानक स्तर के कीटनाशक का ही प्रयोग होना चाहिए।
5. नदियों में मृत प्राणियों के शव फेंकने पर पूर्ण प्रतिबंध होना चाहिए। नदियों के किनारे मल त्याग पर पूर्ण रोक लगाना चाहिए।
6. काई और अन्य प्रकार के वनस्पतियों की नियमित सफाई होनी चाहिए।

जल प्रदूषण के कारण मछली मरने की घटना

स्थान	वर्ष	प्रदूषक पदार्थ
कंकरिया झील, अहमदाबाद	1982	घरेलू अपशिष्ट पदार्थ
नैनी झील, नैनीताल	1980-81	घरेलू अपशिष्ट पदार्थ
गोमती, लखनऊ	1983-84, 86	शराब कारखाने से निकलनेवाले पदार्थ
चेलियार अलवे	1974	कीटनाशक
तुंगभद्र हरिहर	1984	रेयन पॉलीफाइबर
गंगा, इलाहाबाद	1981	उर्वरक कारखाने से निकलने वाले पदार्थ
गंगा, मुंगेर	1968	तेल परिशोधन कारखाना
अदयार	1981-82	चमड़ा उद्योग
रिहंद बांध	1970, 78, 80	रसायनिक और ताप विद्युत संयंत्र से निकलने वाले पदार्थ

जल प्रदूषण फैलाने वाले पदार्थ और उसके प्रभाव

जल प्रदूषक पदार्थ	प्रभाव
१. क्षरणीय घरेलू और नगर निगम से निकले प्रदूषित पदार्थ जिनमें ऑक्सीजन तथा बैक्टिरिया पाए जाते हैं।	मछली और अन्य जलजीवों के लिए विनाशकारी
२. उर्वरक औद्योगिक प्रदूषित पदार्थों से निकले नाइट्रोजन तथा फॉस्फोरस और उर्वरक से निकले पदार्थ जल में मिल जाते हैं।	इससे एल्गी तथा प्लैंकटन में वृद्धि होती है तथा इससे जल मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इससे जल मानव के उपयोग के लायक नहीं रहता है।
3. सभी प्रकार के परजीवी, जीवाणुओं तथा विषाणुओं के प्रदुषित स्थिर जल में रहने के कारण प्रदूषण फैलता है।	जल से होने वाली बीमारियां हैं: एमिओबायोसिस, अतिसार, हैजा और टायफाइड जैसी महामारी।
4. संश्लेषित जैव यौगिक कीटनाशक, कृषि रसायन, डिटरजेंट, औद्योगिक प्रदूषित पदार्थ, डी डी टी इत्यादि।	इससे कैडमियम, शीशा और पारद मनुष्य में प्रवेश कर जाता है जिससे तंत्रिका तंत्र प्रभावित होने के साथ-साथ मृत्यु तक हो जाती है।
5. अकार्बनिक खनिज तथा अन्य रसायनिक पदार्थ– एसबेस्ट्स, एसिड इत्यादि।	एसबेस्ट्स से फेफड़े का कैंसर होता है। एसिड से एलर्जी, लसर, त्वचा रोग होते हैं। मछली और जल जीवन पर दुष्प्रभाव।
6. रेडियो सक्रिय तत्व नाभिकीय संयंत्र तथा नाभिकीय ईंधन से निकलने वाले प्रदूषित पदार्थ जल तथा समुद्र में फेंक दिए जाते हैं।	फटने से खतरा उत्पन्न होता है और विकिरण से जुड़ी बीमारियां फैलती हैं।
7. चट्टान, मिट्टी और खनिज नदियों तक प्रवाहित होते हैं।	जल में सूर्य के प्रकाश की कमी हो जाती है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

फ्लोरीन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक

देश के कई हिस्सों में भूमिगत जल में फ्लोराइड की मात्रा बढ़ जाने से कई प्रकार के जैविक खतरे उत्पन्न होने की आशंका जताई गयी है। फ्लोराइड एक तेज टॉक्सिन है जिसकी नियत मात्रा हड्डियों के लिए उपयोगी हैं, परंतु इसकी मात्रा बढ़ जाने से कई प्रकार की बीमारियां घर कर जाती हैं। प्रतिदिन दो मिलीग्राम फ्लोराइड लेने से 40 वर्ष की आयु के बाद हड्डियों में फ्लोराइड नामक बीमारी हो जाती है।

हाल के भूगर्भीय सर्वेक्षण की रिपोर्ट में कई इलाकों को फ्लोराइड की दृष्टि से संवेदनशील घोषित किया गया है। ये हैं: पंजाब में फिरोजपुर जिले के फजिल्का तथा जलालाबाद, हरियाणा में गुड़गांव, रेवाड़ी, महेन्द्रगढ़, हिसार, फतेहाबाद तथा फरीदाबाद, उत्तर प्रदेश में उन्नाव, राय बरैली और सोनभद्र, मध्य प्रदेश में सिधी, महाराष्ट्र में बीड, आंध्र प्रदेश में नालगोंडा तथा तमिलनाडु में डिंडीगुल।

फजिल्का में चापाकल के पानी में फ्लोराइड की मात्रा 6 से 12 मिलीग्राम प्रति लीटर है और यहां की 70 फीसदी आबादी दांत टूटने की समस्या से त्रस्त हैं। हरियाणा में गठिया रोग का प्रकोप बढ़ गया है और दांतों का रंग पीला हो जाना वहां सामान्य घटना है। उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में लुंजपुंज नामक रोग का प्रकोप फ्लोराइड के कारण ही देखा जा सकता है। इस क्षेत्र में टूटे दांत तथा कमजोर हड्डीवाले लोगों के दर्शन आम बात है। इस जिला में एक गांव है सिराहा खेड़ा जहां दंतहीनता की स्थिति इतना भयानक रूप धारण कर चुकी है कि यहां से वैवाहिक संबंध स्थापित करने से लोग कतराने लगे हैं।

भूमिगत जल में फ्लोराइड के संक्रमण के कई कारण हैं- कुछ प्राकृतिक तो कुछ मानवकृत। कई प्रकार के खनिजों में फ्लोराइड का अंश होता है जो मृदा निर्माण के दौरान घुल जाते हैं। इसी तरह ज्वालामुखी के समय फ्लोरीन गैस बनकर भूजल में मिल जाता है। परंतु उद्योग पर मानव का नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। ईंट भट्टा, अल्यूमीनियम तथा स्टील उद्योग से भूमिगत जल में फ्लोरीन की मात्रा बढ़ जाती है।

7. जल को सूक्ष्म प्राणियों से सुरक्षित रखने के लिए इसमें पोटैशियम परमैंगनेट जैसे रसायनिक पदार्थों का नियमित छिड़काव किया जाना चाहिए।
8. शहर की नालियों में मिट्टी उड़ेलने से वह मिट्टी नदियों तक पहुंच जाती है। अत: शहर में ढकी हुई नालियां होनी चाहिए।
9. जल प्रदूषण को रोकने तथा नियंत्रित करने वाले कानून का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।

समुद्री जल प्रदूषण

मानवीय गतिविधियों के कारण पर्यावरण प्रदूषित हुआ है। लगातार होने वाला प्रदूषण जलमंडल, वायुमंडल तथा भूमंडल में जमा हो जाता है तथा जीव जगत को प्रभावित करने लगता है। समुद्री पर्यावरण का प्रदूषण एक वैश्विक घटना है। अत्यधिक मात्रा में तेल तथा रेडियो सक्रिय पदार्थों के समुद्र में जाने से समुद्री प्रदूषण चिंता का विषय बन गया है। पारद, शीशा, कीटनाशक, पेट्रोलियम, रेडियोसक्रिय तत्व तथा ताप मुख्य प्रदूषक हैं।

समुद्री जल प्रदूषण एक वैश्विक घटना है। प्राय: समुद्री प्रदूषण महाद्वीपीय भागों में उत्पन्न होता है तथा वायुमंडल तथा नदियों के माध्यम से समुद्र में पहुंच जाता है। समुद्री जल प्रदूषण को वैश्विक प्रदूषण से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। ऐसा करना यथार्थ की अनदेखी करना है। भू-भाग के प्रदूषण को अनदेखा करते हुए सिर्फ समुद्री जल प्रदूषण को नियंत्रित करने के किसी भी उपाय से असफलता ही मिलेगी। समुद्री प्रदूषण को तब तक नहीं रोका जा सकता है जब तक प्रदूषण फैलाने वाले पदार्थ को नहीं रोका जाता है। ये प्रदूषक पदार्थ भू-भाग में उत्पन्न होते हैं तथा वायुमंडल द्वारा प्रमुख रूप से तदंतर क्रमश: नदी और मानवीय गतिविधियों द्वारा समुद्र में पहुंचता है। अत: प्रदूषण नियंत्रण के लिए आवश्यक है कि प्रदूषण फैलाने वाली मानवीय गतिविधियों को रोका जाना चाहिए। समुद्र में तेल से फैलने वाले प्रदूषण को रोकने से न सिर्फ अल्पकालीन लाभ होगा अपितु समुद्री जीवन और पर्यावरण पर भी दीर्घकालीन प्रभाव पड़ेगा। कच्चा तेल विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक तत्वों का मिश्रण है जिसमें बहुत से जहरीले पदार्थ रहते हैं।

सतत प्रयुक्त विकिरण

सामग्री	अर्द्ध जीवनकाल	विकिरण
कार्बन-14	5,568 वर्ष	बीटा
कोबाल्ट-60	5.24 वर्ष	बीटा, गामा
हाइड्रोजन-3 (ट्रिटियम)	12.26 वर्ष	बीटा
आयोडिन - 131	8.08 दिन	बीटा, गामा
फॉस्फोरस - 32	14.3 दिन	बीटा
प्लूटोनियम - 239	24,360 वर्ष	अल्फा, गामा
रेडियम - 226	1622 वर्ष	अल्फा, बीटा, गामा
स्ट्रॉनटियम - 90	27.7 वर्ष	बीटा
यूरेनियम - 235	71 करोड़ वर्ष	अल्फा, गामा
यूरेनियम - 238	45 लाख 10 हजार वर्ष	अल्फा, बीटा, गामा

कच्चे तेल का समुद्री तल पर निम्नलिखित दुष्प्रभाव पड़ेगा:

- इससे समुद्री पक्षी सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। टोरी केनियन की खुदाई से 10,000 पक्षी मारे गए।
- तट और अपतट की संपदा प्रदूषित हो जाएंगी।
- अधिक मात्रा में तेल के कारण समुद्री जीवन व्यापक रूप से प्रभावित होता है।
- इससे समुद्री जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक ऑक्सीजन की आपूर्ति में कमी हो जाती है। प्लैंकटोनिक प्रजातियों की वृद्धि होती है। ये प्रजातियां तल के आधे से एक मीटर के अंदर पायी जाती हैं।

तेल प्रदूषण के दीर्घकालीन दुष्प्रभाव दोहरे हैं। एक बार समुद्री पर्यावरण में हाइड्रोकार्बन के प्रवेश करने से वह स्थायी रूप से कई समुद्री प्राणियों में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार वह आहार श्रृंखला के माध्यम से मनुष्य के उपभोग लायक प्रजातियों से होते हुए मानव शरीर में प्रवेश कर जाता है। इससे भोजन में अवांछित दुर्गन्ध व्याप्त हो जाता है। इससे भी अधिक घातक है, मनुष्य की खाद्य सामग्री में कार्सिनोजेनिक जैसे जहरीले पदार्थ का जमा होना। तेल से होने वाले प्रदूषण के कारण समुद्री पर्यावरण में परिवर्तन आता है। तेल प्रदूषण के कारण स्वाद में परिवर्तन होता है तथा समुद्री प्रजातियों के नष्ट होने का खतरा उत्पन्न होता है। तेल के प्रदूषण पर नियंत्रण तथा रोक के लिए व्यापक प्रयास की आवश्यकता है। तेल के प्रवाह को समुद्र में रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय करने की आवश्यकता है:

1. समुद्र में तेल गिरने से रोकने के लिए टैंकर के पंप अथवा सक्शन पंप द्वारा तेल टैंकर से बदलना चाहिए।
2. तेल के प्रसार को रोकने के लिए, खासकर बीच, परिवहन पथ तथा बंदरगाह तक, अविलम्ब उपाय किया जाना चाहिए।

जेनेवा समझौता (1958) के अनुसार जहाज अथवा पाइप से तेल समुद्र में गिरने अथवा समुद्र से तेल दोहन के समय समुद्र को प्रदूषित होने से बचाने के लिए प्रत्येक देश को अपना नियम बनाना चाहिए। प्रत्येक देश ऐसा उपाय करे जिससे रेडियोसक्रिय तथा अन्य प्रदूषकों को रोका जा सके।

प्रत्येक देश अपने सुरक्षा क्षेत्रों में ऐसे उपाय करे जिससे इसके प्राणियों की हानिकारक तत्वों से रक्षा किया जा सके।

कुछ खास अर्थों में समुद्र मानव की अंतिम सीमा है। हमें समुद्री जीवन के विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं है, फिर भी समुद्र के विविध संसाधनों के दोहन से भोजन तथा ऊर्जा हेतु कच्चा माल प्राप्त कर विश्व में विकास की गति का तेजी प्रदान किया जा सकता है।

रेडियो सक्रिय प्रदूषण

एच.पी.जैमेट के अनुसार मानव द्वारा प्राकृतिक रूप से विद्यमान अथवा कृत्रिम रूप से तैयार रेडियो सक्रिय तत्वों के उपयोग से उत्पन्न विकिरण के कारण पर्यावरण में रेडियो सक्रिय प्रदूषण बढ़ता जा रहा है।

यद्यपि रेडियो सक्रियता एक भौतिक प्रकार का प्रदूषण है फिर भी यह मानव द्वारा प्रकृति में कृत्रिम रेडियो सक्रिय पदार्थों की उत्पत्ति तथा आर्थिक गतिविधियों के कारण बढ़ी औद्योगिक गतिविधियों के द्वारा फैलाए गए प्रदूषण का परिणाम है। यह अन्य प्रकार के प्रदूषण से एकदम भिन्न है।

प्रकृति में रेडियो सक्रिय तत्व चट्टानों में उपस्थित हैं तथा ये जल, वायु तथा जीवित प्राणियों में विद्यमान रहते हैं। सभी प्रकार के विकिरण जिनके संपर्क में हम आते हैं उन्हें भूमिगत विकिरण कहते हैं। लाखों वर्षों तक भूमिगत विकिरण लगभग नियमित स्तर पर रहा। हाल के वर्षों में इसमें बढ़ोतरी हुई है और इसमें वृद्धि होने की संभावना बढ़ती ही जा रही है। मानवीय गतिविधियों से उत्पन्न विकिरण, एक्स-रे यंत्र, रेडियों-सक्रिय उत्सर्जन, परमाणु संयंत्र, शोध प्रयोगशाला, औद्योगिक तथा चिकित्सा कार्यों में रेडियो सक्रिय पदार्थों का प्रयोग और रेडियो सक्रिय पदार्थों की उत्पत्ति के दौरान उत्पन्न रेडियो सक्रिय प्रदूषण से पैदा होता है।

रेडियो सक्रिय पदार्थों की खोज, परमाणु बम के विकास तथा परमाणु ऊर्जा के दोहन करने वाली तकनीकी में प्रगति के परिणामस्वरूप वायुमंडल में रेडियो सक्रिय पदार्थों के प्रसार की संभावना बढ़ गई है।

पर्यावरणीय विकिरण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- प्राकृतिक रूप से उत्पन्न विकिरण और मानव निर्मित विकिरण। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न विकिरण की निम्नलिखित स्थितियां हैं:

- वैश्विक विकिरण बाह्य अंतरिक्ष से पृथ्वी की सतह में प्रवेश करता है।
- पृथ्वी की परतों में उपस्थित प्राकृतिक समस्थानिकों से उत्पन्न विकिरण।

वैश्विक किरणों द्वारा विस्फोट से सतत अल्पावधि के अर्द्ध जीवनकाल वाले रेडियो सक्रिय पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसमें कार्बन-14 तथा हाइड्रोजन-3 (ट्रिटियम) प्रमुख हैं। वैश्विक किरणों के न्यूट्रॉन का वायुमंडल के नाइट्रोजन पर क्रिया के कारण कार्बन-14 उत्पन्न होता है। जब परमाणु पर अत्यधिक ऊर्जा के वैश्विक किरणों से प्रहार किया जाता है तो हाइड्रोजन-3 उत्पन्न होता है। ये ऑक्सीकृत होकर कार्बन डाईऑक्साइड तथा जल बनकर क्रमशः जीवमंडल और जलमंडल में प्रवेश कर जाते हैं।

प्राकृतिक विकिरण के मुख्य स्रोत यूरेनियम तथा थोरियम के अयस्क हैं, जिनमें विविध प्रकार के रेडियो सक्रिय न्यूक्लियाइड पाए जाते हैं। उनके रासायनिक गुण, अर्द्ध जीवन काल, प्रकार तथा ऊर्जा विकरण में अंतर है। तथापि मूलतः इनकी तीन श्रृंखलाएं हैं। प्रत्येक श्रृंखला दीर्घकालीन अर्द्ध जीवनकाल वाले तत्वों से पैदा होती हैं। ये तीन श्रृंखलाएं हैं– यूरेनियम-रेडियम श्रृंखला, थोरियम श्रृंखला तथा यूरेनियम-एक्टिनियम श्रृंखला।

प्रकृति में उपस्थित अन्य न्यूक्लियाइड हैं– पोटेशियम-40 तथा रुबिडियम-87। पोटेशियम-40 में करीब 0.012 प्रतिशत प्राकृतिक पोटेशियम तथा रुबिडियम-87 में करीब 28 प्रतिशत प्राकृतिक पोटेशियम तथा रुबिडियम उपस्थित रहते हैं। भूमि के करीब 20 से 76 प्रतिशत रेडियोसक्रियता में पोटेशियम-40 का योगदान है। चूंकि पोटेशियम युक्त सभी पदार्थों में पोटेशियम-40 के कारण रेडियो सक्रियता उत्पन्न होती है, इसलिए प्रत्येक मिलीग्राम पोटेशियम में प्रति मिनट दो रेडियो सक्रिय विभाजन होता है। पर्यावरण में पोटेशियम युक्त पदार्थों के साथ जैव सामग्री की प्रतिशतता के अनुरूप रेडियो सक्रियता उत्पन्न होती है। पृथ्वी की परत में इसकी कम मात्रा के कारण रुबिडियम-87 को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

जब जल मिट्टी और चट्टानों से होकर प्रवाहित होता है तो उपर्युक्त रेडियो सक्रिय न्यूक्लिसाइड की उपस्थिति के कारण इसके प्रदूषित होने की संभावना बढ़ जाती है। अक्रिय गैस रेडान के समस्थानिक रेडान-222 वैसे जल स्रोतों में भी पहुंच जाते हैं, जिनमें रेडियो सक्रिय न्यूक्लिसाइड विद्यमान नहीं होते हैं। रेडान-222 तथा इससे निकले तत्व रेडियम-ए तथा रेडियम-सी रेडियो सक्रिय झरनों में पाए जाते हैं। रेडियो-सक्रिय पदार्थों के उपयोग के कारण मानव निर्मित विकिरण उत्पन्न होता है। रेडियो न्यूक्लिसाइड का उपयोग नाभिकीय ऊर्जा, परमाणु हथियार तथा विद्युत उत्पादन में होता है। विभिन्न क्षेत्रों में ट्रेसर के रूप में इसका उपयोग किया जाता है।

मानव निर्मित विकिरण

मानव द्वारा रेडियो सक्रिय पदार्थ के उपयोग से मानव निर्मित विकिरण उत्पन्न होता है। परमाणु हथियार, परमाणु ऊर्जा तथा विद्युत उत्पादन हेतु इसका उपयोग किया जाता है। परमाणु हथियार का निर्माण रेडियो सक्रिय पदार्थ का सबसे घातक उपयोग है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिरोशिमा से नागासाकी पर परमाणु बम गिराने से रेडियो सक्रियता के कारण उत्पन्न विनाश तथा मानव एवं पर्यावरण पर पड़े इसके दुष्प्रभाव से लोग परिचित हो चुके हैं। विगत पचास वर्षों में परमाणु हथियारों के समुद्र में अथवा भूमिगत कई परीक्षण किए जा चुके हैं।

परमाणु संयंत्रों में परमाणु ईंधन के उपयोग से प्रदूषण होता है। विखंडन तथा सक्रियण की प्रक्रिया के दौरान दो प्रकार के प्रदूषण उत्पन्न होते हैं:

(क) प्राथमिक तथा द्वितीयक ईंधनों में विखंडन उत्पाद उपस्थित रहते हैं, तथा (ख) प्रशीतकों में अतिरिक्त सक्रिय पदार्थ उपस्थित रहते हैं। परमाण्विक गंदगियों का निपटान एक समस्या है तथा इससे पर्यावरण में प्रदूषण फैलता है। खान में उपस्थित शेष धातु उत्पाद, विखंडन उत्पाद और सक्रिय उत्पाद ऐसे ही पदार्थ हैं।

विकिरण बढ़ने के कारण

अयस्क प्रसंस्करण: नाभिकीय प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले मुख्य पदार्थ यूरेनियम तथा थोरियम हैं। यूरेनियम 238 तथा थोरियम-232 कृत्रिम विखंडन पदार्थ हैं। सिर्फ यूरेनियम-235 में प्राकृतिक विखंडन होता है। परमाणु तकनीकी के विकास में इन पदार्थों का संग्रह करना सबसे पहला कार्य है।

संयंत्रों तथा नाभिकीय ईंधन का परिचालन: नाभिकीय इंधन का इस्तेमाल विखंडन को सक्रिय करने तथा ताप विद्युत के उत्पादन हेतु संयंत्रों में किया जाता है। विखंडन उत्पादन की उपस्थिति के साथ-साथ विखंडन प्रक्रिया के दौरान प्राथमिक ईंधन द्वितीयक ईंधन में परिणत होता है। इन प्रक्रियाओं के दौरान दो प्रकार के प्रदूषण होते हैं– प्राथमिक तथा द्वितीयक। ईंधनों में उपस्थित विखंडन पदार्थ तथा प्रशीतकों के अति सक्रिय उत्पाद इस प्रकार ईंधन तथा प्रशीतक रेडियो सक्रिय प्रदूषण के स्रोत हैं। विखंडन के दौरान पर्यावरण में जेनन और क्रिपटन जैसे रेडियो सक्रिय गैसों के उत्सर्जन होते हैं।

परमाणु हथियार परीक्षण

परमाणु विस्फोट परीक्षण से दुनिया के देशों में खतरा बढ़ गया है क्योंकि इससे पर्यावरण में भूमिगत विकिरण में वृद्धि हुई है। विखंडन और संलयन प्रक्रियाओं में विखंडन सामग्री के रूप में यूरोनियम-235 तथा प्लूटोनियम 239 और संलयन सामग्री के रूप में हाइड्रोजन या लिथियम का उपयोग होता

है। विस्फोट के दौरान अति तीव्र सतत् प्रतिक्रिया होती है जिससे भारी मात्रा में न्यूट्रॉन पैदा होती है। इसके कारण आस पास की सामग्री रेडियो सक्रिय हो जाती है।

विस्फोट के दौरान उत्पन्न बल और अत्यधिक ताप के कारण रेडियो सक्रिय पदार्थ गैस के रूप में ऊपर उठकर छोटे-छोटे कणों में वायुमंडल में व्याप्त हो जाते हैं। इससे वायुमंडल प्रदूषित हो जाता है। इसके बाद रेडियो सक्रिय वर्षा का भी वायुमंडलीय प्रदूषण में स्थान है। ये कण वर्षा के द्वारा अथवा स्वत: पृथ्वी की सतह पर गिरते हैं तथा मिट्टी में समा जाते हैं। इस प्रकार रेडियो सक्रिय प्रदूषण न सिर्फ परीक्षण स्थल तक अपितु दूरस्थ क्षेत्रों में भी फैलता है।

मिट्टी के माध्यम से रेडियो सक्रिय पदार्थ पौधों में पहुंचते हैं तथा वे आहार श्रृंखला से होते हुए मानव के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। जब वर्षा के माध्यम से विखंडन उत्पाद नदियों में गिरते हैं तो जलीय वनस्पति और जंतुओं में वे समा जाते हैं। इस प्रकार जब इन जीव-जंतुओं का उपयोग मानव अपने भोजन में करता है तो रेडियो सक्रिय समस्थानिक उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

सभी विखंडन पदार्थों की प्रकृति में अंतर हैं। इनमें से कई जल में अघुलनशील हैं तथा कणों के रूप में चट्टानों के नीचे दब जाते हैं। घुलनशील पदार्थ घोल में समाकर प्रवाहित हो जाते हैं। अन्य सामग्री जीवन चक्र में प्रवेश कर लेते हैं और विभिन्न रूप में समाहित हो जाते हैं।

रेडियो ट्रेसर

रेडियो ट्रेसर का व्यापक प्रयोग दवा, उद्योग, कृषि तथा रासायनिक एवं जैव रासायनिक प्रतिक्रियाओं की दिशा तय करने में जीव विज्ञान में होता है। इनमे C_{14} तथा I_{125} अत्यंत महत्वपूर्ण ट्रेसर हैं। वे भूमिगत जल की दर तथा दिशा तय करते हैं।

जब गंदे जल में व्याप्त ट्रेजर नालियों में पहुंचते हैं, तो रेडियो आयोडीन तथा रेडियो फॉस्फोरस जैसे समस्थानिक जैव पदार्थों में समा जाते हैं। नदियों में सूक्ष्म जीवों में प्रविष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार रेडियो सक्रिय पदार्थ युक्त मछली तथा अन्य समुद्री उत्पाद का मनुष्य भोजन में प्रयोग करता है। खतरा स्वभाविक है और यह जल आपूर्ति के स्रोतों से ही पैदा होता है।

प्रभाव

विभिन्न प्रकार के विकिरणों का विभिन्न उपयोग है। दृश्य प्रकाश, इन्फ्रारेड विकिरण तथा कुछ खास विकिरण लाभकारी हैं। किंतु एक्सरे जैसे अत्यंत शक्तिशाली विकिरण शरीर की कोशिकाओं तथा ऊतकों को नष्ट कर देते हैं। अपनी अत्यधिक ऊर्जा के कारण सजीव सहित अन्य पदार्थों को आयनों में तोड़ देते हैं, अत: वे आयनिक विकिरण कहलाते हैं। विकिरण के अन्य रूप हैं, विद्युत चुम्बकीय विकिरण तथा पार्टिकुलेट विकिरण। पराबैंगनी विकिरण कई प्राणियों के ऊतकों को नष्ट कर देती हैं। पराबैंगनी विकिरण के सूर्य की किरणों से कई बार त्वचा जल उठती है और त्वचा की ऊपरी तथा अंदरूनी हिस्सा प्रभावित होती है।

इन प्रतिक्रियाओं तथा इनके संपर्क में रहने के कारण मानव को सर्वाधिक क्षति होती है। हवा में उपस्थित रेडियो सक्रिय कणों के कारण श्वसन तंत्र प्रभावित होता है तथा आहार श्रृंखला के माध्यम से ये कण मानव शरीर में अप्रत्यक्ष रूप से पहुंचते हैं। रेडियो सक्रिय प्रदूषण के कई दुष्प्रभाव हैं। इस प्रकार के विकिरण से कैंसर, असामान्य शिशुओं का जन्म, त्वचा इत्यादि रोग होते हैं। विकिरण के सतत संपर्क में रहने के कारण ल्युकेमिया होता है तथा गर्भस्था शिशु प्रभावित होता है।

प्रदूषण का दुष्प्रभाव कई बातों पर निर्भर करता है, यथा प्रदूषण तथा पर्यावरण की स्थिति सभी रेडियो सक्रिय न्यूक्लियाइड नष्ट होते हैं तथा विकिरण का उत्सर्जन करते हैं। इस सतत नष्ट होने को अर्द्ध जीवन काल कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में वह समय कहा जाता है, जितने में इनके परमाणु आधे रह जाते हैं। यह अवधि कुछ सेकेंड से लेकर वर्षों की होती है वे देरी से नष्ट होते हैं। ये विकिरण तीन प्रकार के होते हैं:

- घन आवेशित कणों में अल्फा किरणें होती हैं।
- ऋण आवेशित कणों में बीटा किरणें होती हैं।
- गामा किरणें एक्स किरणों से मिलती-जुलती हैं और वे आवेशहीन होती हैं।

अल्फा किरणों की भेदन क्षमता कम होती है। बीटा किरणों की भेदन क्षमता एक्स किरणों तथा गामा किरणों की भेदन क्षमता से अधिक होती है। इनके किरणों की ऊर्जा बहुत थोड़े से लेकर लाखों वोल्ट तक होती है। अत: प्रत्येक रेडियो सक्रिय पदार्थों का मानव पर असर उनके विकिरण तथा भेदन क्षमता पर निर्भर करता है।

पर्यावरणीय परिस्थितियों से भी रेडियो सक्रिय प्रदूषक पदार्थों के दुष्प्रभाव निर्धारित होते हैं। किसी खास क्षेत्र में रेडियो सक्रिय पदार्थों के फैलाव, संग्रह इत्यादि उस क्षेत्र के वायुमंडल, हवा, ताप, जलवायु इत्यादि से प्रभावित होते हैं। रेडियो सक्रिय प्रदूषण के पश्चात् प्रदूषक और जीव-जगत में आदान-प्रदान होता है। मानव सहित अन्य प्राणी सांस तथा भोजन के माध्यम से इन पदार्थों से प्रभावित होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाला माध्यम आहार श्रृंखला है।

रेडियो सक्रिय प्रदूषण के कई दुष्प्रभाव हैं। इससे कैंसर, असामान्य शिशुओं के जन्म। ये प्रभाव वनस्पति और जंतु-जगत पर समान रूप से पड़तें हैं। इनके दुष्प्रभाव को प्राकृतिक चयन के सर्वोत्तम का अस्तित्व के सिद्धांत के आधार पर दूर किया जा सकता है। किंतु यह सिद्धांत मानव पर लागू नहीं होता और उसे रेडियो सक्रिय पदार्थों के दुष्प्रभाव को झेलना ही पड़ता है। इससे बचने के लिए कोई उपाय नहीं हैं। सामान्य से थोड़ा भी अधिक विकिरण हानिकारक हो सकता है। आने वाली पीढ़ियों की आनुवंशिकता पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। अत: यह प्रदूषण की तरह यह भी एक स्वास्थ्य समस्या है।

नियंत्रण के उपाय

इनके दुष्प्रभाव के बावजूद भी परमाणु शक्ति तथा अन्य कार्यों में इसका उपयोग आवश्यक हो गया है। पर्यावरण के प्रति सजग बहुत से देश परमाणु शक्ति का उपयोग विद्युत उत्पादन के लिए करते हैं। इससे प्रदूषण कम फैलता है और विद्युत उत्पादन के अन्य साधनों की अपेक्षा इसका दुष्प्रभाव पर्यावरण पर सबसे कम है। फिर भी पर्यावरण की सुरक्षा हेतु निरीक्षण और नियंत्रक उपायों की आवश्यकता है।

ये उपाय रेडियो सक्रिय प्रदूषण के नियंत्रण हेतु किया जाना चाहिए। औद्योगिक प्रदूषण को उचित शोधन के पश्चात् ही निपटान किया जाना चाहिए। अत्यधिक क्रियाशील प्रदूषक का निपटान नहीं किया जाना चाहिए। इन प्रदूषक पदार्थों के उचित शोधन के पश्चात उपयोग करने वाली तकनीकी का विकास हो चुका है। रेडियो सक्रिय प्रदूषण को नियंत्रण किया जा सकता है। परमाणु संयंत्रों में अतिरिक्त सक्रिय पदार्थों के निर्माण रोकने के लिए बंद चक्र प्रणाली वाली अत्यधिक शुद्ध गैसीय शीतक का उपयोग किया जा सकता है। संयंत्रों और वैसे स्थान जहां रेडियो सक्रियता के खतरे हैं, वहां मजदूरों तथा कर्मचारियों को संकट से बचाने के उपाय करने की आवश्यकता है। सतत निरीक्षण, सफाई, स्वास्थ्य प्रबंधन के साथ-साथ रेडियो सक्रियता से बचाने के लिए उचित उपकरण होना चाहिए। ऊर्जा संयंत्रों में कार्यरत कर्मचारियों को रेडियों सक्रियता से सुरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया

जाना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र सहित विभिन्न संस्थाएं परमाणु हथियारों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने पर विचार कर रही है। किंतु इस दिशा में सफलता नहीं मिल पायी है। परंतु परमाणु बम तथा अन्य परमाणु हथियारों से विश्व को मुक्त करने के प्रति अशान्वित रहना चाहिए। रेडियो सक्रिय पदार्थों की प्रकृति और स्तर निर्धारित करने के लिए गंभीर निरीक्षण प्रणाली होनी चाहिए।

निरीक्षण तकनीकी

अन्य प्रदूषक पदार्थों से भिन्न रेडियो सक्रिय प्रदूषक पदार्थों का मापन आसानी से किया जा सकता है। अतएव इनके लिए गंभीर निरीक्षण प्रणाली विकसित किया जा सकता है, जो अन्य प्रकार के प्रदूषक पदार्थों के नियंत्रण के लिए आदर्श प्रतिरूप हो सकता है। निरीक्षण तकनीकी इस प्रकार है:

- विश्लेषण के लिए नमूना बनाने के लिए विश्लेषण
- मात्रात्मक तथा गुणात्मक विश्लेषण

रेडियो सक्रिय पदार्थों के क्षय तथा उनके उत्तरोत्तर विकिरण उत्सर्जन के क्रम को मानव द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। अतएव इन प्रदूषक पदार्थों को विषहीन पदार्थों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। नियंत्रक उपाय द्विस्तरीय पर होना चाहिए। कार्य के दौरान उनके संपर्क से बचाना चाहिए तथा आम जनसंख्या की ऐसे पदार्थों से सुरक्षा होनी चाहिए। इन उपायों का लक्ष्य होना चाहिए कि प्रदूषण एक सीमा से अधिक नहीं हो।

औद्योगिकी प्रदूषण के शोधन के पश्चात ही उसे वायुमंडल में छोड़ना चाहिए ताकि रेडियो सक्रियता की मात्रा को कम रखना चाहिए। प्रदूषक पदार्थों को नालियों अथवा नदियों में उत्सर्जित करना चाहिए। उत्सर्जन से पूर्व निम्न सक्रिय पदार्थों को अलग किया जाना चाहिए, ताकि सक्रियता को कम रखा जा सके। उच्च रेडियो सक्रिय उत्सर्जी पदार्थों को नहीं प्रवाहित किया जा सकता है।

प्रदूषक पदार्थों को समुद्र में प्रवाहित करने की चेष्टा की गयी है। कंकड़ से भरे हुए ड्रम में प्रदूषक पदार्थों को भरकर 1000 फैदम और इसे अधिक गहराई में डाला जाता है। चूंकि समुद्र में प्रदूषक पदार्थों को छोड़ना खर्चीला है अतएव भूमिगत उत्सर्जन की सलाह दी गयी है।

रेडियो सक्रिय प्रदूषक पदार्थों के उत्सर्जन को निर्धारित सीमा के अंदर रखना चाहिए। यह एक लाभकारी उपाय है और इसकी योजना निर्माण कार्य प्रारंभ होने से पहले बनती है। इसके लिए कई तकनीक हैं। इन तकनीक का चुनाव उद्योग अथवा प्रक्रिया की प्रकृति पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, रासायनिक और धातुकर्म उद्योग में रेडियो सक्रिय पदार्थों का निष्कासन गैस अथवा पाऊडर रूप में नहीं, अपितु मिट्टी अथवा जल की धारा के रूप में किया जाता है। यूरेनियम खदानों में भूमिगत ड्रेनेज के साथ वेट ड्रिलिंग का उपयोग किया जा सकता है। छितराने की विधि से प्रदूषक पदार्थों को व्यापक क्षेत्र में फैलाने से प्रदूषण का प्रभाव कम हो जाता है। कारखानों में ऊंचा धुआंकश और वायु निष्कासक के प्रयोग से प्रदूषण कम किया जा सकता है। कार्य के दौरान प्रदूषक पदार्थों के संपर्क से कार्मिक अधिक प्रभावित होते हैं। इससे बचने के लिए निम्नलिखित उपाय हैं:

1. रेडियो सक्रिय पदार्थों के संपर्क में रहने से जहां इसके विकिरण को कम करना कठिन है, वहां कार्य द्रुत गति से करने अथवा अधिक संख्या में लोगों को लगाने से कार्य अवधि को कम करके इस दुष्प्रभाव से बचा जा सकता है।
2. रेडियो सक्रिय पदार्थों के दुष्प्रभाव से बचने का एक उपाय यह है कि कार्य के दौरान इसके स्रोत से दूर हटकर काम किया जाये।

यद्यपि बाह्य विकिरण के दुष्प्रभाव से बचा जा सकता हैं किंतु आंतरिक विकिरण के दुष्प्रभाव से बचना कठिन है। उचित कार्य प्रणाली तथा गृह रख-रखाव के माध्यम से रेडियो सक्रिय पदार्थों को ग्रहण करने से बचा जा सकता है। गृह रख-रखाव के अंतर्गत सतह का नियमित निरीक्षण एवं सफाई, प्रयोग कक्ष छोड़ते समय सावधानी पूर्वक सफाई तथा प्रदूषण प्रभावित कक्ष में धूम्रपान और खाना पीना निषेध है। मास्क, हूड, ओवरराल, बूट, टोपी तथा दस्तानों के प्रयोग से दीर्घकाल तक रहने वाले समस्थानिकों के दुष्प्रभाव से बचा जा सकता है। निवारक उपायों को तत्काल अपनाना ही सुरक्षा का सर्वोत्तम तरीका है।

खान में रेडियों सक्रिय प्रदूषक पदार्थों के उत्सर्जन को निर्यंत्रित किया जा सकता है। यूरेनियम के खानों में वेट ड्रिलिंग अपनायी जा सकती है। परमाणु संयंत्रों में वाह्य सक्रिय उत्पादों को रोकने के लिए उच्च शुद्धता युक्त गैसीय प्रशीतकों के साथ बंद चक्र प्रणाली का उपयोग किया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य विश्व संस्थाएं परमाणु हथियारों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने के पक्षधर हैं किंतु इस दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हो सकी। हमें आशान्वित रहना चाहिए कि भविष्य में विश्व परमाणु मुक्त हो सकेगा।

सरकार की भूमिका

भारत में पर्यावरणीय समस्या को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम विकास के नकारात्मक प्रभाव की देन है, तो द्वितीय निर्धनता और अल्प विकसित अवस्था का परिणाम है। शीघ्र आर्थिक विकास और वृद्ध प्राप्त करने की दिशा में प्रदूषण उत्पन्न होता है। विकास परियोजनाओं के कुप्रबंधन से पर्यावरण पर विनाशकारी असर पड़ता है। द्वितीय वर्ग का असर स्वास्थ्य तथा हमारे प्राकृतिक संसाधन, यथा- भूमि, मिट्टी, जल, वन, वन्य प्राणी, अंतरिक्ष पर पड़ता है। इन सबके मूल में निर्धनता है।

सी एन जी की आवश्यकता

- पारंपरिक ईंधन की अपेक्षा सी एन जी पर एक तिहाई खर्च आता है।
- सीएनजी सहज उपलब्ध ईंधन है। अन्य जीवाश्म ईंधन की तुलना में सीएनजी का मूल्य स्थिर रहा है।
- सी एन जी प्रज्वलत में सबसे उपयुक्त है। सी एन जी वाहनों पारंपरिक ईंधन की तुलना में 90% कम कार्बन डायऑक्साइड, 70% कम हाइड्रोकार्बन और 53% कम नाइट्रस ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है।
- संयुक्त राष्ट्र में स्थिति गैर सरकारी संगठन प्राकृतिक संसाधन सुरक्षा समिति ने अपने अध्ययन में बताया है कि एक सी एन जी बस के प्रयोग से प्रदूषण उत्सर्जन का स्तर उतना कम होता है जितना 85-94 कार को सड़क से हटाने पर।
- सी एन जी वाहन की तुलना में डीजल वाहन में कैंसर फैलाने की क्षमता 5 गुना है।
- सी एन जी को अन्य ईंधन की तरह दूसरे वाहन से निकाला नहीं जा सकता है।
- सी एन जी में अन्य पदार्थ नहीं मिलाया जा सकता है।

सर्वप्रथम चतुर्थ पंच वर्षीय योजना में पर्यावरण समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया था। इस योजना के तहत सन् 1972 में पर्यावरण समिति गठित की गयी जिसका मुख्य कार्य पर्यावरणीय समस्याओं पर गौर करना तथा भारत सरकार के संबंधित मंत्रालय और विशेषज्ञों की सलाह से समस्या का निदान प्रस्तुत करना था। पर्यावरण और वन मंत्रालय कार्यक्रमों की योजना, उन्नति और समन्वय के प्रशासनिक कार्यों में मुख्य भूमिका अदा करता है।

वर्तमान में वन संरक्षण के लिए 30 मुख्य कानून हैं। कारखाना अधिनियम तथा कीटनाशक अधिनियम भी वन अधिनियम के अंतर्गत आते हैं। सरकार ने समय-समय पर कार्य योजनाएं बनायी हैं। इसके तहत कचरे की सफाई हेतु तकनीकी, जल की गुणतत्ता बढ़ाने, मानव संसाधन विकास हेतु संस्थागत प्रयास तथा वन एवं प्राकृतिक संसाधनों के आकलन आते हैं।

वन और पर्यावरण मंत्रालय हानिकारक रासायनिक पदार्थ, कचरे तथा सूक्ष्म जीव जैसे विनाशक की प्रबंधन तथा नियंत्रण करने वाली प्रमुख संस्था है। हानिकारक रासायनिक पदार्थों के कारखाने में आपदा से जूझने के लिए संकट प्रबंधन योजना बनायी गयी है। योजना के अंतर्गत केंद्र, राज्य तथा जिला अथवा स्थानीय स्तर पर संकट से निपटने के लिए त्रिस्तरीय प्रणाली की स्थापना की बात कही गयी है।

मंत्रालय ने 'राष्ट्रीय कचरा प्रबंधन संस्थान' की स्थापना की है। इसका मुख्य कार्य देश में कचरे का समुचित निपटान है। चिमनियों से निकलने वाली राख के उपयोग पर जोर दिया गया है। राज्य सरकारों को राख के 50 प्रतिशत का उपयोग करने की सलाह दी गयी है।

वन नीति 1988 के तहत वनों की सुरक्षा, संरक्षण और विकास मुख्य क्रियकलाप हैं। मुख्य गतिविधियां है:

(i) पारिस्थितिकी संतुलन को कायम रखते हुए पर्यावरणीय स्थायित्व को बनाए रखा जा सकता है।

(ii) प्राकृतिक दायों का संरक्षण।

(iii) नदी, झील तथा जलकुंड के अपवाह क्षेत्र में भूमि के अपरदन को रोकना, और

(iv) प्राकृतिक आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु वन उत्पाद में वृद्धि।

पर्यावरणीय शिक्षा

वन और पर्यावरण मंत्रालय ने विभिन्न आयु वर्ग के लोगों के बीच पर्यावरण चेतना विकसित करने तथा पर्यावरण सूचना प्रणाली (ENUIS) नेटवर्क के माध्यम से पर्यावरणीय शिक्षा के प्रसार को प्राथमिकता दी है। सेमिनार, सभा कार्यशाला, प्रशिक्षण कार्यक्रम, पारिस्थितिकी शिविर, ध्वनि-दृश्य प्रदर्शन, जैसे अनौपचारिक पर्यावरणीय शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया है।

जुलाई 1986 में मंत्रालय राष्ट्रीय स्तर पर जन जागरण का कार्य कर रहा है। पर्यावरण वाहिनी नाम से एक नया कार्यक्रम 1992-93 में प्रारंभ किया गया। इसके तहत पर्यावरण चेतना जगाना तथा स्थानीय लोगों की सहभागिता द्वारा पर्यावरण संरक्षण है।

सरकार द्वारा कई प्रकार के प्रयासों के बावजूद पर्यावरण संकट का कोई ठोस निदान नहीं मिल सका है। वस्तुत: कोई भी पर्यावरण कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसमें स्थानीय लोगों की सकारात्मक सहभागिता न हो। इन कार्यक्रमों की सफलता के लिए यह निश्चित है कि लोगों को पर्यावरण संकट के दुष्प्रभाव के प्रति सचेत किया जाए। इसको कार्यान्वित इस प्रकार किया जाना चाहिए, ताकि इसमें शहरी शिक्षित एवं संपन्न व्यक्ति के साथ-साथ ग्रामीण निर्धन एवं उपेक्षित लोग भी इसमें सहभागी बन सकें।

अब प्रश्न यह है कि विभिन्न सांस्कृतिक और भाषायी वर्गों एवं क्षेत्रों को एक ध्वज के नीचे कैसे लाया जाये। इस आवश्यकता को पूरा करना किसी सरकार के लिए चुनौती है।

मीडिया की भूमिका

भारत में अखबार, रेडियो तथा टेलीविजन के माध्यम से सूचना प्रदान की जाती है। क्षेत्र प्रचार निदेशालय तथा गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से ध्वनि एवं दृश्य कार्यक्रमों द्वारा सूचना का प्रसार किया जाता हैं। किंतु इनका प्रसार क्षेत्र सीमित है। जनसंचार माध्यमों के द्वारा संपूर्ण देश में फैलायी गयी पर्यावरणीय सूचना अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय है। संचार माध्यमों के प्रयास से पर्यावरण के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई है। पर्यावरण सुरक्षा के प्रति सामान्य चेतना के विकास से प्रकृति के अनुचित दोहन को रोकने में मदद मिली है।

पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को रोकने के लिए सुनियोजित नीति की आवश्यकता है। पर्यावरण समाचार के कवरेज हेतु उचित जनसंचार तथा आधारभूत संरचना की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा जनमत तैयार कर पर्यावरण क्षय को रोका जा सकता है।

धारणीय विकास तथा पर्यावरण जागृति हेतु संचार माध्यमों की सशक्त भूमिका की आवश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए लोगों को प्रेरित करने हेतु व्यक्ति संचार तथा प्रयोक्ता से सीधे बातचीत आवश्यक है। पर्यावरण अनुकूल विकास में विभिन्न समुदायों तथा व्यक्ति से सीधे बातचीत कई पर्यावरणीय समस्याओं के निदान हेतु आवश्यक है।

बढ़ती जनसंख्या तथा तदजन्य गरीबी से होने वाले पर्यावरण क्षय को रोकने हेतु पर्यावरण के प्रति जगरूकता जगाकर राष्ट्रीय पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकी लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी जागरूकता लाने मे सिर्फ संचार माध्यम ही सक्षम हो सकता है। अब समय आ गया है कि मीडिया को राष्ट्रीय पर्यावरण संकट से बचाने के लिए उपलब्ध सभी मंचों, संसाधनों और अवसरों का उपयोग करना चाहिए।

सीसा प्रदूषण

भारत में सीसासे होने वाले प्रदूषण का दुष्प्रभाव व्यापक होते हुए भी ठीक तरह से इसका आकलन नहीं हो सका है। शहरों में जनसंख्या वृद्धि, वाहनों की संख्या में वृद्धि तथा शीशायुक्त पेट्रोल का उपयोग करने वाले दुपहिया वाहनों की संख्या में वृद्धि पर चिंता जतायी गयी है। ऐसा अनुमान है कि 6 महानगरों में रहने वाले 25 वर्ष से कम आयु के आधे लोगों के रक्त में सीसे की मात्रा खतरनाक सीमा तक पायी गयी है। दिल्ली में स्थिति सबसे खतरनाक है। प्राथमिक आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि भारत में 51.4 प्रतिशत बारह वर्ष से कम आयु के बच्चों के रक्त में सीसे की मात्रा 10 माइक्रोग्राम प्रति डेसी ली. है। यह मात्रा 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में अधिक भयंकर हो सकती है। किंतु इस संबंध में आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

सीसे का प्रमुख संभावित स्रोत जल आपूर्ति तथा टीन के बर्तन हैं। तांबे के बर्तन के अंदर में टिन-सीसामिश्रण का व्यापक दुष्प्रभाव है। नल और बर्तन के माध्यम से पेय जल में सीसे की उपस्थिति चिंता का विषय है, किंतु इस संबंध में यथेष्ट आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। सड़क के किनारे घास चरने वाली गायों का दूध सीसासे संक्रमित हो सकता है। तथापि पर्यावरण में सीसाकी मात्रा तथा उसके दूध में उपस्थित सीसासे संबंध स्थापित करने के लिए अधिक यथेष्ट जानकारी की आवश्यकता है। ऐसा माना जाता है कि रांगा किये हुए बर्तन में भोजन रखने से भोजन संक्रमित हो जाता है। किंतु इसके दुष्प्रभाव के विषय में जानकारी सीमित है। मसाले तथा अनाज तैयार करने की प्रक्रिया के दौरान मशीन अथवा पीतल के अंश का इन पदार्थों में मिलने से भोजन शीशायुक्त हो जाता है।

देशी शराब बनाने में एल्कोहल प्रशीतन हेतु कार के रेडिएटर के उपयोग से सीसासंक्रमण की व्यापक समस्या व्याप्त है। आईसक्रीम तैयार करते समय

CHRONICLE IAS ACADEMY

इसमें सीसाकी मात्रा जाने से सीसाजन्य संक्रमण फैलाता है। खाद्य पदार्थ एवं अन्य सामग्री के साथ सीसामिल जाता है। सीसाको किस सीमा तक परिशोधित किया जाता है, यह भी चिंता का विषय है। उदाहरणार्थ सीसा युक्त पंप तेल का उपयोग खाना पकाने हेतु जलावन जलाने में किया जाता है। सीसा के कुल उपयोग का 70 प्रतिशत बैट्री हेतु किया जाता है तथा प्रतिवर्ष 60000 मैट्रिक टन सीसाका गैर-कानूनी रूप से परिशोधन किया जाता है। गैर- कानूनी कारखाने सुरक्षा आवश्यकताओं की अनदेखी करते हैं। इससे न सिर्फ मजदूरों के स्वास्थ्य को खतरा पहुंचता है अपितु आम नागरिक के स्वास्थ्य को भी क्षति पहुंचती है। सीसा युक्त काजल तथा घरेलू उपचार सीसा का प्रयोग, भारत में, अभी भी हो रहा है। रंगों में मौजूद सीसाके दुष्प्रभाव की जानकारी अभी थोड़े लोगों में है। शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रंगों के प्रयोग में अंतर है। तथापि यह सबूत है कि भारत में उपयोग किया जाने वाला सीसा10% रंगों के माध्यम से उपयोग किया जाता है।

तेल रिसाव

विश्व में तेल रिसाव की अनेक घटनाएं पर्यावरण को गंभीर रूप से प्रभावित कर रही हैं। आज तेल रिसाव की छोटी-मोटी घटनाएं आम बात-सी हो गयी हैं।

तेल रिसाव का समुद्री क्षेत्र पर गहरा असर पड़ता है। इसके कारण समुद्री जल का प्राकृतिक रंग बदल जाता है तथा जल की सतह पर तेल की एक परत-सी जम जाती है। प्रारंभ में सतह पर तेल का बहाव द्विआयामी होता है, परन्तु बाद में यह समुद्र तल की गहराइयों में सूर्य के प्रकाश को जाने में अवरोध उत्पन्न करता है। इसके फलस्वरुप, समुद्री वनस्पति, जैसे-डायटम (एककोशीय पादप), समुद्री शैवाल आदि में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया बंद हो जाती है। तेल की परत के कारण वायुमंडल एवं समुद्री जल के मध्य वायु सम्पर्क टूट जाने से जल में ऑक्सीजन की मात्रा कम होती जाती है। परिणामस्वरूप, अनेक समुद्री जीवों एवं पादपों की तत्काल मृत्यु हो जाती है। खाद्य श्रृंखला में इन पर आधारित अन्य जीव भी इससे प्रभावित होते हैं। इसके अलावा, समुद्र की सतह तक पहुंचने वाले तैलीय कणों से समुद्री कोरल एवं अन्य दुर्लभ पादप व जन्तु की प्रजातियां भी प्रभावित होने से नहीं बच पातीं। इतना ही नहीं, समुद्री लहरों द्वारा वाहित तेल समुद्र तट में वनस्पतियों को सराबोर कर देती हैं, जिसके कारण तटीय क्षेत्रों में मवेशियों के लिए चारे की गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। समुद्री पक्षियों के तेल से लथपथ शरीर ऑक्सीजन के अभाव में कुछ समय के बाद मरने के लिए मजबूर हो जाते हैं। अपरिष्कृत खनिज तेल कैंसरस होते हैं, जिसके कारण ये जीव-जन्तुओं के जीन में परिवर्तन भी ला सकते हैं। फलस्वरुप, इनमें अनावश्यक उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) की संभावना बढ़ सकती है। तेलयुक्त जल से मछलियां क्लोम (गिल्स) द्वारा सांस नहीं ले सकती हैं, जिसके कारण भारी मात्रा में समुद्री मछलियां एवं अन्य जीव मर जाते हैं। इसके सड़ने से पर्यावरण गम्भीर रूप से प्रदूषित हो जाता है।

तेल रिसाव के कारण समुद्री जल में उपस्थित तेल को कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय प्रभावी हो सकते हैं-

सूक्ष्म तरंग का उपयोग : इसका उपयोग हाल ही में शुरू किया गया है। इसके उपयोग से जल में तेल रिसाव की कम से कम मात्रा का भी पता लगाया जा सकता है।

डिटर्जेंट का छिड़काव : तेल रिसाव वाले क्षेत्र में कृत्रिम डिटर्जेंट के हवाई छिड़काव द्वारा जल में उपस्थित तेल, बुलबुले के रूप में परिवर्तित होकर वाष्पशील हो जाते हैं।

अवशोषण : तेल परत को तेल अवशोषी जहाज द्वारा अवशोषित करके भी तेल के प्रभाव को कम किया जा सकता है।

भारत में उपभोक्ता संरक्षण कानूनों की स्थिति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। विषैले पदार्थों के नियमन तथा वस्तुओं में सीसे की मात्रा की जानकारी से जनता को अवगत कराना आवश्यक है। सिर्फ जन जागृति से स्वास्थ्य संकट को टाला जा सकता है।

फ्लोराईड विषाक्तीकरण

असम के करबी अंगलांग को में फ्लोराईड प्रभावित स्थानों की सूची में शामिल किया जा चुका है। सात लाख की आबादी वाले इस जिला का क्षेत्रफल 10332 वर्ग किमी है। इस जिला का दसवां भाग हाइड्रोफ्लोरोसिस से प्रभावित है। फ्लोराईड युक्त जल का अधिक मात्रा में सेवन से हाइड्रोफ्लोरोसिस होता है। अत्यधिक फ्लोराईड सेवन के लक्षण बहुत से बच्चों में स्पष्ट हैं। प्रभावित व्यक्ति में रक्तल्पता, जोड़ो में दर्द, चलने में परेशानी तथा दर्द तथा दांतों में परेशानी होती है। इससे वृक्क काम करना बंद कर देता है। फलत: असामयिक मृत्यु होती है। प्रभावित व्यक्ति के पेशाब की जांच द्वारा शरीर में अत्यधिक फ्लोराइड का पता लगाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, फ्लोरोसिस लाईलाज है।

इस पहाड़ी जिला का भूमिगत जल फ्लोराईड से प्रदूषित है। समस्या के बदतर होने का कदाचित यह सबसे बड़ा कारण है। वर्तमान में फ्लोरोसिस लाईलाज है किंतु समय पर इसका पता चलने पर इसका निदान संभव है। इस बीमारी से बचने का एक मात्र उपाय है कि फ्लोराईड से प्रदूषित जल को ग्रहण नहीं किया जाय। जिन्हें फ्लोरोसिस है उन्हें समय रहते हुए सचेत हो जाना चाहिए। प्रारंभ में रोगी को दर्द तथा जोड़ों में तनाव होता है। तदन्तर गठिया के लक्षण होने लगते हैं। अंतत: रक्तल्पता, दर्द, चलने में दिक्कत, मांसपेशियों में ढ़ीलापन तथा वृक्क खराब होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि जब जल के साथ फ्लोराइड शरीर में आता है, तो यह हड्डी के हाइ्राक्साइड को हटा देता है। फ्लोराईड हड्डियों में जमा होने लगता है और फलस्वरूप स्केलेटल फ्लोरोसिस होता है। स्केलेटल फ्लोरोसिस के फलस्वरूप जोड़ों, रीढ़ तथा नितम्ब में जोरों का दर्द होता है। इसके साथ-साथ रीढ़ और जोड़ों में तनाव होता है जिससे अंतत: अपंगता हो जाती है।

जल पीने के अतिरिक्त फ्लोराईड मानव शरीर में भोजन, दंतमंजन तथा अन्य उत्पादों के माध्यम से प्रवेश करता है। फ्लोराईड एक रंगीहीन तथा गंधहीन पदार्थ है। यह भूमिगत जल में चट्टानों के संपर्क से आता है। भूमिगत जल फ्लोराईड से उतना ही अधिक प्रभावित होता है जितना अधिक देर यह जल के संपर्क में रहता है। भारत में फ्लोरीन के तीन प्रमुख स्रोत हैं:

फ्यूओस्पार्स, चट्टानों में विद्यमान फास्फेट तथा फांस्फोराइट्स महत्वपूर्ण पहलू यह है कि पृथ्वी की ऊपरी परत में विद्यमान अधिकांश थ्योराईड यौगिक जल में घुलनशील हैं। जल भौगोलिक, रासायनिक तथा भौतिक गुणों, चट्टान की अवशोषण क्षमता, PH तथा तापमान के आधार पर भूमिगत जल में प्रति लीटर 1 से लेकर 20 मिलीग्राम तक फ्लोराईड पाया जाता है। जब चट्टान तथा मिट्टी में फ्लोराईड युक्त पदार्थों के संपर्क में जल आता है, तो जल-अपघटन प्रक्रिया के द्वारा ये पदार्थ जल में फ्लोराईड का त्याग करते हैं। असम के करबी अंगलांग क्षेत्र में दरार, भ्रंश इत्यादि सभी प्रकार के भौगोलिक कारक विद्यमान हैं। यहां प्राचीन और आधुनिक अवसादी चट्टानों के अतिरिक्त बालू, चट्टान, ग्रेनाइट तथा क्वाटर्ज हैं। इनमे फ्लोराईड की मात्रा स्वत: विद्यमान रहती है। अत: यह क्षेत्र स्वभाविक रूप से फ्लोरोसिस से प्रभावित है।

तथापि फ्लोरोसिस का प्रभाव अलग-अलग व्यक्ति में अलग-अलग होता है। कभी-कभी विपरीत शारीरिक परिवर्तन तुंरत परिलक्षित हो जाते हैं किंतु यदाकदा इसका असर देर से परिलक्षित होता है। इसका सर्वाधिक असर महिला और बच्चों पर पड़ने की संभावना होती है। इसके अतिरिक्त,

CHRONICLE IAS ACADEMY

जो महिला बचपन में कुपोषण की शिकार रहती हैं उन पर इसका असर यथा शीघ्र पड़ता है। उपलब्ध आंकड़े के अनुसार वर्तमान में भारत में 60 लाख बच्चे तथा 6 करोड़ 20 लाख महिलाएं फ्लोरोसिस से प्रभावित हैं। सिर्फ असम में 20000 बच्चे तथा युवक फ्लोरोसिस की चपेट में हैं। सावधानी बरतना ही इसका निदान है। इस परिप्रेक्ष्य में स्वास्थ्य शिक्षा दिया जाना अत्यावश्यक है। इस समस्या पर काबू पाने के लिए वैकल्पिक पेय जल तथा दवा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

निष्कर्ष

प्रदूषण को रोकने के लिए भारत ने काफी प्रयास किया है। इसने उत्पादन तथा प्रसंस्करण दोनों प्रक्रियाओं में पर्यावरणीय मानदंडों को अपनाया है। इनका पर्यावरण पर प्रभाव के आकलन के लिए पर्यावरण लेखा किया जाता है। अध्ययन से स्पष्ट है कि वायु स्वच्छ रखने का खर्च जन स्वास्थ्य पर की जाने वाली खर्च से कम है। आर्थिक प्रोत्साहन, विधि प्रवर्तन, अन्य नियंत्रण, तकनीकी खोज तथा संस्थागत प्रयासों को ध्यान में रखते हुए भारत के जल तथा वायु को स्वच्छ रखने के लिए बहुपक्षीय रणनीति बनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त विश्वसनीय सूचना प्रदान कर, अंतर मंत्रालय, तथा अंतर संस्थागत सहयोग के माध्यम से प्रभावी तथा सफल कार्यान्वयन रणनीति बनाने के लिए जन सहभागिता की आवश्यकता है। वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने वाले मानदंडों में भी सुधार किया जाना चाहिए। वाहन प्रदूषण के सक्षम नियंत्रण तथा वाहन अनुरक्षण के माध्यम से वाहन प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन रणनीति अपनाने की आवश्यकता है। ■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

11 भूमि अपकर्ष

कृषि का मुख्य आधार, भूमि के आकार तथा उत्पादकता दोनों में कमी आ रही है। कुल क्षेत्रफल का 3 प्रतिशत अधिक उत्पादक है तथा 19 प्रतिशत क्षेत्र कम और मध्यम उत्पादक हैं। प्रतिवर्ष 50 से 70 लाख हैक्टेयर कृषि क्षेत्र प्राकृतिक तथा मानवीय कारकों से नष्ट होता है। इससे भूमि अपकर्ष की समस्या की गंभीरता का पता चलता है। वर्तमान में खाद्यान्न की बढ़ रही मांग को पूरा करने के लिए किसान के पास व्यापक स्तर पर कृषि कार्य करने के अतिरिक्त, कोई अन्य विकल्प नहीं है। वहीं दूसरी ओर कृषि भूमि में कमी आती जा रही है। इस रुझान के कारण न सिर्फ कृषि भूमि में कमी आती जा रही है। अपितु उत्पादकता बढ़ने की संभावना भी न्यून होती जा रही है।

भूमि अपकर्ष के प्रकार

1 **भौतिक अपकर्षः** पानी का जमाव, मिट्टी पर पपड़ी पड़ना, ठोसीकरण तथा मरुभूमि का विस्तार।
2 **रासायनिक अपकर्षः** खारापन, अम्लीयता, सघनता, पोषक तत्वों का क्षय, रासायनिक तत्वों की कमी।

अपकर्ष के कारक

माध्यम उत्पादकता भूमि से निम्न उत्पादकता, भूमि में परिवर्तन के मुख्य कारण हैं कि उद्योग, ईंट मिट्टी तथा सड़क की वजह से उत्पादकता नष्ट होती है। गहन कृषि से भी भूमि अपकर्ष होता है। अपकर्ष के निम्नलिखित कारक हैं:

- जलवायु-वर्षा से अधिक वाष्पीकरण, सूखा, मूसलाधार वर्षा, तेज पवन, चक्रवाती तूफान इत्यादि
- प्रबंधन कारक-अवैज्ञानिक रीति से भूमि का उपयोग, बिना सरंक्षण उपाय के अनुपयुक्त फसल प्रणाली, रासायनिक उर्वरक का अत्यधिक उपयोग, भूमिगत जल का दोहन, अंधाधुंध वन की कटाई, स्थानांतरण कृषि इत्यादि।
- सामाजिक-आर्थिक तथा नीतिगत कारक : जनसंख्या दबाव, गरीबी, उच्च स्तरीय तकनीकी के उपयोग से ढिलाई, घट रहे भूमि-व्यक्ति अनुपात, बटाई प्रणाली, अक्षम नीतियां इत्यादि।

विस्तार

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के अनुसार भूमि अपकर्ष की दर 1990 के प्रारंभ में 50 से 70 लाख हैक्टेयर प्रतिवर्ष थी। यह हर दर नयी शताब्दी के प्रारंभ तक एक करोड़ हैक्टेयर प्रतिवर्ष होनी थी।

भौगोलिक कारक, भूगर्भीय बनावट, मिट्टी की प्रकृति, वर्षा और जलवायु संबंधी अन्य आकलन, भूमि उपयोग, उपयोग के तरीके इत्यादि के अनुरूप भूमि अपकर्ष की गति में राज्यवार अंतर है। राजस्थान में सबसे अधिक तीन करोड़ सत्तर लाख हैक्टेयर, इसके बाद मध्य प्रदेश में 2 करोड़ हैक्टेयर, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा गुजरात (प्रत्येक में एक करोड़ हैक्टेयर) भूमि अपकर्षित है।

मुख्य कारण

(1) **पवन एवं जल अपरदन :** भारत में अपकर्षित 6 करोड़ 90 लाख हैक्टेयर भूमि में से, 4 करोड़ 30 लाख हैक्टेयर भूमि बंजर है। जिसमें 40 लाख हैक्टेयर घाटी तथा नाली युक्त भूमि शामिल हैं। हिमालयी क्षेत्र की कमजोर मिट्टी जल के द्वारा अपरदित हो जाती है, जल द्वारा अपरदन पश्चिमी घाट तथा मूसलाधार वर्षा वाले क्षेत्र में भी होता है। जल द्वारा अपरदन के कारण न सिर्फ मिट्टी की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है, अपितु जलकुंड में जलधारण क्षमता में भी कमी आती है।

वायु द्वारा अपरदन की गतिवधियां गर्म शुष्क क्षेत्रों में अधिक होती हैं। भारत में 3 करोड़ 17 लाख हैक्टेयर क्षेत्र ऐसा है, जहां वायु द्वारा अपरदन होता है। इसमें 61 प्रतिशत क्षेत्र राजस्थान में है। वनों की कटाई तथा अत्यधिक चरने से वायु अपरदन तथा मरुभूमि विस्तार होता है।

(2) **जल जलावः** जल स्तर उठने से जल जमाव के कारण पर्यावरण और उत्पादकता को क्षति पहुंचाती है। जहां जमाव के कारण प्रतिवर्ष करीब एक लाख हैक्टेयर भूमि प्रभावित होती है। नहर द्वारा सिंचाई पद्धति अपनाना इसका सबसे प्रमुख कारण है।

(3) **लवणीकरण तथा क्षारीयकरण :** भूमि के लवणीकरण की प्रक्रिया भारत में बहुत पहले से घटित होती रही है। शुष्क और अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में यह घटना होती है। कुछ तटीय प्रदेशों में समुद्र के जल का भूमि में रिसाव अथवा अन्य कारणों से आने के कारण भी लवणीकरण की घटना घटित होती है। दूषित भूमिगत जल के सिंचाई में लगातार उपयोग से भूमि में खारापन आ जाता है। यह समस्या गंगा के मैदानी भाग, काली मिट्टी के क्षेत्र, राजस्थान का शुष्क क्षेत्र तथा तटीय गुजरात में गंभीर है।

(4) **पोषक पदार्थ में क्षतिः** भूमि अपरदन का मुख्य कारण पोषक तत्वों का क्षय है। अपरदन के द्वारा भारत में प्रतिवर्ष 53 लाख 70 हजार से लेकर 84 लाख टन पोषक तत्वों का क्षय होता है। इससे मिट्टी की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है। पहले कृषि में प्राकृतिक खाद का प्रयोग होता था। किंतु अब रासायनिक पदार्थों का प्रयोग होता है।

प्रभाव

भूमि अपकर्ष का सबसे बड़ा आर्थिक दुष्प्रभाव कृषि उत्पाद के रूप में परिलक्षित होता है। भारत जैसे प्रधान देश में जहां 70 प्रतिवर्ष आबादी कृषि पर निर्भर है, वहां भूमि अपकर्ष का भयानक समाजिक-आर्थिक दुष्प्रभाव पड़ सकता है। भूमि अपकर्ष के तात्कालिक प्रभाव के रूप में फसल में कमी, रासायनिक पदार्थों की अधिक आवश्यकता आय में कमी, जमीन की कीमत के द्वारा, जल संसाधन का क्षय, बाढ़ की आवृति एवं परिमाण में बढ़ोतरी, जल कुंडों में गाद का जमाव इत्यादि दृष्टिगोचर होते हैं। इससे जीवन-यापन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कम आय होने पर किसान खेती करना नहीं चाहते हैं। फलतः खेत ऊसर होने लगता है। इन सभी कारणों से भूमि पर कृषि के विकल्प के रूप में उद्योग-धंधा प्रारंभ किया जाता है, जो पर्यावरण को नुकसान पहुंचाता है।

कमी को दूर करने के उपाय

भूमि अपकर्ष की समस्या जटिल है। अतः इसके निदान हेतु सावधानीपूर्वक रणनीति बनाने की आवश्यकता है। समस्या के हल के लिए निम्नलिखित कदम उठाये जा सकते हैं:

1. भूमि उत्पादकता के उचित प्रारूप तैयार किये जाने चाहिए। इसमें दूर संवेदी तकनीकी के माध्यम से भू-वैज्ञानिक की मदद लेनी चाहिए।
2. अभियंता की देख-रेख में जल आपूर्ति, मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने तथा जल संरक्षण तकनीक अपनाना चाहिए।
3. कृषि क्षेत्र के नजदीक औद्योगिक गतिविधियों का नियमन कानून द्वारा किया जाना चाहिए। क्योंकि औद्योगिक गतिविधियों का असर पर्यावरण पर पड़ता है।

4. धारणीय एवं प्रभावी भूमि उपयोग प्रणाली अपनानी चाहिए।
5. जहां जल द्वारा अपरदन का संकट मंडरा रहा है, वहां कृषि वानिकी परिस्थितिकी का सृजन करना चाहिए।
6. एकीकृत जल क्षेत्र प्रबंधन तथा पोषक तत्व प्रबंधन प्रणाली अपनानी चाहिए।
7. यथा संभव प्राकृतिक जैव पदार्थों के प्रयोग से भूमि की स्वाभाविक उर्वरा शक्ति को बढ़ाया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

बढ़ती जनसंख्या के कारण न सिर्फ खाद्यान्न उत्पादन एवं मांग के बीच अंतर बढ़ता जा रहा है, अपितु भूमि संसाधन पर दबाव (भूमि-व्यक्ति अनुपात घट रहा है) बढ़ते जा रहा है। प्राकृतिक और मानवीय गतिविधियों के कारण भूमि अपकर्ष की घटना का सतत् निरीक्षण की आवश्यकता है। इस समस्या के निदान के लिए कोई जादू की छड़ी नहीं है। इसके लिए बहुपक्षीय प्रणाली अपनाकर निवेश करने की आवश्यकता है, ताकि कम खर्च में भूमि अपकर्ष को रोका जा सके।

मरुस्थलीकरण

मरुभूमिकरण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है: 'जलवायु परिवर्तन और अन्य कारकों के कारण शुष्क, अर्द्ध शुष्क तथा अर्द्ध आर्द्र क्षेत्रों में भूमि अपकर्ष की घटना को कहते हैं।' एशिया देशों में यह एक प्रमुख समस्या है।

भारत में शुष्क क्षेत्र के अंतर्गत शुष्क क्षेत्र, अर्द्ध शुष्क क्षेत्र, शुष्क अर्द्ध आर्द्र क्षेत्र आते हैं। यह विडम्बना है कि इन क्षेत्रों में जनसंख्या बढ़ती जा रही है, जिससे मांग बढ़ने के कारण संसाधन पर दबाव बढ़ रहा है। इन क्षेत्रों का औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। इनसे विषैले पदार्थ उत्सर्जित होकर जल, वायु तथा भूमि को प्रदूषित कर रहे हैं। फलस्वरूप अधिक भूमि अपकर्षित हो रही है और जलवायु की दृष्टि से दुर्बल, इन क्षेत्रों में उत्पादन क्षमता में भी कमी आ रही है।

कारण

भारत मरुभूमिकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए भौगोलिक संरचना तथा मानवीय गतिविधियों के कारण हो रहे दुष्प्रभाव को समझना पड़ेगा। दूर-संवेदी तथा फिल्म सूचनाओं की मदद से, केन्द्रीय सूखा क्षेत्र शोध संस्थान, जोधपुर, द्वारा इसके कारण और विस्तार को समझने के लिए व्यापक अध्ययन किया गया है। इसके कारण निम्न हैं:

1. जल द्वारा अपरदन : वर्षा के कारण सौराष्ट्र तथा कच्छ के ऊपरी भाग तथा राजस्थान की मरुभूमि के पूर्वी भाग, जहां वर्षा 350 मिली. से 500 मिली. औसत वार्षिक वर्षा होती है, में अपरदन होता है। इसके रुझान को परत के अपरदित होने तथा नाला निर्माण से अनुमान लगाया जा सकता है। जुताई तथा जलावन हेतु वनों की कटाई, अत्याधिक चरने तथा अन्य विध्वंशक गतिविधियों के कारण विगत दशकों में भूमि अपकर्ष की घटनाएं अधिक हुई हैं।
2. वायु द्वारा अपरदन/जमाव : थार में बालू के टीले भूमि अपरदन/जमाव के ही उदाहरण हैं। गौर से देखने पर पता चलता है कि थार के पूरब में बालू के टीले पश्चिम की अपेक्षा अधिक ठोस दिखायी देते हैं। पारंपरिक रूप से बैल द्वारा जुताई के स्थान पर ट्रैक्टर द्वारा गहरी जुताई होने से मरुभूमि के विशाल भाग बालू के उड़ने की घटनाएं बढ़ गयी हैं। जलावन तथा चारा के लिए वनों की कटाई तथा इस क्षेत्र में कृषि से मरुभूमिकरण की प्रक्रिया तेज हो गई है।
3. औद्योगिक कचरा : हाल के वर्षों में पश्चिमी भारत में औद्योगिक कचरा के कारण वायु तथा भूमि व्यापक रूप में प्रदूषित हुई है। सिंचाई कार्य में विषाक्त जल के प्रयोग से भूमि अपकर्ष की घटनाएं बढ़ी हैं।
4. खनन : पश्चिमी राजस्थान में 20 प्रकार के खनिज पदार्थों का खनन किया जाता है। 90 प्रतिशत से अधिक खान मालिकों ने खुला खदान का प्रयोग कर रखा है। शेष भूमिगत खनन करवाते हैं। खदान क्षेत्र का विस्तार हो रहा है।

खुले खनन से भूमि अपकर्षित होती है। खदान को खनन के बाद खुला छोड़ दिया जाता है। उसे भूमि को पुन: उपयोग लायक बनाने का प्रयास नहीं किया जाता है। खनन के कारण भूमि के अंदर जल का प्रवाह ठीक से नहीं हो पाता। जल के भूमि के अंदर रिसाव न होने के कारण, इसे पौधे खींच नहीं पाते हैं। इस प्रकार जल चक्र टूट जाता है। जल स्तर ऊपर ही रह जाता है। फलस्वरूप मिट्टी में लवणीयता विद्यमान रहती है।

5. वनों की कटाई: प्राकृतिक वनों की कटाई मरुभूमिकरण के लिए सबसे बड़ा कारण है। जमीन पर दबाव बढ़ने के वनों की कटाई तेजी से होने लगती है। गांव के इर्द-गिर्द की भूमि चारागाह के रूप में परिणत हो जाती है और इस अपकर्षित भूमि पर कम ध्यान दिया जाता है। कतिपय चारागाह को कृषि क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया गया है। सर्वेक्षण से पता चलता है कि 300 मिली. से औसत कम वर्षा वाले चारागाह का कुल भूमि के 7 प्रतिशत से 6 प्रतिशत घट कर 1 प्रतिशत भाग रह गया है। उपग्रह से प्राप्त चित्र तथा भू-आधारित सूचना के आधार पर पश्चिमी राजस्थान का 32 प्रतिशत भाग सामान्य मरुभूमिकरण तथा 40 प्रतिशत भाग गंभीर रूप से मरुभूमिकरण से प्रभावित है।
6. अन्य कारण : भूमि अपकर्ष के अन्य प्रमुख कारण-जल जमाव, लवणीयता-क्षारीयता हैं, जो दोमट मिट्टी को अधिक प्रभावित करता है। क्योंकि खारा जल को कृषि कार्य में प्रयोग करने से भूमि में लवणीयता आ जाती है।

मरुस्थलीकरण रोकने के उपाय

1. बालू के टीले का स्थायीकरण : राजस्थान के शुष्क क्षेत्र के 56 प्रतिशत भाग में किसी न किसी रूप में बालू के टीले हैं। जोधपुर स्थित केंद्रीय सूखा क्षेत्र संस्थान ने इन टीलों के स्थायीकरण के लिए निम्न उपाय किये हैं:

(i) जैव हस्तक्षेप के माध्यम से बालू के टीले की रक्षा।
(ii) टीले के नीचे समांतर तथा शतरंज के घर की पद्धति पर छोटे-छोटे पवन अवरोधक लगाने से।
(iii) इसके इर्द-गिर्द घास लगाने तथा नर्सरी से प्राप्त पौधे लगाने से।

2. छाया क्षेत्र वृक्षारोपण: खुले भूमि में बालू उड़ने से टीले बनते हैं। बालू उड़ने की गति गर्मी के दिनों में 70-80 किमी./घंटा तक होती है। कभी-कभी प्रति हैक्टेयर 5 टन मिट्टी नष्ट होती है। हवा की विपरीत दिशा में 3-5 धारी में वृक्ष लगाए जायें, जो अपरदन की घटनाएं कम हो सकती हैं।
3. बीज छिड़काव : बलुआ जमीन होने के कारण इसमें जल धारण करने की क्षमता बहुत कम होती है। यदि समय पर बीज न डाला जाये, तो पौध निकलना संभव नहीं हो सकेगा। पारंपरिक वृक्षारोपण यहां कारगर सिद्ध नहीं हो रहा है। अत: इस क्षेत्र में बीज का छिड़काव किया जाना चाहिए।
4. उद्यान पशुपालन : जलावन और चारा के लिए वन की अंधाधुंध कटाई से मरुभूमि निर्माण की प्रक्रिया तेज होती है। इसे नियोजित करने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। इससे तेज धूप और

हवा के द्वारा अपरदन की क्रिया पर अंकुश लगेगा और दीर्घकालीन उत्पादन क्षमता में वृद्धि होगी। इससे संसाधन का संरक्षण तथा आर्थिक स्थायीत्व मिलेगा।

5. न्यूनतम जुताई : बीज बोने, नमी संरक्षण तथा खर-पतवार नियंत्रण के लिए खेतों की जुताई अनिवार्य है। सूखे की स्थित में अत्यधिक जुताई करने से मिट्टी हवा के संपर्क में अधिक रहती है। अत: न्यूनतम जुताई से काम चलाना चाहिए।

6. धारीदार फसल : वर्ष के अधिकांश भाग में बहने वाली वायु की दिशा के लम्बवत धारीदार फसल लगाने से वायु द्वारा अपरदन को रोका जा सकता है। धारीदार फसल लगाने से वायु की गति को कम किया जा सकता है। नजदीक में धारी लगाने से मिट्टी के अपरदन को रोकना संभव हो सकेगा। कमजोर मिट्टी में धारी नजदीक में लगाना चाहिए। मिट्टी की प्रकृति के अनुरूप धारी की चौड़ाई होनी चाहिए। यह 6 मी. से लेकर 30 मी. तक हो सकती है।

7. सिंचाई कार्य में जल का विवेकपूर्ण उपयोग: सिंचाई के द्वारा वनस्पति के विकास में सहायता पहुंचाकर मरुभूमि विस्तार को रोका जा सकता है। बलुआ मिट्टी में फब्बारा पद्धति से सिंचाई करनी चाहिए। इससे जल का अपव्यय नहीं होता तथा उत्पदकता बढ़ती है।

धारणीय कृषि

भारत में बाह्य आर्थिक दबाव के कारण मिश्रित कृषि प्रणाली अपनायी गयी, किंतु छोटे और सीमांत किसान अभी भी नयी कृषि तकनीकी विरोध करते है। धारणीय कृषि के अंतर्गत सिर्फ उत्पादकता बढ़ाने और अधिकाधिक आय प्राप्त करने पर जोर नहीं दिया जाता, अपितु इसके साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण पर भी ध्यान दिया जाता है। इसमें उत्पादकता-आय और पर्यावरण, दोनों पहलू का समावेश है।

इसके तहत योजना निर्माण में संसाधन क्षमता तथा पर्यावरण समस्या को विचार में रखा जाता है। इसमें राष्ट्रीय उत्पादन लक्ष्य तथा स्थानीय आवश्यकताओं के बीच संतुलन कायम रखा जाता है। संसाधन के बेहतर उपयोग के लिए वैकल्पिक तकनीकी का विवेकपूर्ण प्रयोग किया जाता है।

कृषि में उत्सर्जी पदार्थों का उपयोग

वर्षों से गंदा पानी भूमि में बहा दिया जाता रहा है। इतिहास, इस बात का साक्षी है कि ईस्वी सन से पूर्व भी एथेन्स में गंदे जल से सिंचाई का कार्य किया जाता था। गंदे नालियों के जल से जर्मनी में 16वीं शताब्दी तक खेती की जाती थी तथा यह कार्य इंगलैंड में 18वीं शताब्दी तक होता था। ऐसी सिंचाई प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रथम बार 1870 के दशक में शुरु की गयी। विश्व के अन्य देशों में भी गंदे जल के कृषि कार्य में उपयोग का लम्बा इतिहास रहा है।

भारत में वर्तमान में ऐसी गतिविधि का मुख्य कारण कृषि कार्य हेतु स्वच्छ जल का अभाव है। उत्सर्जी पदार्थ नालियों से होकर नदियों में पहुंचते हैं। किसान जिन उत्सर्जी पदार्थों को सिंचाई कार्य में प्रयोग कर बैठते हैं, उनमें 2000-1000^{mg}èk$_1$ Bod रहता है।

कई कंपनियों के पास कृषि क्षेत्र भी हैं, उनमें ईख, गेहूं, सरसो, धान तथा चारा की फसलों में गंदे जल का उपयोग किया जाता है। कृषि क्षेत्र में प्रदूषित पदार्थ के उत्सर्जन रोकने तथा पर्यावरण की सुरक्षा हेतु गंदे जल को जल स्रोत में बहाने के बजाय भूमि में बहाने के प्रयास चल रहे हैं।

कारखाने के जल को कृषि कार्य में उपयोग कर लिया जाता है। फसल की कटाई के बाद कृषि कार्य में गंदे जल का उपयोग किया जाता है। मिट्टी सूखने के बाद फिर से फसल लगायी जाती है। कृषि कार्य में उपयोग से पूर्व, इस जल को दो-तीन बार साफ किया जाता है। इससे अधिक उत्पादन होता है।

इस क्रिया से न सिर्फ उत्पादन बढ़ता है। बल्कि गंदे जल के बहाव की समस्या का भी निदान हो जाता है। तथापि इसके दीर्घकालीन प्रभाव को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। इसका पर्यावरण, मिट्टी का गुणक्ता, उर्वरकता इत्यादि पर क्या दुष्प्रभाव पड़ेगा? यह गहरे विवेचन के बाद ही सिद्ध किया जा सकता है। मिट्टी की प्रकृति पर इसके असर को आर्द्रता धारण क्षमता, जल एवं पोषक पदार्थ धारण तथा त्याग क्षमता मिट्टी के रंग तथा बनावट पर प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

शीतोष्ण प्रदेश की मिट्टी में कार्बन की मात्रा कम होती है। अतएव मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ डालना चाहिए। इससे मिट्टी में अधिक BOD तथा COD रहने से इसका दुष्प्रभाव भी पड़ सकता है। मिट्टी को गंदे जल से सिंचाई करने के बाद, इसे 15 दिन तक छोड़ देना चाहिए। इसके बाद फसल बुआई से अपरदन इत्यादि की घटनाएं कम होती हैं।

इस प्रकार के जल का सिंचाई में प्रयोग करने से जड़ गहराई तक पहुंचती है। कठोर भूमि में जड़ गहराई तक नहीं पहुंचती है। इस प्रकार के सिंचाई से जड़ के गहराई तक पहुंचने का सुखद असर उत्पादकता पर पड़ता है। इस प्रकार की भूमि में आर्द्रता धारण की क्षमता बढ़ जाती है। जल गहराई तक पहुंचता है तथा बेहतर फसल होती है। इस प्रकार के जल के साथ नाइट्रोजन तथा अन्य पोषक तत्व पौधों की गहराई तक पहुंचता है।

उर्वरक का पर्यावरण पर असर

उर्वरक के पर्यावरण पर असर की समस्या सिर्फ भारत में ही नहीं, अपितु विश्व स्तर पर व्याप्त है। बढ़ते हुए जनसंख्या, औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के कारण भयंकर पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। भारत विश्व के दस प्रमुख औद्योगिक देशों में से एक है। रासायनिक उर्वरक उद्योग में अमरीका, सोवियत संघ (पूर्व सोवियत संघ के देश) तथा चीन के बाद भारत का चौथा स्थान है। राष्ट्रीय आय में उर्वरक क्षेत्र का बहुत बड़ा स्थान है। कच्चा माल तथा उपभोक्ता सामग्री का उपयोग रासायनिक उर्वरक के निर्माण में किया जाता है। इससे विषैले हानिकारक प्रदूषक पदार्थ, प्रदूषित द्रव तथा गैसें निकलती हैं। इन हानिकारक पदार्थों के उत्सर्जन के कारण पर्यावरणीय दृष्टि से उर्वरक की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाये जा रहे हैं।

भारत में अधिकतर उर्वरक उद्योग सरकारी नियंत्रण में हैं। जटिल प्रक्रियाओं के बावजूद प्रदूषण उत्सर्जन की दृष्टि से उर्वरक निर्माण प्रक्रिया को समझना आसान है। उर्वरक, निर्माण की प्रक्रिया के दौरान प्रदूषित पदार्थ उत्सर्जित होते हैं, जिसका दुष्प्रभाव मानव के निवास स्थान, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण पर पड़ता है। प्रदूषित पदार्थों का उर्वरक उद्योग के लिए कोई महत्व नहीं है। अत: इनको कम खर्च पर पर्यावरण में छोड़ दिया जाता है।

पर्यावरण के निम्नलिखित पक्ष उर्वरक उद्योग द्वारा प्रभावित होते हैं:

1. वायु पर्यावरण
2. जल पर्यावरण
3. जैव पर्यावरण

वायु पर्यावरण : नाइट्रोजन ऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड, धूल कण, अमोनिया (No_2, SO_2, spm, NH_3) के उर्वरक कारखानों से निकलने के कारण, इनका असर मानव के स्वास्थ्य तथा वनस्पति पर पड़ता है। कारखानों के इर्द-गिर्द मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण पर असर पड़ता है, क्योंकि वायु प्रदूषित हो जाती है। कारखाना के आस-पास व्यापक स्तर पर वृक्षारोपण करने से प्रदूषण का प्रभाव कम हो जाता है। इसके दुष्प्रभाव के सही आकलन के लिए विश्वसनीय ऑकड़े तथा विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

मिट्टी अपरदन और भूमि अपकर्ष (दस लाख हैक्टेयर में)	
1. कुल भौगोलिक क्षेत्रफल	328.1
2. जल एवं वायु अपरदन से प्रभावित क्षेत्र	141.3
3. जल जमाव वाला क्षेत्र	8.5
4. क्षारीय मिट्टी वाला क्षेत्र	3.6
5. अम्लीय मिट्टी वाला क्षेत्र	4.5
6. लवणीय मिट्टी वाला क्षेत्र (तटीय बलुआही क्षेत्र सहित)	5.5
7. तंगघाटी और नाली से प्रभावित क्षेत्र	4.0
8. स्थानांतरण कृषि से प्रभावित क्षेत्र	4.9

जल पर्यावरण : कारखानों के आस-पास के जल की गुणवत्ता पर असर पड़ता है। गंदे जल को शोधित करने के बावजूद भी नदी में बहाने से भी नदी का जल प्रदूषित होता है। जल के जैव तथा रासायनिक अवयव में परिवर्तन आ जाता है। घुले हुए ऑक्सीजन, पर्यावरण के ऑक्सीजन की घुलनशीलता तथा नाइट्रेट की मात्रा में परिवर्तन होता है। तथापि भूमिगत जल की संरचना में परिवर्तन नहीं होता है।

जैव पर्यावरण : यद्यपि वनस्पति पर इसका सीधा असर नहीं पड़ता है। किंतु कारखानों के निर्माण के दौरान वनस्पति की कटाई होती है। तदन्तर जनसंख्या का दबाव वनस्पति पर पड़ने से स्थानीय स्तर पर अप्रत्यक्ष असर पड़ता है। वनस्पति के अत्यधिक दोहन, जनसंख्या का दबाव, पर्यावरण शिक्षा का अभाव तथा वृक्षारोपण कार्यक्रम के अभाव का असर, उस क्षेत्र की वनस्पति पर पड़ता है। इन कारकों का भारतीय परिस्थिति पर गहरा प्रभाव है। इसके मुख्य कारण गरीबी तथा अशिक्षा हैं।

जैव उर्वरक तथा धारणीय कृषि

कृषि फसल में गुणात्मक सुधार तथा उत्पादकता में वृद्धि को आज धारणीय दृष्टिकोण से देखा जाता है। अब किसान गहन उत्पादकता आधारित कृषि के स्थान पर पर्यावरण अनुकूल कृषि पर अधिक ध्यान दे रहे हैं। इस दशा में जैव उर्वरक का स्वर्णिम भविष्य है। यह भूमि में जैव तथा पोषक तत्व की आपूर्ति का प्रमुख स्रोत है, जो कि कृषि के लिए आवश्यक है।

वर्तमान में हमारे देश में कृषि कार्य प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण को ध्यान में रखते हुए किया जा रहा है। प्राकृतिक संसाधन के संरक्षण से कृषि भी संरक्षित रहेगी। अब इन मुद्दों की अधिक चर्चा है कि किसान गहन उत्पादकता आधारित कृषि की अपेक्षा धारणीय कृषि पर जोर देते हैं।

इस संदर्भ में मिट्टी सबसे प्रमुख संसाधन है। पोषक तत्वों तथा जैव पदार्थों के क्षय के मद्देनजर मृदा प्रबंधन आवश्यक है। यह कार्य धीर-धीरे जोर पकड़ रहा है। प्रत्येक वर्ष औसत 54 लाख से 84 लाख टन पोषक तत्वों का अपरदन होता है। इससे खाद्यान उत्पादन पर असर पड़ता है। जितने पोषक तत्वों की क्षति होती है, उतने की आपूर्ति नहीं हो पाती है। इस संदर्भ में पौधे के लिए पोषक तत्वों तथा जैव तत्वों के महत्व को समझने की आवश्यकता है।

चूंकि आधुनिक कृषि गहन कृषि में भूमि फसल प्रणाली को काफी अधिक मात्रा में पोषक तत्व चाहिए। अध्ययन से स्पष्ट है कि उच्च धारणीय उत्पादकता के लिए अकेले न तो जैव उर्वरक सक्षम है न ही रासायनिक उर्वरक। भारत सरकार के नीति निर्माताओं, वैज्ञानिकों, कृषकों इत्यादि के द्वारा एकीकृत पोषक तत्व प्रबंधन कार्यक्रम अपनाया गया है, जिसके तहत गोबर, जैव उर्वरक तथा रासायनिक उर्वरक का एकीकृत प्रयोग किया जाता है। यह न सिर्फ उच्च उत्पादकता के लिए अपितु अधिकांश फसलों के लिए धारणीय उत्पादन उपयोगी सिद्ध हुआ है।

कम से कम विगत दो दशकों से आधुनिक कृषि में रासायनिक उर्वरक पर सब्सिडी देने से, इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। इसका दुष्प्रभाव पर्यावरण पर पड़ने के साथ-साथ दीर्घ कालीन धारणीय उत्पादकता पर पड़ता है। अतः पर्यावरण अनुकूल कृषि पद्धति अपनाना समय की मांग है। इसमें जैव पदार्थों के चक्रण के साथ-साथ पारंपरिक कृषि प्रणाली को अपनाते हुए प्राकृतिक उत्पादों के प्रयोग पर बल दिया जाता है।

अतएव, भारत में जैव उर्वरक उद्योग का स्वर्णिम भविष्य है। सूक्ष्म जैव तंत्र की खोज की जा रही है, जिससे मिट्टी की उर्वरकता कायम रखी जा सके।

भारत में मृदा अपरदन की समस्या

अपरदन का अर्थ मिट्टी को वायु तथा जल के द्वारा उसके मूल स्थान से हटाना है। जिस रफ्तार से आधुनिक विकास हुआ है, उससे नयी कृषि तकनीक के कारण मिट्टी का अपरदन हुआ है। फलस्वरुप विशाल भू-भाग अनुत्पादक हो गया है, जबकि उससे विस्तृत क्षेत्र को अपरदन से खतरा है।

मिट्टी अपरदन वैश्विक स्तर पर मानव की संपन्नता के लिए खतरा है। अपरदन के दो प्रमुख कारक हैं: वायु तथा जल। जल द्वारा अपरदन वर्षा और बाढ़ के रूप में होते हैं। अपरदन और परत टूटने के कारण मिट्टी अलग होकर प्रवाहित हो जाती है।

अपरदन कृषि भूमि, विनिर्माण स्थल, सड़क, असुरक्षित भूमि, खुला खदान तथा प्राकृतिक या भू-गर्भिक हलचल वाले स्थल में होता है। अपरदन के निम्नलिखित प्रकार हैं:

(i) **परत अपरदन :** मिट्टी की पतली और एक रूप परत का हटना।

(ii) **गड्ढा अपरदन :** छोटी-छोटी गड्ढे बन जाते हैं, जिन्हें सामान्य जुताई द्वारा पाटा नहीं जा सकता है।

(iii) **नाली अपरदन :** बड़ी-बड़ी नालियां

(iv) **नदी द्वारा अपरदन :** अपरदन नदी के प्रवाह द्वारा किया जाता है।

(v) **स्थल अपरदन :** अवतल ढलान की तराई में स्थलाकृति के खिसकने के कारण।

मिट्टी अपरदन का विस्तार

देश के अधिकांश भू-भाग में अपरदन की समस्या है। इससे अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव पड़ता है। देश के 32 करोड़ 90 लाख हैक्टेयर भूमि अपरदन से प्रभावित है। निम्नलिखित तालिका से भूमि अपकर्ष और मिट्टी के अपरदन का अनुमान लगाया जा सकता है:

यद्यपि मिट्टी के अपरदन की घटना देशव्यापी है। तथापि इसका सर्वाधिक असर पहाड़ी भागों में होता है। तेज वर्षा में वर्षा जल भूमि में समाहित होने के बदले अपने साथ ऊपरी परत की मिट्टी को बहाकर ले जाते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में ढलवां भूमि होने के कारण वर्षा ऋतु में अपरदन की गति तेज हो जाती है। मिट्टी की परत बहुत कमजोर हो जाती है और वहां से नालियां निकलकर बहने लगती हैं।

पहाड़ी भागों के लिए अपरदन उतना चिंता का विषय नहीं है, जितना मैदानी भागों के लिए। कोसी नदी द्वारा अपरदन के द्वारा व्यापक क्षेत्रफल प्रभावित होता है। यह नदी प्रत्येक वर्ष अपने साथ लाखों टन बालू और मलवा लाती है। जब नदियां पहाड़ी भाग से मैदानी भाग में प्रवेश करती हैं, तो प्रवाह धीमी हो जाती है और अपने साथ लायी हुई मिट्टी एवं अन्य

CHRONICLE IAS ACADEMY

पदार्थों को मैदानी भागों में छोड़ देती हैं। इससे नदी की पेटी भर जाती है तथा उनका प्रवाह अवरुद्ध होता है। फलस्वरूप बाढ़ आती है और नदी के प्रवाह की दिशा बदल जाती है, जिसके कारण ग्रामीण भागों भंयकर विनाश होता है।

परत का अपरदन तथा गहरी नालियों के निर्माण में मिट्टी के प्रकार का योगदान रहता है।। किंतु सभी परिस्थितियों में अपरदन के लिए मिट्टी ही जिम्मेदार नहीं है। छिद्र युक्त मिट्टी में अपरदन कम होता है। खास कर जल द्वारा। क्योंकि इस मिट्टी में जल अवशोषित हो जाता है। दूसरी ओर बलुआ मिट्टी में संयोजन क्षमता बहुत कम होती है और वह तेजी से प्रवाहित हो जाती है। तथापि यह सामग्री वजनदार है तो उसे अधिक दूरी तक प्रवाहित करना कठिन होता है।

वर्षा की मात्रा और गति भी अपरदन के लिए जिम्मेदार हैं। इसके लिए आंकड़े की आवश्यकता नहीं है। सामान्य व्यक्ति भी यह महसूस कर सकता है कि तेज रफ्तार की वर्षा में मिट्टी अपरदित हो जाती है, किंतु उतनी ही मात्रा में धीमी रफ्तार की वर्षा में मिट्टी अपरदित नहीं होती है।

भारत में सबसे सशक्त और आम कारण यह है कि वनों की कटाई तथा पशुओं द्वारा अत्यधिक चरने से मिट्टी अपरदित होती है। देश भर में जनसंख्या में वृद्धि हुई है। इसके कारण अधिकाधिक वनों का विनाश हुआ है। घास, हरी जड़ी-बूटियों तथा पेड़-पौधों को पशुओं द्वारा चरने से अत्यधिक विनाश हुआ है। उपलब्ध चारे के अनुरूप पशुओं की संख्या सीमित नहीं रहती। पशुओं द्वारा चरते रहने के बावजूद घास और पौधे उगते तथा बढ़ते रहे, इसके लिए आवश्यक है कि समय-समय पर धीमी गति से वर्षा होती रहे।

यदि वनस्पति संतुलित है, तो मिट्टी अपरदन से अधिक निर्माण की क्रिया होती है। पर्याप्त वन के होते हुए अपरदन पर्यावरणीय मानदंड की सीमा में ही होता है।

संरक्षण विधि

अपवाह नियंत्रण : अपवाह को कम करने के लिए ढाल को सीढ़ीनुमा बनया जाना चाहिए।

समोच्च कृषि : ढलवा भूमि में परिरेखा के साथ जुताई करने से मिट्टी का क्षय कम होता है।

फसल चक्र : फसल चक्र से मिट्टी अपरदन को रोका जा सकता है।

खाद का अधिक प्रयोग : खाद के प्रयोग से भारतीय किसान मिट्टी के पोषक तत्वों के क्षय को रोक सकता है। खाद, पशु और पादप दोनों का उत्सर्जी पदार्थ एवं अवशेष हो सकता है। इससे मृदा संरक्षण के एक पक्ष की पूर्ति होती है यह पक्ष है मिट्टी की उत्पादकता बनाए रखना।

मिट्टी को ढंके रहना : घास, वृक्ष से भी अधिक सशक्त साधन है मृदा संरक्षण का।

तटबंध का निर्माण : तटबंध के निर्माण से नदी के तटीय भाग में मिट्टी का अपरदन कम होता है।

आर्द्र भूमि

आर्द्र भूमि वह भू क्षेत्र है जा शुष्क और जलीय इलाके से लेकर कटिबंधीय मानसूनी इलाके मे फैला होता है और जहाँ उथले पानी कीसतह से भूमि ढकी रहती है। यह क्षेत्र बाढ़ नियंत्रण में प्रभावी है और वह तलहट भी कम करता है। ये क्षेत्र शीतकाल के लिये पक्षियों ओर जीव जंतुओं के शरण स्थल हैं। विभिन्न प्रकार की मछलियों और जन्तुओं के प्रजनन के लिये भी यह उत्तम क्षेत्र है। इनकें समुद्री तूफान और अंधड़ के प्रभाव को सहन करने की उच्च क्षमता होती है। यह समुद्री तटरेखा को स्थिर करती है और समुद्र द्वारा होने वाले कटाव से तटबंध की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त शैक्षणिक व वैज्ञानिक दृष्टि से भी आर्द्र भूमि बहुमूल्य है। इनमें हमें टिकाऊ लकड़ी, जलवान, जानवरों का पौष्टिक चारा, फल, वनस्पति और जड़ी बूटियाँ मिलती हैं।

आर्द्र भूमि की पहचान निम्न लिखित तीन तत्वों पर निर्भर करती है–

(i) जब कोई क्षेत्र स्थायी रूप से या समय-समय पर जलमग्न रहता है

रामसर सम्मेलन

जल क्षेत्र के संरक्षण एवं विवेकपूर्ण दोहन हेतु राष्ट्रीय कार्य योजना बनाने तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के लिए सन् 1971 में ईरान के रामसर में सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 133 देशों ने हस्ताक्षर किये। इसके तहत 10 करोड़ 30 लाख हैक्टेयर में फैले दुनिया के 1180 जल क्षेत्रों की पहचान की गयी।

प्रत्येक तीन वर्ष पर रामसर सम्मेलन के सदस्य एकत्र होकर संरक्षण की प्रगति की समीक्षा तथा अपने अनुभव एवं तकनीकी ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं। ये अगले तीन वर्ष के लिए योजना बनाते हैं। इन बैठकों को 'मीटिंग ऑफ द कंफ्रेश ऑफ कॉन्ट्रैक्टिंग पार्टिज' (COP) के नाम से जाना जाता है।

(ii) जब कोई क्षेत्र हाइड्रिक जल में पैदा होने वाली वनस्पतियों के बढ़ने में सहायक होता है।

(iii) जब किसी क्षेत्र में हाइड्रिक मिट्टी के लम्बे समय तक संकुचित रहने से ऊपरी परत निरपेक्ष हो जाती है।

इन मापदण्डों पर टामसर सम्मेलन में दलदली भूमि वाले क्षेत्र, जलभरण वाले इलाके, शुष्क प्रदेश, समुद्री तटबंधी क्षेत्र 6 मीटर से कम ज्वार वाले क्षेत्रों को आर्द्र भूमि के रूप में परिभाषित किया गया है। इसके अन्तर्गत कच्छ वनस्पतियाँ, प्रवाल, नदी-मुहाना, खाड़ियाँ, सोता, जलप्लावित क्षेत्र, झील इत्यदि आते हैं। आर्द्र भूमि के संरक्षण के लिये वन एवं पर्यावरण मंत्रालय द्वारा वर्ष 1987 से एक कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्द्र भूमि के प्राप्त संसाधनों का अनुमान, देश के लिये आर्द्र भूमि की महत्ता, अनुसंधान एवं विकास गतिविधियों को बढ़ावा देना और भारतीय आर्द्र भूमि तैयार करना है। वर्ष 2996 तक 24 राज्यों में 94 आर्द्र भूमि की पहचान की है। ■■■

CHRONICLE IAS ACADEMY

12 जल संसाधन

जल एक मूलभूत संसाधन है। जल की कमी 21वीं सदी में संसाधन संबंधी सबसे अहम् मुद्दा बन सकता है। सन् 1990 और 2010 के बीच जल का उपभोग कई गुणा बढ़ गया है। यह उपभोग दर जनसंख्या वृद्धि दर का लगभग दुगुना हो गया है। इसका मुख्य कारण कृषि, उद्योग और घरेलू मांग में वृद्धि है। विश्व में जल का भंडार विपुल है, किंतु इसका क्षेत्रश: वितरण असमान है। कुछ क्षेत्रों में जल का खर्च आपूर्ति से इतना अधिक है कि भूतल का जल समाप्त होते जा रहा है। अब इस जल भंडार को भरा रखना वर्षा जल से संभव नहीं रह गया है।

जल विश्व तंत्र का अभिन्न हिस्सा है, किंतु पिछले दिनों इसमें व्यापक परिवर्तन आया है। इसके लिए जनसंख्या में हो रही तेजी से वृद्धि, सभी क्षेत्रों में तकनीकी प्रगति, वैश्वीकरण की गति और प्रसार, मानव संसाधन में विकास तथा सरकारी नीतियां उत्तरदायी हैं। यह अनुमान लगाया जा रहा है कि वर्ष 2025 तक विश्व में परिस्थितियां आज से एकदम भिन्न होंगी। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा तकनीकी प्रगति के अनुरूप जल भंडार में भी व्यापक परिवर्तन होगा।

राष्ट्रीय जल नीति 2002 में उपलब्ध सतही और भूजल में उपयुक्त और टिकाऊ उपयोग के लिये समन्वित जल संसाधन विकास एंव प्रबंधन, सुविकसित सूचना प्रणाली तैयार करने, जल संरक्षण और माँग प्रबंधन, मात्रा एवं गुणवत्ता सहित पर्यावरणीय मसलों, परियोजना नियोजन मे लाभार्थियों एवं हितधारियों को शामिल रखने, उपयुक्त प्रशिक्षण एवं अनुसंधान सम्बन्धी विषयों पर जोर दिया गया है। नीति में उपभोगकर्ताओं के प्रति जवाबदेही और सेवा दक्षता सुधारने और नियमित प्रबंधन तंत्र विकसित करने व वित्तीय संसाधन जुटाने वाले नवीन उपाय लागू करने की दृष्टि से जहाँ कहीं सम्भव हो विभिन्न प्रयोगों के लिये जल संसाधनों में विकास और प्रबंधन को नियोजित करने हेतु निजी क्षेत्र की सहभागिता पर बल दिया गया है।

भारतीय परिदृश्य

जल कृषि कार्य में काम आने वाला सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है। भारत में कृषि के विकास में सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और इससे मानसून के प्रकोप से भी रक्षा होती है। मानसूनी वर्षा नियमित रूप से नहीं होती है। सिंचाई के मुख्य स्रोत नहर, तालाब और कूप हैं। सिंचाई के लिए तालाब की विशाल जल राशि का उपयोग किया जाता है। जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ तालाब की संख्या में भी बढोत्तरी हुई है। दक्षिण भारत में मुख्य रूप से तालाब से कृषि की जाती है, किंतु वे गर्मी के दिनों में सूख जाते हैं। फलस्वरूप लोग भूमि के अंदर के जल का उपयोग करते हैं।

भारत में विपुल जल राशि, सदानीरा नदियां एवं भूमि के अंदर जल की पर्याप्त उपलब्धता के बावजूद जल संकट बना हुआ है। भारत में प्रकृति अनुकूल होते हुए भी उपलब्ध जल राशि का सही इस्तेमाल नहीं हो पाता है। इसके बहुमुखी कारण हैं। सही जलनीति तथा दूरदर्शिता का अभाव इसके प्रमुख कारण हैं।

इतिहास के अवलोकन से पता चहता है कि दक्षिण भारत में कृष्णा और गोदावरी के जल को तथा उत्तर भारत में गंगा, यमुना, सिंधु एवं इनकी सहायक नदियों के जल को अलग दिशा में मोड़ने के लिए 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने बड़े नहरों का निर्माण करवाया। लगातार पड़ रहे अकालों को दूर करने के लिए सन् 1903 में गठित प्रथम भारतीय सिंचाई आयोग की संस्तुतियों के आधार पर कई बड़े बांधों का निर्माण किया गया। उसके बाद देश भर में व्यापक स्तर पर नदी घाटी परियोजना की शुरूआत हुई इन परियोजनाओं का मुख्य उद्देश्य देश को आत्मनिर्भर बनाना था।

जल के सही वितरण के लिए कई छोटे और मंझोले बांधों का निर्माण किया गया। सिंचाई के क्षेत्र में इन प्रयासों के कारण भारत खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से सुखद स्थिति प्राप्त कर सका।

हरित क्रांति भी उन्हीं क्षेत्रों में सफल हो सकी, जहां सिंचाई की निश्चित सुविधा विद्यमान थी। सिंचाई के कारण गरीबी और भूख पर काबू पाया जा सकता है।

सिंचाई के कारण कृषि में हुए सुधार के बावजूद विगत दो दशकों के दौरान सिंचाई सुविधा के सही प्रबंधन और जल के उचित वितरण पर ध्यान नहीं दिया गया है। जल संसाधनों के उचित दोहन को क्षति पहुंची है।

दोषपूर्ण कार्य करने, बांध और नहर के तल धंसने तथा जल निकास के सही प्रबंध न होने के कारण कई सिंचाई परियोजनाओं को क्षति पहुंची है। भूमिगत जल निकालना आसान तथा आर्थिक बचत का कार्य है। इस तर्क के कारण कि जमीन के अंदर सर्वत्र जल उपलब्ध है और इसे कम खर्च पर प्राप्त किया जा सकता है। इस कार्य पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया। कृषि कार्य हेतु बिजली में सब्सिडी देने से नलकूपों की संख्या में भारी वृद्धि हुई तथा पहले विद्यमान कूपों को और गहरा किया गया। रक्षा मूलक विचार, उत्पादन मूलक विचार में परिवर्तित हो गया और अतिरिक्त फसल के उत्पादन पर जोर दिया गया। फलत: भूमिगत जल स्रोत सूखता चला गया, जल प्राप्त होने से अधिक जल की क्षति होने लगी। इस प्रकार जल संकट गंभीर होता जा रहा है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में प्रगति हेतु कृषि के लिए जल–आपूर्ति के उद्देश्य से भूमि जल विकास प्रारंभ हुआ। सन् 1960 से और खासकर हरित क्रांति की शुरुआत से सिंचाई में भूमिगत जल का महत्व बढ़ गया। विभिन्न क्षेत्रों में, इससे खाद्यान्न संबंधी सुरक्षा प्राप्त हुई है। एक आर्थिक संसाधन के होने के नाते किसानों ने, इसका भरपूर उपयोग किया है। भूमिगत जल के अत्यधिक उपयोग से इसका स्रोत सूख जाता है और इससे जल की गुणवत्ता पर असर होता है। अतएव समस्या दोहरी है- एक तो स्रोत नष्ट होने का तथा दूसरा जल की गुणवत्ता पर असर पड़ने का, परंपरागत रूप से भूमिगत जल का दोहन स्थानीय एवं आंतरिक मुद्दा था, क्योंकि किसान अपनी जमीन से इसे निकालने थे, किंतु अब इस हेतु विद्युत तथा डीजल ऊर्जा का उपयोग होता है, अत: यह कार्य वाह्य और गैर-स्थानीय हो गया। संसाधनों पर अत्यंत दबाब तथा सिंचाई हेतु निशुल्क बिजली उपलब्ध कराने की सरकारी नीति के कारण व्यापक स्तर पर भूमिगत जल के दोहन से कूप सूख जाते हैं, तथा सिंचाई हेतु कूप खुदवाने का खर्च लोग नहीं वहन करना चाहते हैं।

कई जगहों पर औसतन वार्षिक वर्षा कम होने के कारण भूमि जल का यथेष्ट आपूर्ण न होने से और अति दोहन से समस्या गंभीर होती जा रही है। समस्या और भी विकट तब हो जाती है, जब अति दोहन के बावजूद जल का सदुपयोग नहीं हो पाता। फसल के लिए उपयुक्त जल की मात्रा से अधिक जल खेत में लगाना आम बात है। इससे जल के सदुपयोग के प्रति किसानों की उदासीनता का प्रमाण मिलता है।

वर्तमान में शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष जल की उपलब्धता 2,600 घनमीटर है। यदि जल आपूर्ति की गंभीर समस्या पर उचित ध्यान नहीं दिया गया, तो मात्रा आधी हो जायेगी। चूंकि नगर निगम द्वारा जल की उचित आपूर्ति न होने के कारण लोग भूमिगत जल का उपयोग करने लगते हैं। फलस्वरूप जल स्तर पिछले वर्षों में 5 से 10 मीटर नीचे चला गया है। भारत में नगर

CHRONICLE IAS ACADEMY

निगम पालिकाओं द्वारा आपूर्ति किये गये जल की मात्रा का 35-40 प्रतिशत की कीमत लोग अदा नहीं करते हैं। इससे जल चोरी ही नहीं, अपितु टूटी हुई नालियों से जल रिसाव जैसी लापरवाह हरकतें भी शामिल हैं।

जल की गुणवत्ता में गिरावट

जल की गुणवत्ता के बारे में निश्चितपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। चाहे वह भूमि का जल हो अथवा पृथ्वी तल का जल हो। जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत उद्योगों से उत्सर्जी पदार्थ, जल निकास की ठीक व्यवस्था का अभाव, कृषि कार्य में हुए रासायनिक पदार्थों के अपवाह तथा घर एवं समाज द्वारा स्वच्छता हेतु सही प्रयास न होना है। कृषि कार्य में प्रयुक्त खाद और कीटनाशक पृथ्वी की सतह के जल और भूमिगत जल प्रदूशित करने वाले प्रमुख कारक हैं। कृषि कार्य में नाइट्रेट तथा फॉस्फेट के अधिक उपयोग से विगत दशकों में भूमिगत जल अधिक प्रदूषित हुआ है। नालों तथा नदियों में नाइट्रोजन की अधिकता से आट्रोफिकेशन होता है, जो पारिस्थतिकी के लिए घातक है। कृषि कार्य के कारण भूमि जल में नाइट्रेट की अधिक मात्रा रहने से जल आपूर्ति पर असर पड़ता है, क्योंकि पेयजल का एक महत्वपूर्ण अंश भूमिगत जल से प्राप्त होता है। क्लोरीन युक्त हाइड्रोकार्बन, कीटनाशक, सूक्ष्म प्रदूषक पदार्थ, नाइट्रेट की अधिक मात्रा, जैसे विषैले पदार्थों से जल प्रदूषित होता है।

भूमिगत जल के अधिक दोहन और जमाव से पानी में खारापन बढ़ गया है। भूमिगत जल प्रदूषण तथा इसकी गुणवत्ता में कमी की समस्या से न सिर्फ विकासशील देश जूझ रहे हैं, अपितु विकसित देश भी। इससे पर्यावरण संकट उत्पन्न होने का खतरा है। इस कारण जन जागृति, इसमें सरकारी तंत्र की दिलचस्पी और वैज्ञानिक समुदाय की रूचि बढ़ गई है कि किस प्रकार भूमिगत जल का संरक्षण तथा इसकी गुणवत्ता में सुधार किया जाये।

गंदा जल का टूटी हुई नालियों से रिसाव होने के कारण भूमिगत जल को सबसे अधिक खतरा है। परंपरागत नालियों में छत से गिरने वाले पानी, गली के पानी एवं घर और औद्योगिक संयंत्रों से निकलने वाले गंदे पानी का जमा होने की समस्या और भी गंभीर हो गयी है। मूसलाधार वर्षा की स्थिति में जल की कुल मात्रा को नालियों के माध्यम से नदी तक ले जाना संभव नहीं रहता है। फलतः शेष जल सीधे नदी में चला जाता है। नालियों के ऊपर से जल बहने के कारण रासायनिक और सूक्ष्म प्रदूषक पदार्थ सीधे सतह के जल में मिल जाते हैं। तटीय जल में खारापन और अन्यत्र प्रदूषक विद्यमान रहने के कारण जल का उपयोग दुष्कर हो गया है।

जल गुणवत्ता मूल्याँकन प्राधिकरण

राष्ट्रीय जल संसाधनों के प्रदूषण सम्बन्धी समस्याओं के मद्देनजर पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने 22 जून 2001 को जारी एक अधिसूचना के जरिये 29 मई 2001 से जल गुणवत्ता मूल्याँकन प्राधिकरण का गठन किया। जल गुणवत्ता मूल्याँकन प्राधिकरण का मुख्यालय जल संसाधन मंत्रालय में है। यह योजना केन्द्र और राज्य एजेंसियों के बीच समन्वय सुधारने, जल संसाधनों की गुणवत्ता ससहसुधारने के लिये शुरू की गई। शुरू की जाने वाली स्कीमों की समीक्षा/मूल्याँकन, समस्या क्षेत्रों के पहचान के लिये जल गुणवत्ता सम्बन्धी आंकड़ों के विवरण अर्थो की समीक्षा तथा स्थायी आधार पर गुणवत्ता सुधारने के लिये और कार्य योजनायों तैयार करने, निगरानी/अनुभवण के लिये उपयुक्त स्थानों की पहचान और समय-समय पर जल गुणवत्ता सम्बन्धी अन्य विविध मुद्दों को देखने के लिये राज्यों में जल गुणवत्ता समीक्षा समितियाँ गठित की गई है।

समस्या का समाधान

सन् 2025 तक विश्व की जनसंख्या 8 अरब होने की संभावना है। कृषि और अन्य कार्यों में और अधिक जल की आवश्यकता होगी। जल की मात्रा और गुणवत्ता को आवश्यकता के अनुरूप बनाये रखने के लिए अधिक निवेश की आवश्यकता होगी।

समस्या को सुलझाने के लिए दो प्रकार से देखना होगा। जल की बढ़ रही मांग को आर्थिक रूप से अनुकूल संसाधनों से पूरा किया जाये। सतह जल की मात्रा में बढोत्तरी तथा भूमि जल को धारणीय दोहन के साथ-साथ जल के गैर-परंपरागत स्रोतों के विकास से जल की बढ़ती हुई मांग को पूरा किया जा सकता है।

राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर पर जल की कमी को दूर करने के लिए नयी जल विकास एवं प्रबंधन रणनीति की आवश्यकता है। जल की कमी से कृषि उत्पाद पर असर पड़ेगा, पर्यावरण को क्षति पहुंचेगी और जल से संबंधित स्वास्थ्य समस्याओं में वृद्धि होगी। जलनीति तथा मांग प्रबंधन में व्यापक सुधार से वर्तमान जल स्रोतों का संरक्षण किया जा सकता है।

चूंकि वर्तमान नीतियों और विकास आवश्यकताओं के कारण स्रोत सूख जाते हैं। अतः समस्या के निदान हेतु इस दिशा में उचित कदम उठाने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय सरकारी अभिकरणों की जिम्मेवारी है कि वे जल स्रोतों के अध्ययन, नियोजन और प्रबंधन, जल स्रोत नीतियों के निर्माण तथा राष्ट्रीय स्तर पर विकास हेतु रणनीति बनाये। सरकार को संस्थाओं के प्रबंधन तथा नियमन हेतु उचित प्रयास करना चाहिए ताकि जल संसाधन और पर्यावरण का संरक्षण किया जाये।

सिर्फ आधारभूत सुविधा जुटाने से काम नहीं चलेगा। संस्थागत मजबूती प्रदान करने से संरक्षण हेतु सूचना प्राप्त हो सकेगी। संरक्षण उपाय हेतु सूचनाओं का अभाव एक अहम् समस्या है।

किसानों को जल संरक्षण तथा वर्ष में खर्च की जाने वाली जल की मात्रा के विषय में गैर-सरकारी संगठन सूचना प्रदान करने तथा प्रशिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। वे भूमिगत जल के अविवेकपूर्ण दोहन से होने वाले नुकसानों के प्रति भी किसानों को सचेष्ट कर सकते हैं। समस्या को उसके जड़ से समझने तथा परंपरागत नियमों को ध्यान में रखते हुए स्थानीय लोगों के विश्वास जीतने की रणनीति अपनाकर गैर-सरकारी समस्या का सक्षमतापूर्वक निदान कर सकते हैं।

इस बात पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए कि वर्ष भर में जल स्रोतों में जितने की वृद्धि होती है, उससे अधिक खर्च न किया जाये। वाह्य कारणों से भूमिगत जल के दोहन से जल स्तर में कमी को भी ध्यान में रखा जाये।

वर्षा जल का संरक्षण सर्वोपरि है। इससे जल स्रोतों की भरपाई में मदद मिलेगी। जल संरक्षण के परंपरागत तरीकों तथा नदी घाटी में बांध निर्माण, जैसे आधुनिक तरीकों के एकीकृत समन्वय से जल समस्या के समाधान की आवश्यकता है। सभी क्षेत्रों में सतह जल और भूमि के समन्वित उपयोग को कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

जल परिवहन, उपयोग तथा सिंचाई कार्य हेतु सस्ती तकनीकी की खोज की जानी चाहिए। वाष्पीकरण से होने वाली क्षति को रोकने के लिए नाली का उपयोग किया जाना चाहिए। उपयोग को कारगर बनाने के लिए सिंचाई का उपर्युक्त कार्यक्रम तथा खेतों के तल को चौरस बनाना चाहिए। जल के दुरुपयोग को रोकने वाले उपकरणों पर सब्सिडी दी जानी चाहिए। चूंकि वितरण के दौरान जल की काफी क्षति होती है अतएव बढ़ती जनसंख्या की भविष्य में मांग को पूरा करने के लिए जल वितरण प्रणाली को दुरुस्त करना आवश्यक है।

यह आवश्यक है कि लाभ से अधिक पर्यावरण और समाज को नुकसान न हो। अतएव सतह तथा भूमिगत जल की गुणवत्ता बनाये रखने और उसमें सुधार हेतु आवश्यक कदम उठाने की आवश्यकता है।

सिंचाई का कार्य परंपरागत रूप से समाज में लोग मिलजुल कर करते थे। इससे लाभ प्राप्त करने वाले लोग एक सर्वमान्य नियम बनाते थे। किंतु समय के साथ जल स्रोतों से लाभ उठाने वाले लोग इसके प्रबंधन व रख–रखाव का ठीक से ध्यान नहीं दे पाते थे। आज परंपरागत तरीकों को

CHRONICLE IAS ACADEMY

फिर से अपनाने का समय आ गया है, ताकि तालाब जैसे जल स्रोतों को पुनर्जीवित किया जा सके। अंततोगत्वा उचित जल नीति बनाने हेतु सरकार की राजनीति, इच्छाशक्ति तथा जल प्रयोक्ताओं के दुर्दम्य चेतना के बीच समन्वय से जल के धारणीय उपयोग संभव हैं।

मानवीय मुद्दे और जल संसाधन

जल मनुष्य के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए एक आवश्यक तत्व है। सभ्यता के प्रारंभ में भी मनुष्य के विकास में जल संसाधन प्रबंधन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विश्व की महान सभ्यताओं का उद्‌भव नदी तट अथवा समुद्र के किनारे हुआ। प्रारंभ में लोग समझते थे कि जल की विपुल राशि है, इस कारण इसके विवेकपूर्ण उपयोग पर कम ध्यान जाता था। जनसंख्या वृद्धि, कृषि में प्रगति, शहरीकरण तथा औद्योगिकीकरण के कारण विगत शताब्दी में जल का महत्व बढ़ गया।

जल प्रदूषण तथा अत्यधिक दोहन

अशोधित गंदे जल का नदी, झील तथा जलकुंड में प्रवाहित होने से सतही तथा भूमिगत जल के प्रदूषित होने की समस्या उत्पन्न होती है। भारत में सतही जल का 70 प्रतिशत भाग प्रदूषित है।

जल के अत्यधिक दोहन के कारण जलकुंड के असंतुलित जल स्तर में कमी, जलकुंड मे उचित दबाव में कमी तथा जल प्रवाह की गति एवं दिशा में परिवर्तन हुए हैं, जिससे उस क्षेत्र के जल चक्र के असंतुलन के साथ-साथ पर्यावरण पर कई नकारात्मक प्रभाव परिलक्षित हुए हैं। भूमिगत जल के स्तर में गिरावट से पौधों की जड़ में जल कम पहुंचने के कारण वृक्षारोपण पर असर पड़ेगा। वृक्षारोपण में कमी के कारण मरुभूमि का विस्तार होगा।

अनुसंधान और विकास

अनुसंधान पर वैज्ञानिक को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ जल विज्ञान कार्यक्रम में सन् 1965 से दुनिया के विभिन्न देशों ने भाग लिया है। कई देशों में स्वच्छ पेय जल आपूर्ति करने की दिशा में काफी प्रगति हुई। एक अनुमान से पता चलता है कि सिर्फ 79 प्रतिशत शहरी 41 प्रतिशत ग्रामीण लोगों को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध है और 62 प्रतिशत शहरी तथा 18 प्रतिशत ग्रामीण लोगों को स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध है। एक अध्ययन से पता चलता है कि स्वच्छ जल और मूलभूत स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध होने से अतिसार में 50 प्रतिशत, हैजा में 90 प्रतिशत और गियना कृमि संक्रमण में 100 प्रतिशत की कमी हो जायेगी।

जल संरक्षण

लोग जल आपूर्ति के लिए वर्षा की कामना करते रहते हैं। वे इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिए पूजा और नृत्य करते हैं। समुद्र को जल राशि के रूप में मान्यता मिली है। किंतु अकसर अधिक जल की अपेक्षा सुव्यवस्थित जल आपूर्ति व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जिन देशों में जल की विपुल राशि सहज विद्यमान है। वहां भी जल की समस्याएं हैं। जल सहज ही उपलब्ध रहता है, किंतु लोग गैर-जिम्मेदाराना हरकत से उसे वर्वाद करते हैं। वे नालियों और झीलों को कूड़ा-कर्कट से भर देते हैं। इस प्रकार जल स्रोतों को दूषित कर देते हैं।

आज शहरों में जल-प्रदूषण के सबसे प्रमुख स्रोत औद्योगिक कचरे और गंदी नालियां हैं। गंदे पदार्थों को प्रवाहित होने के लिए सिर्फ 10 प्रतिशत नालियां दुरुस्त अवस्था में हैं। जहां नालियों की सुविधा है, वहां भी वे बदहाल हैं, क्योंकि उनके आकार उपयोगिता अनुकूल नहीं होते और उनका सही देख-भाल नहीं किया जाता है।

औद्योगिक कचरे के जमाव से जल प्रदूषण की समस्या कुछ खास क्षेत्रों में विद्यमान है। औद्योगिक क्षेत्र के कुल प्रदूषण में रासायनिक उद्योगों की हिस्सेदारी 40-45 प्रतिशत है। यदि जैव पदार्थों से होने वाले प्रदूषण पर विचार किया जाये तो 40 प्रतिशत प्रदूषण खाद्यान्न उद्योग से फैलता है। कृषि आधारित उद्योग, तेल शोधक कारखाने, पैट्रोकेमिकल, उर्वरक तथा रासायनिक उद्योगों में भारी मात्रा में जल की आवश्यकता होती है। उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु में समस्या गंभीर है।

जल सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है, विकासशील देश, इसका अपव्यय करने की स्थिति में नहीं है। इसका पुनर्उपयोग संभव है, यदि मानव के विभिन्न उपयोगों हेतु, इसे नियंत्रित किया जाये। जल मानव सभ्यता का आधार रहा है। वर्तमान में जल आपूर्ति का प्रबंधन करने से भविष्य की संतति को लाभ पहुंचेगा।

जल एक प्रमुख प्राकृतिक संसाधन, मनुष्य की भौतिक आवश्यकता तथा राष्ट्रीय संपत्ति है। जल संसाधनों के नियोजन और विकास को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। देश में हुई 40 करोड़ हैक्टेयर मीटर वर्षा में भूमि पर सिर्फ 17 करोड़ 80 लाख हैक्टेयर मीटर वर्षा सुरक्षित रह पाती है। भौगोलिक और अन्य असुविधाओं के कारण, इसमें से 50% का उपयोग कर पाना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त करीब 4 करोड़ 20 लाख टन भूमिगत जल का भंडार है। जल की उपलब्धता काल और क्षेत्र की दृष्टि से असमान है। वर्षा साल में 3-4 माह तक होती है। जहां पश्चिमी राजस्थान में 10 सेमी. वर्षा होती है, वहीं मेघालय के चेरापूंजी में 1000 सेमी.। वर्षा राज्य की सीमाओं में बंधकर नहीं है। वर्षा जल, नदी जल, तालाब, झील और भूमिगत जल एक ही अखंड अविभाजनीय जल स्रोत के अंग हैं। जल वृहत्तर पारिस्थतिकी का हिस्सा है।

बाढ़ और सूखा देश के व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करता है। देश का एक तिहाई भाग सूखा ग्रस्त है। प्रतिवर्ष करीब 90 लाख हैक्टेयर क्षेत्र बाढ़ की चपेट में रहता है। राष्ट्रीय बाढ़ आयोग के अनुसार करीब 4 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र संभावित बाढ़ प्रभावित है। बाढ़ तथा सूखा दोनों से निपटने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर दृष्टिकोण के बीच समन्वय होना चाहिए।

यद्यपि एक उद्देशीय तथा बहुउद्देशीय सिंचाई परियोजनाओं की योजना और कार्यान्वयन राज्य स्तर पर होता है, तथापि पर्यावरण संरक्षण, प्रभावित लोगों तथा पशुओं के पुनर्वास, जल जमाव के कारण लोगों के स्वास्थ्य पर असर, बांध की सुरक्षा एवं कृषि भूमि के अपरदन जैसी कई समस्याएं इनसे जुड़ी रहती हैं। जल वितरण के मामले में समतामूलक और सामाजिक न्याय की जटिल समस्या भी है। देश के भूमिगत संसाधन के विकास और दोहन में संसाधन संरक्षण के प्रति विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का भी सवाल खड़ा होता है।

विकास प्रक्रिया तथा आर्थिक गतिविधियों के प्रसार से घरेलू, औद्योगिक, कृषि, विद्युत ऊर्जा, नौकायन तथा मनोरंजन कार्यों में जल की मांग बढ़ते जा रही है। किंतु जल का सबसे अधिक उपयोग कृषि कार्यों में होता है। यदि बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न और वस्त्र आवश्यकताओं की आपूर्ति करनी है, तो अधिक विकास की आवश्कता है।

भारत का समस्त भू-भाग प्रतिवर्ष लगभग 400 बिलियन क्यूबिक मीटर (बी.सी.एम.) वर्षा प्राप्त करता है, जिसका लगभग 75 प्रतिशत मानसून के तीन महीनों में ही प्राप्त हो जाता है। अधिकांश जल के तेजी से बह जाने, भूमिगत हो जाने एवं त्वरित वाष्पीकरण (उच्च तापमान के कारण) के कारण अनुमानित जल संसाधन 1900 बी.बी.एम. ही प्राप्त होता है। इसका दो-तिहाई भाग, गंगा, ब्रह्मपुत्र, यमुना, मेघना, थाले द्वारा आपूरित किया जाता है, जो देश के लगभग एक-तिहाई भौगोलिक क्षेत्रफल में विस्तृत है। समन्वित जल प्रबंधन न होने के कारण अधिकांश जल बहकर समुद्र में चला जाता है। जिससे होने वाली मृदा अपरदन द्वारा प्रतिवर्ष अरबों रुपयों की आर्थिक क्षति होती है। इसके विपरीत प्रायद्वीपीय नदियां वर्षापूरित हैं। इनमें वर्षाकाल में तो प्रचुर जल रहता है लेकिन वर्षा रहित दिनों में ये लगभग सूख जाती

हैं, जिस कारण सिंचाई एवं पेयजल का संकट गहरा जाता है। पश्चिमी–भारत एवं मध्यभारत की नदियां भी कम वर्षापूरित ही हैं। देश में निरंतर आने वाली बाढ़ एवं सूखा इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि हम अपने जल–संसाधनों का समुचित प्रबंध करने में असफल रहे हैं।

जल के सदुपयोग की आवश्कता

खाद्यान्न का उत्पादन कई गुना बढ़ गया है। मनुष्य और पशु के पेय जल की आवश्यकताओं को पूरा करना है। इस दशक के अंत तक शहरी और ग्रामीण जनसंख्या की पेय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ शहरी क्षेत्रों के 80 प्रतिशत तथा ग्रामीण क्षेत्रों के 25 प्रतिशत स्वास्थ्य आवश्यकताओं की आपूर्ति की जानी चाहिए। शहरों में घरेलू और औद्योगिक स्तर पर जल की आवश्यकताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। किंतु आर्थिक गतिविधियों के प्रसार से उर्वरक और उच्च उत्पादकता श्रेणी के बीजों हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में भी जल की मांग बढ़ने की संभावना है। जल विद्युत, ताप विद्युत तथा औद्योगिक कार्यों में भी जल की मांग बढ़ने की संभावना है। फलस्वरूप जल की तो वर्तमान में कमी है ही, भविष्य में यह कमी और भी बढ़ने की संभावना है। अतः जल के सदुपयोग तथा इस हेतु जन–जागृति की आवश्यकता है।

जल संपदा का अतिरिक्त महत्व है। वर्तमान कार्य नीति में सुधार के साथ, नयी वैज्ञानिक तकनीकी तथा प्रदूषण दूर करने की तकनीकी के समन्वय से जल को पुनर्उपयोग हेतु बनाया जा सकता है। विज्ञान और तकनीकी के साथ–साथ जल संसाधन के विकास में प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

विकास योजना में जल एक महत्वपूर्ण विचारणीय तत्व है। इस संसाधन का विकास, संरक्षण उपयोग और प्रबंधन राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। अतएव राष्ट्रीय जल नीति की अत्यंत आवश्यकता है। जल का अभाव है। यह एक बहुमूल्य राष्ट्रीय प्राकृतिक संसाधन है। अतः इस हेतु संबंधित राज्यों की आवश्यकताअें को ध्यान रखते हुए एकीकृत पर्यावरण, अनुकूल योजना, विकास और संरक्षण की आवश्यकता है।

परियोजनाएं

जल संसाधन विकास परियोजनाओं को यथा संभव बहुउद्देशीय परियोजनाओं के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। पेय जल की आपूर्ति इनका मुख्य धेय होना चाहिए। परियोजनाओं से सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, जल विद्युत उत्पादन, नौकायन, मत्स्य पालन ओर मनोरंजन संबंधी आवश्कताओं की पूर्ति होनी चाहिए।

परियोजना की योजना बनाते समय इसके निर्माणकाल में इसके असर के अध्ययन के साथ बाद में जीवन, आवास, पेशा और आर्थिक गतिविधियों पर इसके संभावित असर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

परियोजना की योजना बनाते समय तथा इसे कार्यान्वित करने के समय पर्यावरण और पारिस्थितिकी विन्दुओं को ध्यान में रखना परम आवश्यक है। यदि पर्यावरण पर कोई संभावित खतरा हो, तो उसे यथा संभव कम करने तथा उचित उपायों के द्वारा दूर किया जाना चाहिए।

अपवाह क्षेत्र परिशोधन और प्रबंधन पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी को ध्यान में रखते हुए योजना के निर्माण और कार्यान्वयन के समय एकीकृत तथा बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

पर्वतीय भागों हेतु परियोजना बनाते समय उदग्र ढ़ाल, तीव्र अपवाह और मिट्टी के अपरदन, जैसी भौगोलिक बाधाओं को ध्यान में रखते हुए पेय आपूर्ति, जल विद्युत विकास तथा उचित सिंचाई सुविधा प्रदान करने के संबंध में विचार किया जाना चाहिए। इन क्षेत्रों में परियोजनाओं के आर्थिक मूल्यांकन करते समय, इन पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है।

भूमिगत जल विकास

भूमिगत जल की उपलब्धता, गुणवत्ता और आर्थिक रूप से उपयोगिता पर समय-समय पर वैज्ञानिक दृष्टि से आकलन करना चाहिए। भूमिगत जल का दोहन, इस प्रकार चाहिए कि उस स्रोत में वृद्धि से अधिक मात्रा में जल का दोहन नहीं होना चाहिए तथा इसे करते समय सामाजिक समानता को भी ध्यान में रखना चाहिए। भूमिगत जल से स्रोत को सम्पन्न बनाने के लिये उपाय किया जाना चाहिए, ताकि अधिक से अधिक भूमि जल की आपूर्ति की जा सके।

परियोजना के आरंभ से लेकर सतह जल और भूमि जल के समन्वित दोहन तथा उपयोग पर विचार किया जाना चाहिए तथा इसे परियोजना के अभिन्न अंग के रूप में मानना चाहिए। तटीय क्षेत्रों में भूमिगत जल के अत्यधिक दोहन को रोकना चाहिए, ताकि समुद्री खारे जल का रिसाव मीठे जल के स्रोत में न हो सके।

सिंचाई

सिंचाई के साधन की उपलब्धता से उत्पादन को अधिकतम करने के लिए अधिक से अधिक लोगों और खेतों का होना चाहिए। जल और भूमि के उपयोग के लिए एकीकृत नीति होनी चाहिए। सिंचाई परियोजना के अंतर्गत जल आबंटन में सामाजिक न्याय और समानता का ध्यान रखा जाना चाहिए। पास और दूर के खेतों तथा छोटे और बड़े फार्मों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जल का आबंटन किया जाना चाहिए। ऐसा करते समय मात्रा की अधिकतम सीमा को ध्यान में रखना चाहिए। सिंचाई में जल आबंटन और मूल्य वसूली में किसानों की सहभागिता होनी चाहिए। जल के सदुपयोग और प्रबंधन हेतु किसानों को प्रशिक्षित करने के लिए, स्वैच्छिक संस्थाओं का सहारा लिया जाना चाहिए।

जल की गुणवत्ता

सतह एवं भूमिगत जल की गुणवत्ता का सतत निरीक्षण किया जाना चाहिए। जल की गुणवत्ता सुधारने के लिए चरणवद्ध कार्यक्रम अपनाना चाहिए। कृषि, औद्योगिक तथा शहरी विकास सहित आर्थिक विकास एवं गतिविधियों की योजना बनाते समय जल की कमी को ध्यान में रखना चाहिए। देश को विभिन्न जल क्षेत्रों में बांट देना चाहिए और आर्थिक गतिविधियों का संचालन तथा नियंत्रण क्षेत्रों के आधार पर ही होना चाहिए।

जल के विभिन्न कार्यों में इसका सदुपयोग तथा इस चेतना का विकास किया जाना चाहिए कि जल का अभाव है। संरक्षण चेतना का विकास शिक्षा, नियंत्रण और प्रोत्साहन के माध्यम से किया जाना चाहिए।

बाढ़ नियंत्रण एवं प्रबंधन हेतु प्रत्येक बाढ़ प्रभावित घाटी में एक मास्टर प्लान होना चाहिए। व्यापक भूमि संरक्षण, अपवाह क्षेत्र का रख–रखाव, वन संरक्षण, वन क्षेत्र में विस्तार और नियंत्रक बांध के द्वारा बाढ़ नियंत्रण हेतु जल क्षेत्र के प्रबंधन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

तटीय क्षेत्रों में समुद्र के द्वारा मिट्टी के अपघटन तथा अन्य क्षेत्रों में नदियों द्वारा मिट्टी के अपरदन को रोकने के लिए अनुकूल आर्थिक उपाय किये जाने चाहिए। राज्य तथा संघ शासित क्षेत्रों को तटीय क्षेत्रों में भूमि के मनमानी कब्जे को रोकने तथा इन क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों को बढ़ाने और नियंत्रित करने की दिशा में सकारात्मक एवं व्यापक स्तर पर कदम उठाना चाहिए।

■■■